वेङ्कट-माधवीया

ऋग्वेदानुक्रमणी

हिन्दी-व्याख्या-सहिता



वेङ्कट-माधवीया
ऋग्वेदानुक्रमणी

हिन्दी-व्याख्या-सहिता



व्याख्याकारः—
विजयपाल विद्यावारिधि

प्रकाशक :—
युधिष्ठिर मीमांसक
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

प्राप्ति-स्थान :—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

प्रथम संस्करण ४००+६००
संवत् २०३६, सन् १९७९
उत्तम संस्करण मूल्य ३०—००

मुद्रक :—
सुरेन्द्र कुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस,
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

प्रकाशकीय

वेङ्कट माधव कृत प्रस्तुत ऋग्वेदानुक्रमणी अपने विषय का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अवलोकन से वेदार्थ-जिज्ञासुओं को ऐसे अनेक विषयों में महत्वपूर्ण निर्देश प्राप्त होते हैं, जिन पर ध्यान देने से वेदार्थ में सूक्ष्मता का बोध होता है। विशेष कर स्वरानुक्रमणी वेदार्थ की सूक्ष्मता तक पहुंचाने में अत्यन्त उपयोगी है। मेरे परिचित जिन दो चार विद्वानों को उदात्तादि स्वरों के अर्थगत वैशिष्टय का ज्ञान है, उन्हें यह सूक्ष्म ज्ञान इसी ग्रन्थ से हुआ है। अन्यथा हम लोगों को स्वरविषयक इतना सूक्ष्मज्ञान होना असम्भव था, यह कहना सर्वथा सत्य है।

माधव ने अपने ग्रन्थ में यत्र तत्र वेदविषयक जिन मान्यताओं की स्थापना की है, उन सब के साथ में पूर्णतया हम नहीं हूं। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति किसी के द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं के साथ पूर्णतया कभी सहमत हो भी नहीं सकता है। पुनरपि इस क्वाचित्क असहमतिमात्र से ग्रन्थ का महत्त्व कुछ भी न्यून नहीं होता है।

इस ग्रन्थ को मूलरूप में सर्वप्रथम डा० कुञ्जन् राजा ने सन् १९३२ (=वि० सं० १९८९) में मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित किया था। जिन हस्तलेखों के आधार पर यह ग्रन्थ छपा था, उन में बहुत्र पाठ अशुद्ध एवं त्रुटित थे। डा० कुञ्जन् राजा ने बड़े प्रयत्न से इस का सम्पादन किया। इस पर अंग्रेजी में टिप्पणियां दीं। इसी स्थान-स्थान पर त्रुटित ग्रन्थ को आधार बनाकर पं० जयदेव मीमांसातीर्थ ने इस की हिन्दी-व्याख्या लिखी, जो सं० १९९८ में स्वाध्याय-मण्डल से प्रकाशित हुई। यह संस्करण चिरकाल से अनुपलब्ध है। तत्पश्चात् पं० विश्वबन्धु ने ऋग्वेद के अनेक पूर्व अमुद्रित भाष्यों के साथ अनेक हस्तलेखों के साहाय्य से माधव कृत 'ऋगर्थदीपिका' का प्रकाशन विश्वेश्वरानन्द शोध-संस्थान, होशियारपुर से किया। इस से ऋगर्थदीपिका के अन्तर्गत ऋगनुक्रमणी का प्रायः शुद्ध पाठ उपलब्ध हुआ। पूर्व संस्करण में त्रुटित पाठों की प्रायः पूर्ति हो गई।

ऋग्वेदानुक्रमणी के शुद्ध पाठ के मुद्रण हो जाने पर, और पं० जयदेव कृत हिन्दी-व्याख्या के अनुपलब्ध होने से मेरी इस ग्रन्थ की हिन्दी-व्याख्या प्रकाशित करने की चिरकाल सेइच्छा थी। परन्तु विविध कार्यों में व्यासक्त रहने के कारण मैं स्वयं इस कार्य को करने में अब तक असमर्थ रहा। ऐसी अवस्था में ग्रन्थ की उपयोगिता को ध्यान में रखकर इस की हिन्दी-व्याख्या लिखने के लिये रामलाल कपूर ट्रस्ट के अन्तर्गत चलनेवाले पाणिनि विद्यालय के आचार्य पं० विजयपाल



विद्यावारिधि को प्रेरित किया। उन्होंने बड़े परिश्रम से यह कार्य सम्पन्न किया। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये पूरा हिन्दी जगत् उनका आभारी रहेगा, विशेष कर वेदार्थ जिज्ञासु-समुदाय।

मुद्रणविषयक न्यूनता—इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को जिस सुन्दर रूप में मैं छपवाना चाहता था, न छपवा सका। इस का प्रधान कारण उदाहरण रूप में मध्य-मध्य में आये मन्त्रों के लिये सस्वर टाइप की उचित व्यवस्था न हो सकनाहै। इसके लिये पहले प्रयाग की'राजाराम टाइप फौण्ड्री' से ६० किलो सस्वर टाइप खरीदा। परन्तु वह इतना कमजोर निकला कि उसके स्वरचिह्न और नीचे की मात्राएं एक वार (१००० प्रति) मुद्रण में भी समर्थ न हो सकीं। थोड़ी सी दाब पाकर टूट जाती थीं। इस के पीछे बम्बई की 'जावजी दादाजी टाइप फौण्ड्री' को ६० किलो सस्वर टाइप का आर्डर दिया। कई मास के पश्चात् फौण्ड्री ने कुछ टाइप भेजा, और कुछ अभी तक भी नहीं भेजा। ऐसी अवस्था में इस ग्रन्थ का मुद्रण होना अत्यन्त कठिन था,परन्तु हमारे प्रेस के कार्यकर्त्ता तुलसीराम जी ने किसी प्रकार सादे टाइप में ही स्वरचिह्न लगाकर ग्रन्थ को पूर्ण किया। इनके इस सहयोग के विना हमें इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये लगभग एक वर्ष की प्रतीक्षा करनी पड़ती। अस्तु, किसी प्रकार यह ग्रन्थ छप गया है, यही मेरे लिये सन्तोष का विषय हैं।

धन्यवाद—इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्री चौधरी प्रतापसिंह जी ने 'श्री चौधरी नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ न्यास' (करनाल)' द्वारा १००० एक सहस्र रुपये की सहायता की। इसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ

कागज और छपाई की जो मंहगाई ३-४ वर्ष से दिन दूनी रात चौगनी बढ़ती जाती है, उसको ध्यान में रखकर प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल्य प्रायः अल्प ही रखा गया है, क्योंकि इस में जो कागज लगा है,वह आज से २वर्ष पूर्व ही खरीदा जा चुका था। इस समय कागज का भाव ९-१० रुपया प्रति किलो तक पहुंच गया है। इस पर भी अपेक्षित कागज बाजार में मिलता नहीं है। यदि मिलता भी है,तो दूकानदार बिल न्यून भाव का बनाकर शेष रुपया ऊपर से (चोर बाजारी के रूप में) प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। यदि कागज की यही दुरवस्था रही, तो प्रकाशन का काम या तो सर्वथा बन्द हो जायेगा, अथवा फिर हल्के वा अखबारी कागज (न्यूज प्रिण्ट) पर छापने के लिये बाधित होना पड़ेगा।

आशा है, इस ग्रन्थ के प्रकाशन से वेद-विषय में शोध वा मनन करनेवाले विद्वानों एवं छात्रों को विशेष लाभ होगा॥

—युधिष्ठिर मीमांसक

—:०:—

आमुख

भारतीय वाङ्मय में वेद को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। उसे धर्म का मूल एवं सम्पूर्ण विद्याओं का आदि स्रोत कहा गया है। हजारों वर्षों से वह भारतीय जनजीवन को अनुप्राणित करता रहा है। आरम्भिक युग में प्रतिभासम्पन्न जनों को वेदार्थबोध में किसी कठिनाई का अनुभव नहीं होता था। काल-प्रवाह के साथ लोगों में साक्षात् अर्थबोध के सामर्थ्य का अभाव हो गया। परन्तु उस युग में भी ऐसे कारुणिक महामानव विद्यमान थे, जिन के उपदेश से जनसामान्य वेदार्थ ग्रहण कर सकता था। अन्ततः वह युग भी आया, जब मात्र उपदेश पर्याप्त न रह गया। अतः तत्त्वदर्शी मनीषियों ने ऐसे उपायों का अन्वेषण आरम्भ किया, जिन के अभ्यास से वेदार्थ सुतराम् बुद्धिगम्य हो सके। उन्हीं उपायों में से क्रूर काल के ग्रास से अवशिष्ट स्वल्प सामग्री आज शाखाओं, पदपाठों, ब्राह्मणों, अनुक्रमणियों, प्रातिशाख्यों एवं वेदाङ्गों के रूप में उपलब्ध हो रही है। आर्य जाति का यह सौभाग्य रहा है कि अन्धकारपूर्ण युगों में भी उस में ऐसे प्रतिभाशाली विद्वान् जन्म लेते रहे हैं, जिन्हों ने वेदध्वज को सदा ऊंचा उठाये रखा है। वेद का न केवल मूल रूप ही सुरक्षित रखा गया, अपितु उस के अर्थ को सुरक्षित रखने के लिये कभी यास्क सामने आया, तो कभी शौनक। आचार्यों की यह परम्परा स्कन्द, नारायण, उद्गीथ, वेङ्कट माधव, आनन्दतीर्थ, सायण, उवट आदि से होती हुई आधुनिक युग में दयानन्द तक पहुंची है। इन मनीषी आचार्यों ने संक्षिप्त या विस्तृत अनुक्रमणियों, टिप्पणियों एवं भाष्यों की रचना करके सांस्कृतिक प्रसार में महान् योगदान किया है। वैदिक वाङ्मय के मध्यकालीन गगन में देदीप्यमान नक्षत्र है—प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणेता वेङ्कट माधव।

ग्रन्थकार : वेङ्कट माधव

ऋग्वेद के भाष्यकार वेङ्कट माधव ने अपने भाष्य के अध्यायों के अन्त में अपना संक्षिप्त परिचय दिया है। तदनुसार माधव के पितामह का नाम भी माधव था (दक्षिण भारत में ऐसी परम्परा है। उस के पिता का नाम वेङ्कटार्य, माता का नाम सुन्दरी और गोत्र-नाम कौशिक था। उस का नाना भवगोल वासिष्ठ गोत्रीय था। उस के अनुज का नाम सङ्कर्षण और पुत्रों का नाम वेङ्कट एवं गोविन्द था। वेङ्कट माधव दक्षिणापथ में चोल देश का निवासी था। उस का जन्म कावेरी नदी के दक्षिण तट पर स्थित गोमत् नामक ग्राम में हुआ था। कुन्जनराज ने सम्भावना प्रकट की है कि गोमत् ग्राम वर्त्तमान त्रिचनापल्ली जनपद में स्थित 'तिरुवदुथुराई' ग्राम है, जहां के मन्दिर में गोमतीश्वर देव है। वेङ्कट माधव ने अपने समानकालिक राजा का नाम 'एकवीर' (जगतामेकवीरः) बताया है। साम्बशिव शास्त्री ने वेङ्कट माधव ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात में

लिखा है कि पारम्परिक जनश्रुति के अनुसार वेङ्कट माधव रामानुजाचार्य का शिष्य था और उस के मन्तव्यों का प्रचारक था।

वेङ्कट माधव के काल के विषय में इतिहासज्ञ विद्वानों में मतभेद है। यहां भगवद्दत्त द्वारा अपने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' (द्वितीय भाग, वेदों के भाष्यकार) नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत विवरण के आधार पर संक्षिप्त विवेचन उपस्थित किया जा रहा है—

१. सायणीय साक्ष्य—सायण (वि० सं० १३७२-१४४४) ने ऋ०१०।८६।१ के भाष्य में लिखा है—माधवभट्टास्तु त्रि हि सोतोरित्येषर्गिन्द्राण्या वाक्यमिति मन्यन्ते। तथा च तद्वचनम्—इन्द्राण्यै इन्द्राणी वदतीति। अर्थात्—'माधव भट्ट तो यह मानते हैं कि वि हि-सोतोः (ऋ० १०.८६.१) ऋग् इन्द्राणी का वचन है। उन का वचन इस प्रकार है—इन्द्राणी के लिये इन्द्राणी कहती है।' इस वचन से स्पष्ट है कि वेङ्कट माधव सायण से पूर्ववर्ती है। साम्बशिव शास्त्री, कुञ्जन्राज, लक्ष्मणस्वरूप एवं भगवद्दत्त—ये सभी विद्वान् इस बिन्दु पर एकमत हैं।

२. देवराजीय साक्ष्य—देवराज यज्वा (वि० सं० १३७०) ने निघण्टुभाष्य के उपोद्घात में लिखा है—श्रीवेङ्कटाचार्यतनयस्य माधवस्य भाष्यकृतौ नामानुक्रमण्याः…पर्यालोचनात्—…स्कन्दस्वामि-भवस्वामि-गुहदेव-श्रीनिवास-माधवदेव-उवट-भट्टभास्करमिश्र-भरतस्वाम्यादिविरचितानि वेदभाष्याणि निरीक्ष्य क्रियते। अर्थात्—'श्री वेङ्कटाचार्य के पुत्र माधव की भाष्यकृति में नामानुक्रमणी के पर्यालोचन से,·· स्कन्दस्वामी, भवस्वामी, गुहदेव, श्रीनिवास, माधवदेव, उवट, भट्टभास्करमिश्र, भरतस्वामी आदि के द्वारा रचे गये वेदभाष्यों, को देख कर पाठसंशोधन किया है।' इस सन्दर्भ से सिद्ध होता है कि वेङ्कट माधव देवराज से पूर्ववर्ती है। भगवद्दत्त तथा लक्ष्मणस्वरूप के मतानुसार देवराज सायण से पूर्ववर्ती है। परन्तु कुञ्जन्राज देवराज को सायण से उत्तरवर्ती मानता है।

कुञ्जन्राज ने देवराज को सायण से उत्तरकालिक सिद्ध करने के लिये तर्क उपस्थित किया है कि सायण ने कहीं भी देवराज को उद्धृत नहीं किया, जब कि देवराज ने निघण्टुभाष्य (१।१४.१८) में सायण को उद्धृत किया है—मांश्चत्वः।…महीमे अस्य…(ऋ०९।९७।५४) इत्यत्र माधवस्य प्रथमभाष्यम्—मही महती, इमे, अस्य सोमस्य · अथ प्रत्यक्षकृतः। अर्थात्—'महीमे अस्य' इस ऋक् पर माधव का प्रथम भाष्य है—मही महती…इत्यादि'। यहां माधवभाष्य के रूप में उद्धृत पाठ प्रायः सायणभाष्य के सदृश है। इस के उत्तर में भगवद्दत्त का कथन है कि कुञ्जन्राज ने यह पाठ सत्यव्रत के मुद्रित संस्करण से उद्धृत किया है, जो केवल दो त्रुटित हस्तलेखों पर आधृत है। एक अत्यन्त प्राचीन हस्तलेख में जो पाठ उपलब्ध होता है, वह सायणीय पाठ से भिन्न है और वेङ्कट माधवीय ऋगर्थदीपिका के पाठ से आश्चर्यजनक रीति से सादृश्य रखता है (भगवद्दत्त ने दोनों पाठों को अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है)। परन्तु कुञ्जन्राज का कथन है कि उस ने निघण्टुभाष्य के जो हस्तलेख देखे हैं, उन में वही पाठ मिलता है, जो उसने उद्धृत किया है (ऋग्वेदानुक्रमणी—आमुख पृ० १८, १९)। कुञ्जन्राज देवराज के साक्ष्य को इसलिये भी सन्दिग्ध मानता है, क्योंकि वह उद्धरणों के विषय में बहुत सावधान नहीं

रहता। उदाहरणार्थ, उस ने महेश्वर एवं उद्गीथ की कृतियों को स्कन्द स्वामी के नाम से उद्धृत किया है। इस प्रकार कुञ्जन्राज का निष्कर्ष है—देवराज ने माधव के नाम से तीन व्यक्तियों को उद्धृत किया है—सायण माधव, वेङ्कट माधव, तथा अनुक्रमणीकार माधव (इसके विषय में आगे चर्चा की जायेगी)।

३. केशवीय साक्ष्य—केशवस्वामी (वि० सं० १३०० से पूर्व) ने नानार्थार्णवसंक्षेप (भाग १, पृष्ठ ८) में लिखा है—

> द्वयोस्त्वश्वे तथा ह्याह स्कन्दस्वाम्यृक्षु भूरिशः।
> माधवाचार्यसूरिश्च को अद्येत्यृचि भाषते ॥

अर्थात्—"दोनों लिङ्गों में 'गौ' शब्द अश्व के अर्थ में है। स्कन्दस्वामी ने ऋचाओं के भाष्य में अनेक बार ऐसा कहा है। विद्वान् माधवाचार्य ने भी को अद्य (१।८४।१६) ऋक् के भाष्य में यही अर्थ किया है"। वेङ्कट माधव ने उक्त ऋक् के भाष्य में 'गौ' का अर्थ अश्व किया है, अतः वह सं० १३०० से पूर्वकालिक है। कुञ्जनराज इस साक्ष्य को भी निर्णायक नहीं मानता, क्योंकि सायण माधव, वेङ्कट माधव, एवं अनुक्रमणीकार माधव—तीनों माधवों ने प्रकृत ऋक् के भाष्य में 'गौ' का अर्थ अश्व किया है (ऋग्वेदानुक्रमणी, आमुख पृ० २४)।

४. वेदाचार्य-साक्ष्य—वेदाचार्य (वि० सं० १३००से पूर्व) ने सुदर्शनमीमांसा में लिखा है—माधवीयनामानुक्रमण्याम्—चक्रश्चाक्रः पविर्नेमिः पृथक् चक्रस्य वाचकाः (पृ०१२)। माधवीयाख्यातानुक्रमण्याम्—विवक्ति सिषक्ति द्विषक्ति (पृ० २२)। ये सन्दर्भ वेङ्कट माधव की अनुक्रमणियों से उद्धृत किये गये हैं। कुञ्जनराज के मत से इन अनुक्रमणियों का कर्त्ता अन्य माधव है।

(५.) अन्तः साक्ष्य—वेङ्कट माधव ने ऋगर्थदीपिका के अष्टम अष्टक के तृतीय अध्याय की समाप्ति पर कहा है—

> एकोनषष्टमध्यायं व्याकरोदिति माधवः।
> जगतामेकवीरस्य विषये निवसन् सुखम् ॥

अर्थात्—'महाराज एकवीर के राज्य में सुख से निवास करते हुए माधव ने उनसठवें अध्याय की व्याख्या की'। इसी प्रकार साठवें अध्याय के अन्त में माधव ने अपने को चोल देश निवासी बताया है। चोल राजाओं की वंशावलियों के अनुसार कई राजाओं का नाम 'वीर' था। उन का काल सन् १०६२—१२५५ ई० है। अतः वेङ्कट माधव यदि अन्तिम राजा का समकालिक भी हो, तो तेरहवीं शताब्दी में हुआ होगा। और यदि वह किसी पूर्व वीर राजा का समकालिक हो, तो उस का काल इस से पूर्व मानना होगा।

इस प्रकार भगवद्दत्त के अनुसार वेङ्कट माधव का काल ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी

निश्चित होता है। साम्बशिव शास्त्री ने १०५०-११५० ई० और लक्ष्मणस्वरूप ने दसवीं शताब्दी को वेङ्कट माधव का काल माना है। कुञ्जन्राज ने ऋग्वेदानुक्रमणी के आमुख (पृ० २८) में मत व्यक्त किया है कि चोल राजा परान्तक प्रथम (९०७ – ९५२ ई०) के काल को वेङ्कट माधव का सुरक्षित काल माना जा सकता है।

वेङ्कटमाधव और अनुक्रमणीकार माधव

वेङ्कट माधव ने ऋगर्थदीपिका नामक संक्षिप्त वेदभाष्य की रचना की थी। लक्ष्मण स्वरूप ने इस भाष्य का आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित कराया था। अब उस का पुनः संस्करण (स्कन्दादि भाष्यों के साथ) होशियारपुर से प्रकाशित हो गया है। ऋग्वेद के प्रथम अष्टक का एक अन्य भाष्य भी उपलब्ध होता है, जिस को सम्पादित करके कुञ्जन्राज ने मद्रास से प्रकाशित कराया था (इस संस्करण में तुलनार्थ ऋगर्थदीपिका भी नीचे मुद्रित की गई थी)। इस भाष्य का कर्त्ता भी 'माधव' है और वह भी 'गोमत्' निवासी है। इस के अतिरिक्त कुञ्जन्राज को माधवकृत दो अनुक्रमणिकाएं (उपोद्घात, आख्यातानुक्रमणी, नामानुक्रमणी) भी प्राप्त हुई थीं, जिन को उसने माधवभट्ट की ऋग्वेदानुक्रमणी के अन्त में चतुर्थ परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित कराया था। माधव ने उपोद्घात में स्वरचित बारह अनुक्रमणियों का उल्लेख किया है—आख्यातानुक्रमणी, नामानुक्रमणी, निपातानुक्रमणी, गूढार्थपदानुक्रमणी, विभक्त्यर्थानुक्रमणी, स्वरानुक्रमणी, समयानुक्रमणी, आर्षानुक्रमणी, छन्दोनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, इतिहासानुक्रमणी, मन्त्रार्थानुक्रमणी। इन में बारहवीं मन्त्रार्थानुक्रमणी वस्तुतः ऋग्वेद का भाष्य है, यह तथ्य उपोद्घात की निम्न कारिकाओं और कुंञ्जन्राज सम्पादित उपर्युक्त ऋग्वेदभाष्य के प्रारम्भिक वाक्य से स्पष्ट हो जाता है। कारिकाएं हैं—

एताभिरेकादशभिर्यास्वर्थो नावभासते।
द्वादश्यनुक्रमणिका तासामर्थं वदेदिति॥
अङ्गैःकिञ्चैकादशभिरर्था ये प्रतिपादिताः।
व्यक्ता भवन्ति ते सर्वे मन्त्रार्थानां प्रदर्शनात्॥

अर्थात्—'इन ग्यारह अनुक्रमणियों से जिन (ऋचाओं) में अर्थ अवभासित नहीं होता, उन के अर्थ को बारहवीं अनुक्रमणी बताती है। ग्यारह अङ्गों से जो अर्थ प्रतिपादित हैं, वे सब मन्त्रार्थों के प्रदर्शन से व्यक्त हो जाते हैं।' इसी प्रकार माधवीय भाष्य का प्रारम्भिक वाक्य है—ओं नमो भगवते वासुदेवाय। सारभूता सुसंग्रहा द्वादश्यनुक्रमणिका क्रियते संहिता समाम् पदक्रमस्वरः···। अर्थात्—'सारभूत सुसंग्रह बारहवीं अनुक्रमणी की जाती है···।' इस भाष्य में उक्त अनुक्रमणियां अनेक स्थलों में उद्धृत हैं। कुञ्जन्राज इन अनुक्रमणियों तथा भाष्य को वेङ्कट माधव से भिन्न किसी माधव की रचना मानता है, जो स्कन्दस्वामी से भी प्राचीन हो सकता है।

देवराजकृत निघण्टुभाष्य के पूर्व उद्धृत सन्दर्भ के अनुसार देवराज उक्त अनुक्रमणियों को वेङ्कट माधव की कृति कहता है। उसने निघण्टुभाष्य में ९५ स्थलों पर 'माधव' एवं 'माधवीय-भाष्य' नाम से जो उदधरण दिये हैं, उन में से २१ स्थलों के सन्दर्भ तथाकथित अनुक्रमणीकार माधव के केवल प्रथम अष्टक (मद्रास मुद्रित) में उपलब्ध होते हैं, अनेक सन्दर्भ ऋगर्थदीपिका एवं उपर्युक्त अनुक्रमणियों में भी समानरूप से उपलब्ध होते हैं। इस से सिद्ध होता है कि वह इन तीनों को समानरूप से वेङ्कट माधव की कृति ही समझता है। इस के अतिरिक्त, उस ने 'माधवस्य प्रथमभाष्यम्' (पूर्व उद्धृत सन्दर्भ) वचन में 'प्रथम' शब्द का प्रयोग करके स्पष्ट संकेत किया है कि वेङ्कट माधव ने द्वितीय भाष्य भी रचा था। इसी के आधार पर भगवद्दत्त का कथन है कि वेङ्कट माधव ने पहले ऋगर्थदीपिका नामक 'लघु भाष्य की रचना की, तत्पश्चात् अनुक्रमणियों और अन्त में 'बृहद् भाष्य (जिस को कुञ्जन्राज अनुक्रमणीकार माधव कृत कहता है) का भी प्रणयन किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ : ऋग्वेदानुक्रमणी

वेङ्कट माधव ने अपने 'ऋगर्थदीपिका' नामक भाष्य में प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में मन्त्र-भाष्य से पूर्व कुछ कारिकाएं दी हैं। इन कारिकाओं का सम्बन्ध प्रकृत विषय से न होकर सामान्यतः सम्पूर्ण वेदभाष्य से है। माधव ने वेदभाष्य सम्बन्धी महत्वपूर्ण तत्वों को ऋग्वेद के अष्टकों के अनुसार आठ मुख्य प्रतिपाद्य विषयों (स्वर, आख्यात, निपात, शब्दावृत्ति, ऋषि, छन्द, देवता, मन्त्रार्थ) का निर्धारण कर के, पुनः प्रत्येक विषय को भी अष्टकस्थ अध्यायों के अनुसार आठ-आठ उपविषयों में विभक्त किया। इस प्रकार माधव ने चौंसठ विषयों पर कारिकाओं के माध्यम से सूक्ष्म आलोचन कर के एक-एक विषय की कारिकाओं को एक-एक अध्याय के आदि में विन्यस्त किया है। यद्यपि ऋग्वेदभाष्य की भूमिका के रूप में रचा गया यह पृथक् ग्रन्थ प्रतीत होता है, तथापि प्रत्येक अध्याय की आद्य कारिका (प्रायः अन्त्य कारिका भी) से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ये कारिकाएं ऋगर्थदीपिका के अङ्ग ही हैं, पृथक् ग्रन्थ नहीं। कुञ्जन्राज ने इन कारिकाओं को संगृहीत कर के पृथक् ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। संग्रहकार को ऋगर्थदीपिका का ऐसा एक हस्तलेख उपलब्ध हुआ था, जिस में कारिकाएं नहीं संगृहीत की गई थीं। परन्तु कुञ्जन्राज का स्पष्ट मत है कि इस से इन कारिकाओं के पृथक् ग्रन्थ होने की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि अध्यायों की प्रथम एवं अन्तिम कारिका इस कल्पना में बाधक हैं।

ग्रन्थ का नाम

कुञ्जन्राज ने इस कारिका-संग्रह को 'ऋग्वेदानुक्रमणी' (माधवभट्टकृत) नाम दे दिया। वैदिक वाङ्मय में अनुक्रमणी नाम से जिन संग्रहों या ग्रन्थों का बोध होता है, उन को दृष्टि में रखते हुए इस कारिका-संग्रह का उपर्युक्त नाम भ्रामक प्रतीत होता है। स्वयं संग्रहकार ने इस

तथ्य को स्वीकार किया है। परन्तु एक दृष्टि से, गौणी वृत्ति से ही सही, यह नाम सर्वथा अनुपयुक्त नहीं है। वेङ्कट माधव ने अपने ऋग्वेदभाष्य (बृहद्भाष्य) को ही बारहवीं अनुक्रमणी कहा है। वेङ्कट माधव द्वारा ही रचित लघुभाष्य की अङ्गभूत इन कारिकाओं को भी यदि अनुक्रमणी कहा जा जाता है, तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। दूसरे दीर्घकाल से विद्वज्जन इसी नाम से इन कारिकाओं को उद्धृत करते रहे हैं, अतः सम्प्रति नाम परिवर्त्तन अनावश्यक है।

ग्रन्थ का महत्त्व

वेङ्कट माधव ने वेदभाष्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों का समावेश इस ग्रन्थ में विवेचन के लिये किया है। स्वयं वेङ्कट माधव ने इन विषयों का गम्भीर अनुशीलन किया था, यह तथ्य इस ग्रन्थ में स्मृत आचार्यों एवं उन की कृतियों के नामों से सुतराम् प्रकट हो जाता है। इस ग्रन्थ में स्मृत आचार्य हैं—पाणिनि, कात्यायन (वार्त्तिककार), पतञ्जलि (महाभाष्यकार), यास्क (निरुक्तकार), शाकल्य, शौनक, कात्यायन (सर्वानुक्रमणीकार), पतञ्जलि (निदानसूत्रकार), पिङ्गल, यास्क (छन्दःप्रवक्ता, तैत्तिरीयसर्वानुक्रमणीकार), बौधायन, आपस्तम्ब, आश्वलायन, जैमिनि, स्कन्दस्वामी, नारायण, उद्गीथ, कौत्स, सुश्रुत। इस ग्रन्थ में उद्धृत कृतियां हैं—निघण्टु, निरुक्त, अष्टाध्यायी, वाजसनेयक (शतपथब्राह्मण), तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, कौशीतकि ब्राह्मण, काठक ब्राह्मण ऐतरेयब्राह्मण, पैप्पलाद ब्राह्मण, (भाल्लवक, मैत्रायणीय तथा चरक इन ब्राह्मणों का नाममात्र श्रवण), बृहद्देवता, प्रातिशाख्य, सर्वानुक्रमणी (शौनक), षडङ्ग, गोपथब्राह्मण, बृहदारण्यक, महोपनिषद्, गीता, पुराण, इतिहास (महाभारत रामायण), मनुस्मृति, पञ्चरात्र, पाशुपत, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद और प्राचीन वेदभाष्य।

स्वरानुक्रमणी—वेङ्कट माधव ने स्वर के महत्व को यथार्थरूप से समझा था। अतः उस ने सब से पहले स्वरानुक्रमणी में स्वरविषयक सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है। उसकी धारणा है—

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति ॥ (१।८।१२)

(जैसे अन्धकार में दीप की सहायता से चलनेवाला व्यक्ति ठोकर नहीं खाता, उसी प्रकार स्वरों की सहायता से वेदार्थ स्पष्ट हो जाता है)। माधव ने स्वर के अनुसार ही अर्थ की व्यवस्था को स्वीकार किया है (स्वरेणैव व्यवस्थितिः)। वाक्यों के मध्य में आनेवाले आख्यात एवं सम्बोधन पदों के निघात का हेतु क्या है, समस्त एवं असमस्त पदों के स्वरों में भेद क्यों हो जाता है, इत्यादि प्रश्नों पर उसने गम्भीरता से विचार किया है। उसने सिद्धान्त स्थिर किया है कि प्रकृति या प्रत्यय में जहां भी स्वर विद्यमान होता है, उसी में शब्द का तात्पर्य होता है। मणिग्रीवम् (ऋ० १।१२२।१४) के निघात की ओर माधव ने ध्यान आकृष्ट किया है (सायण इस विषय में मौन है)।

आख्यातानुक्रमणी में माधव ने व्याकरणानुसार लकारों के निरूपण के अतिरिक्त, क्रिया-वाची पदों के अध्याहार का हेतु क्या है, आत्मनेपद-परस्मैपद में क्या अन्तर है। (पश्यति-ईक्षते के अर्थों में सूक्ष्म भेद), इत्यादि प्रश्नों का समाधान किया है।

निपातानुक्रमणी में निपातों के संग्रह एवं अर्थ-विवेचन के अतिरिक्त, पूरण का तात्पर्य क्या है, अथ-अध, ह-घ निपातों में भेद का हेतु क्या है, इत्यादि महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया गया है।

शब्दावृत्त्यनुक्रमणी में वेङ्कट माधव की स्वतन्त्र अनुसन्धान-प्रिय बुद्धि का परिचय मिलता है। जगती से ऊपरवाले छन्दों में ही प्रायः आवृत्ति क्यों होती है, 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (निरुक्त १०।४२) से सर्वत्र समाधान सम्भव नहीं, समान एवं पर्याय शब्दों के प्रयोग का कारण क्या है, इन प्रश्नों पर माधव ने गम्भीरता से विचार किया है।

आर्षानुक्रमणी में मन्त्रार्थ में ऋषिज्ञान क्यों अपेक्षित है, ऋषि विकल्प का हेतु क्या है, एक सूक्त के द्रष्टा अनेक ऋषि कैसे हो सकते हैं, मण्डलों के क्रम का निमित्त क्या है, इत्यादि महत्वपूर्ण समस्याओं के समाधान उपस्थित किये गये हैं। वेङ्कट माधव ने ऋग्वेद के सूक्तों के पूर्व-पर विन्यास के हेतु बताये हैं — ऋषि, छन्द, देवता, ऋक्संख्या, अर्थ, जन्मक्रम तथा विराम। ऋषि के गोत्रों एवं प्रवरों का विवेचन और असंगतियों का निराकरण बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

छन्दोऽनुक्रमणी में विस्तार से छन्दों के निरूपण के अतिरिक्त, पादनिर्धारण के हेतु एवं पादावसान का प्रदर्शन वेदार्थ की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है।

देवतानुक्रमणी में वेङ्कट माधव ने याज्ञिक मत के अनुसार देवताओं का प्रतिपादन किया है, परन्तु साथ ही देवता-तत्त्व के विज्ञान में अपनी असमर्थता भी प्रकट की है। द्विप्रकृति देवताओं के विषय में उस का कथन है —'अस्माकं परिहारोऽत्र शीघ्रं न प्रत्यभादिति' (इस विषय में हमें तत्काल समाधन नहीं सूझा)

मन्त्रार्थानुक्रमणी में माधव ने दर्शाया है कि वेदभाष्य करने का अधिकारी कौन है और इस नाते उस का दायित्व क्या है। उसने बताया है कि शाकल्य, पाणिनि तथा यास्क—ये तीन आचार्य ही वेदार्थ में सब से अधिक सहायक हैं। निरुक्त तथा व्याकरण पर जिन व्यक्तियों का पूर्ण परिश्रम होता है, वे भी संहिता के चतुर्थ अंश को ही जान पाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों पर यथेष्ट परिश्रम करनेवाले विद्वान वेद के पूर्ण अर्थ को जान सकते हैं। माधव ने दर्शाया है कि वेदभाष्य के क्षेत्र में पण्डित एवं वृद्ध किन्हें कहा जाता है। उस का यह कथन कितना महत्त्वपूर्ण है कि —

अधीतसाङ्गवेदोऽपि पदार्थमिह मानवः।
बाहुश्रुत्याद् विजानाति व्यसनादभियोगतः॥ (८।३।२)

अर्थात् —छहों अङ्गों सहित शाखाओं का अध्ययन कर लेने पर भी बहुश्रुत (ब्राह्मण-

ग्रन्थों का गहन अध्ययन करनेवाला), व्रतनी (व्याकरण मीमांसा आदि शास्त्रों का सतत अभ्यासी) तथा अभियुक्त (तुलनात्मक अध्ययन में प्रवीण) मनुष्य ही वैदिक अर्थ को जान सकता है। वेदभाष्यकार के प्रति उस का निर्देश है कि वाक्यार्थ के अतिरिक्त कुछ न बताया जाये, निर्वचन भी नहीं (८।४।८)। लोक, कर्मकाण्ड, वेदाङ्ग से ज्ञात पदार्थों को भी दर्शाने की आवश्यकता नहीं, न ही अङ्गोपाङ्गविषयक पाण्डित्य का प्रदर्शन अपेक्षित है (८।४ १६,१७)। अल्पश्रुत व्याख्याकारों की ओर संकेत करते हुए उस ने लिखा है कि स्कन्द आदि कृत वेदार्थ को ही आज कल मायावी लोग अपने नामों से लिख कर घर-घर में वेदव्याख्याओं की रचना कर रहे हैं। इस प्रकार वेदभाष्यकार के रूप में वेङ्कटमाधव ने अपने कर्त्तव्य एवं दायित्वों को पूर्ण किया है। वेदभाष्य की प्रक्रियाओं के इतिहास की दृष्टि से भी 'ऋग्वेदानुक्रमणी' अत्यन्त महत्व पूर्ण है।

व्याख्या

हिन्दीभाषी वेदार्थ-जिज्ञासु जनों को वेङ्कट माधव के इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ से परिचित कराने का प्रथम श्रेय स्वर्गीय जयदेव शर्मा को है। जयदेव शर्मा कृत भाषानुवाद सहित यह ग्रन्थ सं० १९९८ में स्वाध्याय-मण्डल से प्रकाशित हुआ था। अनेक वर्षों से वह उपलब्ध नहीं है। उस ग्रन्थ में उपोद्घात के रूप में जो कारिकाएं छापी गई थीं, वे वस्तुतः ग्रन्थ से सम्बद्ध नहीं हैं (वे माधवकृत अन्य बारह अनुक्रमणियों का उपोद्घात रूप हैं)। इसलिए वर्त्तमान संस्करण में उन को स्थान नहीं दिया गया है। इस संस्करण में हिन्दी व्याख्या के साथ, यथा अपेक्षित, व्याख्यात्मक टिप्पणियां और कुछ अनुक्रमणियों के अन्त में समीक्षात्मक टिप्पणियां भी दी गई हैं।

कृतज्ञताप्रकाश

पदवाक्यप्रमाणज्ञ आचार्य श्री युधिष्ठिर मीमांसक की सत्प्रेरणा, आशीर्वाद एवं सहायता से वर्त्तमान व्याख्याता ने इस कार्य को सम्पन्न किया है, अतः उन के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता है। जिन स्वर्गीय विद्वानों की कृतियों से सहायता ली गई है, उन के प्रति भी अनुवादक हार्दिक आभार व्यक्त करता है। श्री महेन्द्र शास्त्री ने मुद्रण प्रतिशोधन कार्य जिस लगन एवं तत्परता से किया है, उस के लिए व्याख्याता उन का अनुगृहीत है।

—व्याख्याता

ऋग्वेदानुक्रमणी

विषयानुक्रमणिका

—:o:—

संक्षेप-विवरण

अ० = अष्टाध्यायी
ऋ० = ऋग्वेद
ऐ० ब्रा० = ऐतरेय ब्राह्मण
कठ० = कठ संहिता
छा०उप० = छान्दोग्य उपनिषद्
जै० ब्रा० = जैमिनीय ब्राह्मण
तां० ब्रा० = ताण्ड्य ब्राह्मण
तै० ब्रा० = तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं० = तैत्तिरीय संहिता
नि० = निरुक्त
पू० मी० = पूर्वमीमांसा
बृह० = बृहद्देवता
महा० = महाभाष्य
मा० सं० = माध्यन्दिन संहिता
मै० सं० = मैत्रायणी संहिता
वाक्य० = वाक्यपदीय
वें० मा० भा० = वेङ्कट माधव भाष्य
सा० भा० = सायण भाष्य

वेङ्कटमाधवीयर्ग्वेदभाष्यान्तर्गता

ऋग्वेदानुक्रमणी

१. स्वरानुक्रमणी

प्रथमाष्टके प्रथमोऽध्यायः

श्रीवेङ्कटार्यतनयो व्याचिकीर्षति माधवः ।
ऋक्संहितामस्य देवः प्रसीदतु विनायकः ॥१॥
लोकसिद्धं विभक्त्यर्थमनुक्ते तत्र न त्यजेत् ।
निरुक्तमग्रतः कुर्याद् यावत्प्राणं तथा स्वरम् ॥२॥
पदानि पूर्वं जानीयात् पदस्वरमनन्तरम् ।
उपसर्गान् क्रियाशब्दैः संयोज्यार्थं प्रदर्शयेत् ॥३॥
निघाततिङ्पदस्यार्थे वाक्यार्थः पर्यवस्यति ।
अनिघातोऽपि पादादौ विशेषस्तत्र वक्ष्यते ॥४॥

श्री वेङ्कटार्य का पुत्र माधव ऋक्संहिता की व्याख्या करना चाहता है। इस पर विनायक देव प्रसन्न हो ॥१॥

लोक में प्रसिद्ध विभक्ति के अर्थ को विना कारण बताये मन्त्र में न छोड़े। पहले निर्वचन करे और यावत्प्राण=यथाशक्ति स्वर को दिखाये।

माधव का उपर्युक्त कथन प्राचीन आचार्यों का पूर्णतः संवादी है। तुलना करें—अर्थनित्यः परीक्षेत......न त्वेव न निर्ब्रूयात्......यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत् ॥ (निरु० २।१) ॥

यद् यत् स्याच्छान्दसं मन्त्रे तत्तत् कुर्यात्तु लौकिकम् ॥ (बृह० २।१०१) ॥२॥

पहले मन्त्रस्थ पदों को जाने, इस के पश्चात् पदों के स्वर का ज्ञान करे। उपसर्गों को क्रियावाची शब्दों के साथ जोड़कर अर्थ को दिखावे ॥३॥

निघात (=सर्वानुदात्त) तिङन्त पद के अर्थ पर वाक्य का अर्थ समाप्त होता है। ऋक्-पाद के आदि में तिङन्त पद के निघात का अभाव भी होता है। इस के विषय में आगे विशेष कहा जायेगा।

पाणिनीय अष्टाध्यायी में अपादादि में तिङन्त पद के निघात को दर्शानेवाले सूत्र हैं—

निघाततिङ्पदस्यार्थं वाक्यान्ते दर्शयेच्छनैः ।
उदात्ततिङ्पदस्यार्थमुच्चैरादौ प्रदर्शयेत् ॥५॥
यद्यदीत्यादिभिर्युक्तं तिङर्थं च स्फुटं वदेत् ।
अवान्तराणां वाक्यानामन्तेऽर्थं तं च दर्शयेत् ॥६॥
अथात्र कारणं ब्रूहि वाक्यादौ तिङुदात्तवत् ।
सर्वानुदात्तमन्यत्र नार्थभेदस्तु कश्चन ॥७॥
अर्थभेदादिति ब्रूमः श्रोतारमिह तिङ्पदम् ।
उदात्तवत् समाहन्ति स यथाऽभिमुखो भवेत् ॥८॥

पदस्य (अ० ८।१।१६); पदात् (अ० ८।१।१७); अनुदात्तं सर्वमपादादौ (अ० ८।१।१८); तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) ॥४॥

निघात तिङन्त पद के अर्थ को वाक्य के अन्त में धीरे से दिखावे और उदात्तयुक्त तिङन्त पद के अर्थ को वाक्य के आदि में उच्च स्वर से प्रदर्शित करे ।

कारिकास्थ 'शनैः' एवं 'उच्चैः' पद क्रमशः नीचैरनुदात्तः (अ० १।२।३०) तथा उच्चैरुदात्तः (अ० १।२।२९) की ओर सङ्केत करते हैं । उदाहरणार्थ—अग्निम् ईळे (ऋ० १।१।१) में 'ईळे' पद सर्वानुदात्त है । इस का अर्थ साधारण स्वर से बताया जाय और सचस्वा नः स्वस्तये (ऋ० १।१।९) में 'सचस्व' पद उदात्तवान् है । इसका अर्थ बलपूर्वक बताया जाय । निरुक्त-कार यास्क ने भी कहा है—तीव्रार्थतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम् (निरुक्त ४।२५) । अर्थात् अर्थ की प्रधानता को उदात्तस्वर और अर्थ की अप्रधानता को अनुदात्तस्वर प्रदर्शित करता है ॥५॥

यद् यदि इत्यादि से युक्त तिङन्त पद को स्पष्ट (=उच्च) स्वर से बोले और अवान्तर वाक्यों के अन्त में उसके अर्थ को दिखावे ।

पाद के आदि में न होने पर भी, यदि तिङन्त पद यद् यदि आदि निपातसंज्ञक पदों से युक्त होता है, तो उसका निघात नहीं होता । उस अवस्था में वह उदात्तवान् तिङन्त पद होगा । ऐसे तिङन्त पद के अर्थ को यद् यदि आदि से बननेवाले अवान्तर वाक्य के अन्त में पूर्ववत् उच्च स्वर से दिखाना चाहिये । पाणिनि ने निपातैर्यद्यदि० (अ० ८।१।३०) इत्यादि सूत्रों से यद् यदि इत्यादि निपातों से युक्त तिङन्तपद के निघात का प्रतिषेध किया है ॥६॥

अच्छा, इसमें कारण बताइये—'वाक्य के आदि में तिङन्त पद उदात्त स्वरवाला होता है, और अन्यत्र सर्वानुदात्त होता है, किन्तु कोई अर्थभेद नहीं होता' ? ॥७॥

हम उत्तर देते हैं—'अर्थभेद होने के कारण ऐसा होता है । वाक्य में उदात्तवान् तिङन्त पद श्रोता को इस प्रकार आहत करता है, जिस से वह वक्ता की ओर अभिमुख हो जाय ॥८॥

उदात्तकारकपदैस्तत्र पूर्वं समाहते ।
पदं सर्वोऽनुदात्तं स्यान्मध्येऽन्ते वाऽथ यद्भवेत् ॥९॥
अनुपादं विरम्यार्थमृषयः कथयन्त्यतः ।
पुनश्चोद्‌बोधनं कर्तुं पादादौ तिङुदात्तवत् ॥१०॥
अनुदात्ते पदे यत्र तत्र संस्थापयेद् द्विधा ।
"वायविन्द्रश्च चेतथः, तावा यातमुप द्रवत्" ॥११॥
भगवान् पाणिनिर्वेत्ति वाक्यवृत्तीः समञ्जसम् ।
प्रतिषेधो निघातस्य बोद्धव्यो विहितैरतः ॥१२॥
तत्र संबोधनपदैर्नरः संबोधितोऽपि सन् ।
वाक्यार्थोद्बोधनं कर्तुं पुनराहन्यते तिङा ॥१३॥
ननूदात्तं पदं दृष्टं वाक्यमध्येऽपि तद्यथा ।
"मा नः शंसो अररुषः", "इन्द्र सोमं पिबे [ब" इ]ति च ॥१४॥

वाक्य में उदात्त-स्वरयुक्त पदों के द्वारा पहले ही श्रोता के आहत हो जाने पर, तिङन्त पद सर्वानुदात्त हो जाता है, चाहे वह मध्य में वर्त्तमान हो या अन्त में ॥९॥

ऋषि लोग प्रत्येक पाद में अर्थ का पर्यवसान करके विषय का कथन करते हैं । अतः पुनः उद्‌बोधन करने के लिये पाद के आदि में उदात्तवान् तिङन्त पद का प्रयोग किया जाता है ।

ऋक् के प्रत्येक चरण में अर्थ की समाप्ति हो जाती है । यह बात ऋक् के लक्षण से भी स्पष्ट है—यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक् (पू० मी० २।१।३५) ॥१०॥

पद के सर्वानुदात्त होने पर उसे पाद में दो प्रकार (अन्त या मध्य) से कहीं भी रखा जा सकता है । जैसे—वायुविन्द्रश्च चेतथः (ऋ० १।२।५) यहां चेतथः पद चरण के अन्त में है, तथा—तावा यातमुप द्रवत् (ऋ० १।२।५) यहां यातम् पद चरण के मध्य में है ॥११॥

भगवान् पाणिनि वाक्य के अर्थबोधक व्यापारों को यथार्थरूप में जानते हैं । अतः उन के द्वारा विहित नियमों (=सूत्रों) से निघात के प्रतिषेध को जानना चाहिये ॥१२॥

वाक्य में सम्बोधन पदों के द्वारा सम्बोधित होनेवाला पुरुष भी वाक्यार्थ का उद्‌बोधन करने के लिये पुनः तिङन्त पद से आहत (आकृष्ट) किया जाता है ॥१३॥

शङ्का है—उदात्तस्वरयुक्त तिङन्त पद वाक्य के मध्य में भी देखा जाता है ? जैसे—'मा नः शंसो अररुषः' (ऋ० १।१८।३) तथा 'इन्द्र सोमं पिब' (ऋ० १।१५।१) इन ऋचाओं में ।

मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य । रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥ (ऋ० १।१८।३) इस

तत्र ब्रूमोऽर्थसंस्थानमिह यस्मिन् भवेत्तिङि ।
तत्तु सर्वानुदात्तं स्यादसंस्थित उदात्तवत् ॥१५॥
मा प्राप्नोतु कदर्यस्य शंसोऽस्मान् ब्रह्मणस्पते ।
रक्षैवमिति मन्त्रार्थः पाने चावेशनं फलम् ॥१६॥
लुडर्थे ननु वाक्यार्थः स्पष्टं संतिष्ठते तव ।
सत्यमाह भवानेतत् काकुस्तत्र तु विद्यते ॥१७॥

ऋक् में 'प्रणक्' तिङन्त पद वाक्य के मध्य में होने पर भी उदात्तवान् है । इसी प्रकार—'इन्द्र सोमं पिब ऋतुना त्वा विशन्त्विन्दवः । मत्सरासस्तदोकसः ॥ (ऋ० १।१५।१) इस ऋक् में भी 'पिब' तिङन्त पद वाक्य के मध्य में है । पूर्वोक्त नियम से यहां सर्वानुदात्त होना चाहिए । फिर उदात्तस्वर क्यों उपलब्ध होता है? वेङ्कट माधव ने यहां शाकल पदपाठ के अनुसार प्रणक् को एकपद मानकर शङ्का उठाई है । सायण भी एकपद ही मानता है । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'प्र । नक्' दो पद माने हैं । पाणिनि ने मन्त्रे घसह्वरणश० (अष्टा० २।४।८०) इत्यादि सूत्र से णश धातु से परे लि (=च्लि) का लुक् कहकर लङ् में 'नक्' पद का साधुत्व दर्शाया है । अष्टाध्यायी के सभी व्याख्याकारों ने यही प्रणङ् मर्त्यस्य उदाहरण दिया है । इस पक्ष में 'प्र' का उदात्तत्व, और 'नक्' का तिङ्ङतिङः (अष्टा० ८।१।२८) से अनुदात्तत्व अञ्जसा सिद्ध है । विशेष परिज्ञानार्थ स्वामी दयानन्द कृत ऋग्वेदभाष्य (ऋ० १।१८।२) पर आचार्य युधिष्ठिर मीमांसक कृत टिप्पणी (रा. ला. क. ट्रस्ट प्रेस मुद्रित, भाग १, पृष्ठ ६८१, टि० ३) देखें ॥१४॥

समाधान के रूप में हम कहते हैं—'जिस तिङन्त पद में वाक्यार्थ का पर्यवसान हो जाता है, वह तो सर्वानुदात्त होता है । वाक्यार्थ के समाप्त न होने पर तिङन्त पद उदात्तस्वरयुक्त ही रहता है' ॥१५॥

पूर्वोक्त 'मा नः०' का अर्थ है—'हे ब्रह्मणस्पते ! दुष्ट जन का वचन हमें प्राप्त न हो, इस प्रकार हमारी रक्षा कर ।' दूसरे मन्त्र में सोमपान का फल है—'इन्द्र में सोम का प्रवेश' ।

दोनों मन्त्रों का संक्षिप्त अभिप्राय बताकर यह दिखाया गया है कि वाक्य के मध्य में प्रयुक्त 'प्रणक्' तथा 'पिब' में ही वाक्यार्थ समाप्त नहीं हो पाया है, अपितु वह क्रमशः रक्षा एवं प्रवेश के प्रति साकाङ्क्ष है । अतः दोनों पद उदात्तस्वर से युक्त हैं ॥१६॥

शङ्का है—लुट् के अर्थ में वाक्यार्थ स्पष्ट ही परिसमाप्त हो जाता है । फिर वहां उदात्तवान् तिङन्त पद का प्रयोग क्यों होता है ? समाधान है—'आप सत्य कहते हैं, किन्तु वहां भी काकु (ध्वनि-विशेष) विद्यमान होता है' ।

भय क्रोध आदि मनोभावों को व्यक्त करनेवाली विशिष्ट ध्वनि को 'काकु' कहा जाता है । लुट् के प्रयोग में अन्य के प्रति साकाङ्क्ष न होने पर भी विशेष भाव के प्रदर्शन के लिये तिङन्त पद को उदात्तवान् ही रखा जाता है ॥१७॥

यथा तिङ्क्षु हि युक्तेषु ह्यर्थे वाक्यस्य संस्थितिः ।
एवं लुट्यपि संस्थानं तस्मिन् काकाविति स्थितिः ॥१८॥
"परा हि मे विमन्यवः", "आ हि ष्मा सूनवे पिता" ।
"न हि वामस्ति दूरके", "आयजी वाजसातमा" ॥१९॥
आश्चर्य एषु मन्त्रेषु तिङर्थः पर्यवस्यति ।
हेतौ "सं यन्मदाये [य" इ]ति, तेष्वतस्तिङुदात्तवत् ॥२०॥
एवं येनेह युक्तं सत् तिङन्तं न निहन्यते ।
तदर्थे तत्र संस्थानं न तिङर्थे इति स्थितिः ॥२१॥
एवं पदे समासे च यत्रोदात्तो व्यवस्थितः ।
वर्णे पदे वा तत्रापि काकुरस्तीति निश्चयः ॥२२॥
तत्रैकस्मिन् पदे काकुर्देवैरेवावगम्यते ।
सूक्ष्मविद्भिः समासस्थः प्राकृतैरपि तिङ्स्वरः ॥२३॥

जैसे 'हि' पद से युक्त तिङन्त पदों का प्रयोग होने पर वाक्य का पर्यवसान 'हि' के अर्थ में होता है, उसी प्रकार लुट् का प्रयोग होने पर उस काकु में ही वाक्यार्थ का पर्यवसान होता है ॥१८॥

परा हि मे विमन्यवः (ऋ०१।२५।४); आ हि ष्मा सूनवे पिता (ऋ० १।२६।३); नहि वामस्ति दूरके (ऋ० १।२२।४); आयजी वाजसातमा (ऋ० १।२८।७) इन मन्त्रों में तिङर्थ का पर्यवसान आश्चर्य में होता है। सं यन्मदाय (ऋ० १।३०।३) इस मन्त्र में तिङर्थ हेतु में परिसमाप्त होता है। अतः इन मन्त्रों में उदात्तस्वर से युक्त तिङन्त पदों का प्रयोग हुआ है ॥१९-२०॥

इस प्रकार वस्तु-स्थिति यह है—मन्त्र में जिस पद से युक्त होने पर तिङन्त पद का निघात (सर्वानुदात्तत्व) नहीं होता, उस पद के अर्थ में वाक्यार्थ समाप्त होता है, तिङर्थ में नहीं ॥२१॥

इसी प्रकार पद में जिस वर्ण पर और समास में जिस पद पर उदात्त व्यवस्थित होता है, वहां भी काकु होता है, यह निश्चय है ॥२२॥

उन में से एक पद में वर्तमान काकु का बोध देवों को ही होता है। सूक्ष्मदर्शी विद्वान् समास में विद्यमान काकु को जान लेता है। तिङन्त पद के स्वर को तो साधारण जन भी जान लेते हैं ॥२३॥

म्लेच्छेन..............................हत्वेषु ।
वाक्यवृत्तिप्रकारोऽयं सदृशो लौकिकेष्वपि ॥२४॥
मन्यन्ते पण्डितास्त्वन्ये यथाव्याकरणं स्वरम् ।
व्यवस्थितो व्यस्थायां हेतुः कश्चिन्न विद्यते ॥२५॥
माधवस्य त्वयं पक्षः स्वरेणैव व्यवस्थितिः ।
अर्थमभीप्सत्..............................॥२६॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

—:०:—

द्वितीयोऽध्यायः

'अयं देवाय जन्मने', माधवो व्याचिकीर्षति ।
तत्रामन्त्रितशब्दानामादौ वृत्तिः प्रदर्श्यते ॥१॥
आमन्त्रिताद्युदात्तत्वमुच्चैरामन्त्रणे भवेत् ।
नीचैरामन्त्रणे कार्ये पदं सर्वं निहन्यते ॥२॥

वाक्यार्थ के प्रकाशन का यह प्रकार लौकिक वाक्यों में भी वैदिक वाक्यों के समान ही है। [कारिका का पूर्वार्द्ध प्रायः त्रुटित है। उससे किसी अर्थ को जानना सम्भव नहीं है] ॥२४॥

अन्य पण्डित व्याकरण के अनुसार स्वर को मानते हैं और व्याकरणानुसार स्वर-व्यवस्था में कोई निश्चित कारण नहीं है ॥२५॥

परन्तु माधव का यह पक्ष है कि स्वर के द्वारा ही अर्थ की व्यवस्था होती है। [कारिका उत्तरार्द्ध भाग प्रायः त्रुटित है] ॥२६॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

—:०:—

द्वितीयोऽध्यायः

माधव 'अ॒यं दे॒वाय॒ जन्म॑ने॒' (ऋ० १।२०।१) इस ऋक् से आरम्भ होनेवाले अध्याय की व्याख्या करना चाहता है। उस व्याख्या के आदि में आमन्त्रित शब्दों की वृत्ति दिखाई जाती है॥१॥

उच्च स्वर से सम्बोधन करने पर आमन्त्रित पद आद्युदात्त होता है। नीचे स्वर से सम्बोधन करने पर सम्पूर्ण पद अनुदात्त होता है।

अर्थस्वभावाद्वाक्यस्य मध्यस्थं तन्निहन्यते ।
"ऋतेन मित्रावरुणौ", "कवी नो मित्रावरुणा" ।।३।।
अर्थस्वभावादुच्चैस्त्वं क्वचिन्मध्येऽपि दृश्यते ।
तथैव नीचैस्त्वमपि तत्रोदाहरणे शृणु ।।४।।
"अह्वयच्छुनमन्धाय सा वृकीः" इति वक्ष्यति ।
"नरेति" तत्राद्युदात्तमेवं हि परिदेवनम् ।।५।।
"इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी", यजुष्यस्मिन् निहन्यते ।
बहुष्वामन्त्रितेष्वन्तर् ओषधीः इति यत्पदम् ।।६।।

पाणिनीय व्याकरणानुसार आमन्त्रितस्य च (अ० ६।१।१९८) सूत्र से आद्युदात्त और पदस्य; पदात्; अनुदात्तं सर्वमपादादौ; आमन्त्रितस्य च (अ० ८।१।१६-१९) से निघात होता है ।।२।।

वाक्य के मध्य में स्थित आमन्त्रित पद अर्थस्वभाव के कारण सर्वानुदात्त होता है । जैसे— ऋतेन मित्रावरुणौ (ऋ० १।२।८); कवी नो मित्रावरुणा (ऋ० १।२।९) ।

प्रथम मन्त्र में 'मित्रावरुणौ' आमन्त्रित पद है, जो वाक्य के मध्य में स्थित होने के कारण सर्वानुदात्त है । दूसरे मन्त्र में 'मित्रावरुणा' पद वाक्य के मध्य में तो स्थित है, परन्तु आमन्त्रित नहीं है । अतः उसका निघात नहीं हुआ ।।३।।

अर्थस्वभाव के कारण कहीं-कहीं वाक्य के मध्य में भी आमन्त्रित पद का उदात्तत्व देखा जाता है । और उसी प्रकार कहीं-कहीं अनुदात्तत्व भी देखा जाता है । उन के उदाहरण सुनिये ।।४।।

'अह्वयच्छुनमन्धाय सा वृकीः' ऐसा मन्त्र में कहा जायेगा । वहाँ 'नरा' यह आमन्त्रित पद उदात्त स्वर युक्त है । क्योंकि इस प्रकार परिदेवन की प्रतीति होती है ।

कारिका में ऋक् की आनुपूर्वी छन्दोऽनुरोध से बदल दी गई है । अर्द्धर्च इस प्रकार है— शुनमन्धाय भरमह्वयत् सा वृकीरश्विना वृषणा नरेति (ऋ० १।११७।१८) । इस ऋक् के भाष्य में वेङ्कट माधव का कथन है— नरेति परिदेवनासूक्तम् । आमन्त्रितमुच्चैर्लौकिका वदन्ति, तत्कृतोऽनिघात इत्युक्तम् ।।५।।

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी (तै० सं० १।२।१।२) इस यजुःमन्त्र में अनेक आमन्त्रित पदों के अन्त में 'ओषधीः' पद सर्वानुदात्त है ।

यजुःपाठ है— इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी आप ओषधीस्त्वं० ।।६।।

"अग्ने पावक रोचिषा", "घृताहवन दीदिवः" ।
"ग्नावो नेष्टः पिब ऋतुना", "सखायः स्तोमवाहसः" ॥७॥
"विश्वे देवासो मनुषो", "विश्वे यजत्राः", "त आदित्याः ।"
सर्वत्रार्थस्वभावोऽयमूह्यः प्राज्ञैरिति स्थितिः ॥८॥
नामन्त्रितं कारकवद् वाक्यार्थेनान्वितं भवेत् ।
"युवं वरो सुषाम्णे", "पेशो मर्या अपेशसे" ॥९॥
ये इमे तत्रोदाहरणे स्पष्टे सर्वं च तादृशम् ।
अविद्यमानवत्त्वे च एष हेतुरिति स्थितिः ॥१०॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अग्ने पावक रोचिषा (ऋ० ५।२६।१); घृताहवन दीदिवः (ऋ० १।१२।५); ग्नावो नेष्टः पिब ऋतुना (ऋ० १।१५।३); सखायः स्तोमवाहसः' (ऋ० १।५।१); विश्वे देवासो मनुषो (ऋ० १०।६३।६); विश्वे यजत्राः (ऋ० १०।६३।११); त आदित्याः (ऋ० १०।६३। ७) इन सब स्थलों पर निश्चय ही अर्थस्वभाव वर्त्तमान है, इसे विद्वानों को जानना चाहिये ।

उदाहरणों में वाक्यों के मध्य में स्थित आमन्त्रित पद अर्थों की विशेषताओं के कारण कहीं सर्वानुदात्त हैं, तो कहीं उदात्त स्वरयुक्त ॥७-८॥

आमन्त्रित पद कारक के समान वाक्यार्थ के साथ अन्वित (युक्त) नहीं होता । जैसे—युवं वरो सुषाम्णे (ऋ० ८।२६।२); पेशो मर्या अपेशसे (ऋ० १।६।३) ।

इन उदाहरणों में 'वरो' (वरु का सम्बोधनरूप) तथा 'मर्याः' आमन्त्रित पद सर्वानुदात्त हैं । इनका अन्वय क्रमशः 'याथः' तथा 'अजायथाः' मन्त्रोक्त क्रियाओं के साथ सम्भव नहीं है । वेङ्कटमाधव, स्कन्द, सायण आदि ने स्वभाष्यों में 'मर्या' पद को आश्चर्यद्योतक माना है ॥९॥

ये दो जो स्पष्ट उदाहरण दिए गये हैं, वैसे ही सब आमन्त्रित पद हैं । वस्तुतः आमन्त्रित पदों के अविद्यमानवद्भाव में भी यही हेतु है ।

पाणिनि के नियमानुसार दो आमन्त्रित पदों के साथ-साथ प्रयुक्त होने पर—'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' (अ० ८।१।७२) सूत्र से पूर्व आमन्त्रित पद अविद्यमान के समान समझा जाता है । परन्तु दोनों पदों का सामानाधिकरण्य होने पर—'नाऽमन्त्रिते समानाधिकरणे; सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने' (अ० ८।१।७३,७४) सूत्रों से अविद्यमानवद्भाव का निषेध एवं विकल्प होता है । वेङ्कट माधव के मत में अविद्यमानवद्भाव का कारण है—'अर्थविशेष के प्रकाशन के लिए आमन्त्रित पद का वाक्यार्थ के साथ अन्वित न होना' ॥१०॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

"एतायामोप गव्यन्तः" व्याचिख्यासति माधवः ।
समासानां स्वराद् वृत्तिरादौ तत्र प्रदर्श्यते ॥१॥
मुख्यस्तत्पुरुषः प्रोक्तो द्वन्द्वश्च तदनन्तरः ।
तृतीयस्तु बहुव्रीहिरव्ययीभाव उत्तरः ॥२॥
तत्रोत्तरपदार्थस्य प्राधान्यं यत्र वर्त्तते ।
उदात्तस्तत्र भवति, 'सुरूपकृत्नुमूतये' ॥३॥
'द्रविणोदा द्रविणसो', 'हव्यवाहं पुरुप्रियम्' ।
'त्रिश्वादित्यं द्रुपदेषु', 'नो हिरण्यरथं दंस' ॥४॥

तृतीयोऽध्यायः

माधव 'एतायामोप गव्यन्तः' (१।३३।१) इस अध्याय की व्याख्या करना चाहता है । उसके आदि में स्वर से समासों की वृत्ति दिखाई जाती है ।।१।।

सर्वप्रथम तत्पुरुष कहा गया है, उसके अनन्तर द्वन्द्व, तीसरा बहुव्रीहि, और उसके पश्चात् अव्ययीभाव बताया गया है ।

आचार्यों ने अपने-अपने शास्त्रों में समासों का प्रतिपादन विभिन्न क्रम से किया है । पाणिनि का क्रम है—अव्ययीभाव, तत्पुरुष,बहुव्रीहि, द्वन्द्व । शौनक ने क्रम रखा है—द्विगु, द्वन्द्व, अव्ययीभाव, कर्मधारय, बहुव्रीहि, तत्पुरुष (बृह० २।१०५) ।।२।।

जिस तत्पुरुष समास में उत्तरपद के अर्थ की प्रधानता रहती है, उसमें उत्तरपद में ही उदात्त विद्यमान होता है । उदाहरण हैं–सुरूपकृत्नुमूतये (ऋ० १।४।१); द्रविणोदा द्रविणसः (ऋ०१।१५।७); हव्यवाहं पुरुप्रियम् (ऋ०१।१२।२); त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु (ऋ० १।२४।१३); नो हिरण्यरथं दंस (ऋ०१।३०।१६) ।

इन ऋचाओं में क्रमशः सुरूपकृत्नुम्, द्रविणोदाः, हव्यवाहम्, द्रुपदेषु, हिरण्यरथम् इन समस्त पदों के उत्तरपदों में उदात्त वर्त्तमान है । अतः उत्तरपद के अर्थ की प्रधानता है । व्याकरण की दृष्टि से ये पद समासस्य (अ० ६।१।२१७) सूत्र से अन्तोदात्त हैं ।।३-४।।

यदि स्वरः पूर्वपदे तदर्थः प्रस्फुटो भवेत् ।
'भगभक्तस्य ते वयम्', 'विप्रजूतः सुतावतः' ॥५॥

'तवेद्धि सख्यमस्तृतम्', 'अनाधृष्टास ओजसा' ।
'अच्छिन्नपत्राः सचन्ताम्', 'अप्रजाः सन्त्वत्रिणः' ॥६॥

अनुदात्तश्च दृष्टो नञ् 'अयोद्धा इव दुर्मदः' ।
तादृशेषूत्तरपदे प्राधान्यमिति निर्णयः ॥७॥

कार्ययोगो यदि द्वन्द्वः उभयोरपि दृश्यते ।
स्थिते पूर्वपदस्यार्थे द्वितीयस्यापि संग्रहः ॥८॥

अन्तोदात्तस्ततो द्वन्द्वः, 'इन्द्रवायू बृहस्पतिम्' ।
'ऋक्सामाभ्यामभिहितौ', 'इहेन्द्राग्नी उप ह्वये' ॥९॥

यदि तत्पुरुष समास के पूर्वपद में स्वर विद्यमान होता है, तो उस (पूर्वपद) का अर्थ प्रधान रहता हैं। उदाहरण है—भगभक्तस्य ते वयम् (ऋ० १।२४।५); विप्रजूतः सुतावतः (ऋ० १।३।५); तवेद्धि सख्यमस्तृतम् (ऋ० १।१५।५); अनाधृष्टास ओजसा (ऋ० १।१९।४); अच्छिन्नपत्राः सचन्ताम् (ऋ० १।२२।११); अप्रजाः सन्त्वत्रिणः (ऋ० १।२१।५) ।

इन ऋचाओं में क्रमशः भगभक्तस्य, विप्रजूतः, अस्तृतम्, अनाधृष्टासः, अच्छिन्नपत्राः, अप्रजाः समस्त पद हैं, जिनके पूर्वपद में उदात्त स्वर वर्त्तमान है। अतः पूर्वपदार्थ की प्रधानता इन पदों में होगी। पाणिनीय प्रक्रिया के अनुसार इन शब्दों में तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ०६।२।२) सूत्र से पूर्वपद प्रकृतिस्वर है ॥५-६॥

तत्पुरुष समास में नञ् अनुदात्त भी देखा जाता है। जैसे—अयोद्धा इव दुर्मदः (ऋ० १।३२।६) । ऐसे समासों में उत्तरपद के अर्थ की प्रधानता होती है, यह निश्चय है ।

कारिका में सन्धिरहित पाठ छन्दोऽनुरोध से दिया गया प्रतीत होता हैं ॥७॥

यद्यपि द्वन्द्व समास में दोनों—पूर्वपदार्थ एवं उत्तरपदार्थ—का कार्य के साथ सम्बन्ध होता है, तथापि पूर्वपद के अर्थ में दूसरे पद के अर्थ का भी संग्रह हो जाता है (अर्थात् पदार्थ एक ही रहता है) । इसलिये द्वन्द्व समास अन्तोदात्त होता है। उदाहरण हैं—'इन्द्रवायू'

समप्रधानयोर्द्वन्द्व उदात्त उभयोरपि ।
'द्यावापृथिवी मरुतः', 'ह्वयामि मित्रावरुणौ' ॥१०॥
प्रधान इन्द्रः पूर्वोऽत्र प्रधानः क्वचिदुत्तरः ।
स सोमारुद्रयोर्द्वन्द्वः, 'मा सहूती' निदर्शनम् ॥११॥
बहुव्रीहिषु तात्पर्यं विशेषणविशेष्ययोः ।
'अग्निर्होता कविक्रतुः', 'अग्ने सूपायनो भव' ॥१२॥
'मित्रं हुवे पूतदक्षं', 'शं नो विष्णुरुरुक्रमः' ।
'पञ्चपादं', 'सप्तचक्रं', 'त्रिचक्रेण', 'त्रिनाभि' च ॥१३॥

बृहस्पतिम् (ऋ० १।१४।३); ऋक्सामाभ्यामभिहितौ (ऋ० १०।८५।११); इहेन्द्राग्नी उपह्वये (ऋ० १।२१।१) ।

ऊपर प्रदर्शित ऋचाओं में 'इन्द्रवायू, ऋक्सामाभ्याम्', 'इन्द्राग्नी' पदों में द्वन्द्व समास है । यहां उभयपदार्थ के एक हो जाने से समासस्वर अन्तोदात्त होता है । पाणिनीय प्रक्रिया के अनुसार समासस्य (अ० ६।१।२१७) से उत्सर्ग अन्तोदात्त होता है । देवताद्वन्द्वे च (अ० ६।२। १४०) से प्राप्त अपवाद का नोत्तरपदे० (अ० ६।२।१४१) से निषेध हो जाता है ॥८-९॥

जिस द्वन्द्व समास में दोनों पदार्थ समानरूप से प्रधान रहते हैं, उसमें दोनों पद उदात्त होते हैं । जैसे—द्यावापृथिवी मरुतः (ऋ० १०।६३।९); ह्वयामि मित्रावरुणौ (ऋ० १।३५।१) ।

द्यावापृथिवी तथा मित्रावरुणौ पदों में उभयपदार्थ की समानरूप से प्रधानता उभयपद में वर्तमान उदात्तों से लक्षित होती है । यहां देवताद्वन्द्वे च (अ० ६।२।१४०) से उभयपद का युगपत् प्रकृतिस्वर होता है ॥१०॥

द्वन्द्व समास में पूर्वपद के रूप में वर्तमान इन्द्र शब्द प्रधान होता है । कहीं-कहीं उत्तरपद इन्द्र शब्द प्रधान होता है । सोम तथा रुद्र शब्द भी द्वन्द्व में प्रधान होते हैं । रुद्र की प्रधानता का उदाहरण है—मा सहूती (ऋ०२।३३।४) ।

कारिका का अभिप्राय पूर्णतः स्पष्ट नहीं है । मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती(ऋ० २।३३।४), इस अर्द्धर्च का भाव है—'हे रुद्र, अन्य देवों के साथ आह्वान के द्वारा हम तुझे क्रुद्ध न करें ।' इससे रुद्र की प्रधानता द्योतित होती है ॥११॥

बहुव्रीहि समासों में विशेषण तथा विशेष्य की प्रधानता होती है (अर्थात् कहीं विशेषण पर विशेष बल दिया जाता है, तो कहीं विशेष्य पर)। उदाहरण हैं—अग्निर्होता कविक्रतुः(ऋ० १। १।५); अग्ने सूपायनो भव (ऋ० १।१।९); मित्रं हुवे पूतदक्षम् (ऋ० १।२।७); शं नो

उदात्तश्चोभयोर्दृष्टः पूर्वस्मिन्नपि चोत्तरे ।
उदात्तानुगुणश्चार्थो दर्शनीय इति स्थितिः ॥१४॥
अन्तोदात्तोऽव्ययीभावः सः 'अनुकामं तर्पयेथाम्' ।
'प्रतिदोषं गृणानः' च तादृशाः सन्ति चापरे ॥१५॥
अनुकामं विभक्त्यर्थे नाऽनोरर्थोऽस्ति कश्चन ।
पश्चात् कामस्य यद्वास्तु तथाऽप्यन्ते स्वरो भवेत् ॥१६॥
'प्रतिदोषं गृणानो'ऽत्र वीप्सां द्योतयति प्रतिः ।
दोषा शब्दो वाचकश्च ततस्तस्मिन् स्वरः स्थितः ॥१७॥

विष्णुरुरुक्रमः (ऋ० १।६०।६); पञ्चपादम् (ऋ० १।१६४।१२); सप्तचक्रम् (ऋ० १।१६४।३); त्रिचक्रेण (ऋ० १।११८।२); त्रिनाभि (ऋ० १।१६४।२)।

इन ऋचाओं में क्रमशः 'कविक्रतुः', 'सुप्रायनः', 'पूतदक्षम्', 'उरुक्रमः', 'पञ्चपादम्', सप्तचक्रम्, 'त्रिचक्रेण', 'त्रिनाभि' पद बहुव्रीहि हैं। इन में से कुछ पदों में पूर्वपद में तथा कुछ पदों में उत्तरपद में उदात्त है। पाणिनीय शास्त्रानुसार सामान्यत: बहुव्रीहौ प्रकृत्या० (अ० ६।२।१) से पूर्वपद का प्रकृतिस्वर होता है। उसके अनेक अपवाद हैं, जिन से उत्तरपद का प्रकृतिस्वर या समास का अन्तोदात्त होता है ॥१२-१३॥

बहुव्रीहि समास में दोनों—पूर्वपद अथवा उत्तरपद—में उदात्त देखा जाता है। उदात्त स्वर के अनुसार अर्थ को देखना चाहिये, यही सिद्धान्त है ॥१४॥

अव्ययीभाव समास अन्तोदात्त होता है। उदाहरण हैं—अनुकामं तर्पयेथाम् (ऋ० १।१७।३); प्रतिदोषं गृणानः (ऋ० १।३५।१०)। ऐसे ही अन्य शब्द भी हैं ॥१५॥

'अनुकामं' शब्द में विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समास हुआ है, 'अनु' का कोई अर्थ नहीं है। अथवा पश्चात् अर्थ में अव्ययीभाव समास माना जा सकता है। दोनों विग्रहों में उत्तरपदार्थ की प्रधानता के कारण अन्त में स्वर है।

'अनुकामं' पद में अव्ययं विभक्तिसमीप० (अ० २।१।६) से समास हुआ है। अन्तोदात्त-विधायक उत्सर्गसूत्र समासस्य (अ० ६।१।२१७) है ॥१६॥

'प्रतिदोषं' पद में 'प्रति' शब्द वीप्सा अर्थ को द्योतित करता है, और दोषा शब्द उसका वाचक है। अत: दोषा शब्द में ही स्वर स्थित है।

यहां भी पूर्ववत् समास एवं स्वर होता है। अव्ययीभाव समास में पूर्वपद अव्यय तात्पर्य-ग्राहक होते हैं, वाचकत्व उत्तरपद में होता है। अत: उनमें अन्तोदात्तत्व मिलता है ॥१७॥

अथ विग्रहवाक्यानि विस्पष्टप्रतिपत्तये ।
सुरूपकर्मणां कर्त्ता पुरूणां च तथा प्रियः ॥१८॥

भाग्येनाऽयं तु संभक्तो विप्रैराकृष्यते तथा ।
तव सख्यं न हिंसितमयोद्धेत्यस्य विग्रहः ॥१९॥

न यः समर्थो युद्ध इति युद्धाऽसामर्थ्यदर्शनम् ।
प्रधान इन्द्रो वायुश्च मित्रश्च वरुणोऽपि च ॥२०॥

अग्नेः क्रतुः कविः क्रान्तो बहुव्रीहेस्तु विग्रहः ।
उरुरस्ति क्रमो यस्य त्रीणि चक्राणि सन्ति च ॥२१॥

कामेषु तर्पयेथां नः पश्चात् कामस्य वा पुनः ।
रात्रौरात्रौ प्रतिदोषमिति विग्रहदर्शनम् ॥२२॥

अब पूर्वोक्त समासों के अर्थ को स्पष्टरूप से जानने के लिए उन के विग्रहवाक्यों को दिखाया जाता है—

(१) सुरूपकृत्नुः—सुरूपकर्मणां कर्त्ता=उत्तम कर्मों का करनेवाला ।

(२) पुरुप्रियः—पुरूणां प्रियः=बहुतों का प्रिय ।

(३) भगभक्तः—भाग्येन (भगेन) अयं सम्भक्तः=ऐश्वर्य से सेवित ।

(४) विप्रजूतः—विप्रैः आकृष्यते=विद्वानों के द्वारा आकृष्ट ।

(५) तवेद्धि सख्यमस्तृतम्—तव सख्यं न हिंसितम्=तेरी मित्रता नष्ट नहीं होती ।

(६) अयोद्धा—इस का विग्रह है—न यः समर्थो युद्धे=जो युद्ध करने में समर्थ नहीं । इस प्रकार युद्ध में सामर्थ्य के अभाव को प्रदर्शित किया गया है ।

(७) इन्द्र, वायु, मित्र तथा वरुण—सब प्रधान हैं ।

(८) अग्निर्होता कविक्रतुः—बहुव्रीहि समास का विग्रह है—अग्नेः क्रतुः कविः क्रान्तः (अर्थात् कविः=क्रान्ता क्रतुः=प्रज्ञा यस्य अग्नेः)=जिस अग्नि का ज्ञान सब का अतिक्रमण कर गया है ।

(९) उरुक्रमः—उरुः अस्ति क्रमः यस्य=विस्तृत पराक्रमवाला ।

(१०) त्रिचक्रः—त्रीणि चक्राणि सन्ति यस्य=तीन चक्रोंवाला ।

(११) अनुकामम्—कामेषु, पश्चात् कामस्य वा=कामनाओं में [हमें तृप्त करें], अथवा कामना के पश्चात् [हमें तृप्त करें] ।

सर्वेष्वेषु समासेषु यत्रयत्र स्वरो भवेत् ।
काशं कुशं वाऽवलम्ब्य स्वरं तं स्थापयेदिति ॥२३॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

—:०:—

चतुर्थोऽध्यायः

'अयं वां मधुमत्तमः',माधवो व्याचिकीर्षति ।
प्रदर्शयन् समस्तानां स्वरव्यत्यासकारणम् ॥१॥
आद्युदात्ताः समासस्था अन्तोदात्ता भवन्ति च ।
अन्तोदात्ताश्चाद्युदात्तास्त्यजन्तः प्राकृतं स्वरम् ॥२॥
विश्वशब्द आद्युदात्तो, 'विश्वे देवासो अस्त्रिधः' ।
'विश्वं समत्रिणं दह', 'पतिर्विश्वस्य भूमनः' ॥३॥

---

(१२) प्रतिदोषम्—रात्रौ रात्रौ प्रतिदोषम्=प्रत्येक रात्रि में ।

यह समासों के विग्रहवाक्यों का प्रदर्शन सम्पन्न हुआ ॥१८-२२॥

इन सब समासों में जहां-कहीं स्वर (उदात्त) उपलब्ध होता हो, घास-फूंस के समान स्वल्प आश्रय लेकर उस उदात्त स्वर को स्थापित करे (क्यों कि वही अर्थ बोध में सर्वाधिक सहायक है) ॥२३॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

—:०:—

चतुर्थोऽध्यायः

माधव 'अ॒यं वां॒ मधु॑मत्तमः' (१।४७।१) इत्यादि अध्याय की व्याख्या करना चाहता है । समासगत पदों के स्वर में व्यत्यास (उलटफेर) के कारण को पहले दिखाया जाता है ॥१॥

अपने स्वाभाविक स्वर को छोड़ते हुए समासस्थ आद्युदात्त पद अन्तोदात्त हो जाते हैं और अन्तोदात्त पद आद्युदात्त हो जाते हैं ॥२॥

'विश्व' शब्द आद्युदात्त है । जैसे—विश्वे॑ दे॒वासो॑ अ॒स्त्रिधः॑ (ऋ० १।३।९); विश्व॒॑

अन्तोदात्तः समासस्थो, 'विश्वामित्रस्य रक्षति' ।
'अग्निं च विश्वशंभुवमापश्च विश्वभेषजीः' ॥४॥
तत्राऽऽहुः कारणमिदं विश्यर्थः केवले स्फुटः ।
समस्ते तु प्रत्ययार्थः प्रकृत्यर्थोपसर्जनः ॥५॥
दर्शयेदसमस्तार्थमयं व्याप्त इतीदृशम् ।
मित्रं व्याप्तस्य सर्वस्य समस्तेऽर्थं प्रदर्शयेत् ॥६॥
अन्तोदात्तो वीरशब्दः, 'स घा वीरो न रिष्यति' ।
आद्युदात्तो बहुव्रीहौ, 'रयिं वहतं सुवीरम्' ॥७॥
अमित्रान् वीरयत्येष इत्यर्थः केवले भवेत् ।
कल्याणवीरमित्यर्थं समस्तस्य प्रदर्शयेत् ॥८॥
तात्पर्यं यदि पूर्वस्मिंस्तदा तत्र स्वरो भवेत् ।
'ऋष्ववीरस्य बृहतः' इति तत्र निदर्शनम् ॥९॥

सत्रिणं वह (ऋ० १।३६।२०); पतिर्विश्वस्य भूमनः (ऋ० ९।१०१।७) ॥३॥

समास में स्थित 'विश्व' शब्द अन्तोदात्त है । उदाहरण हैं—विश्वामित्रस्य रक्षति (ऋ० ३।५३।१२); अग्निं च विश्वशंभुवम् (ऋ० १।२३।२०); आपश्च विश्वभेषजीः (ऋ० १।२३।२०) ॥४॥

'विश्व' के स्वरव्यत्यास का कारण यह बताते हैं कि केवल 'विश्व' शब्द में विश् धातु का अर्थ अभिव्यक्त होता है । समासस्थ 'विश्व' शब्द में गौणरूप विश् धातु के अर्थ को लिए हुए प्रत्ययार्थ अभिव्यक्त होता है ॥५॥

समासरहित 'विश्व' शब्द का अर्थ इस प्रकार दर्शाये—'यह व्याप्त है' । समास हो जाने पर 'सब के व्याप्त का मित्र' इस प्रकार अर्थ को प्रकट करे ॥६॥

'वीर' शब्द अन्तोदात्त है । जैसे—स घा वीरो न रिष्यति (ऋ० १।१८।४) । परन्तु बहुव्रीहि समास में 'वीर' शब्द आद्युदात्त हो जाता है । जैसे—रयिं वहतं सुवीरम् (ऋ० १।३४।१२) ॥७॥

समासरहित 'वीर' शब्द का अर्थ है—'यह शत्रुओं के प्रति विक्रम दिखाता है' । समासयुक्त 'सुवीर' का 'कल्याणकारी वीरों (पराक्रमियों) वाला' यह अर्थ प्रदर्शित करे ॥८॥

समास में यदि पूर्वपद के अर्थ में तात्पर्य (प्राधान्य) होता है, तो उदात्त स्वर भी वहीं होता है । इस का उदाहरण है—ऋष्ववीरस्य बृहतः (ऋ० १।५२।१३) ।

सर्वेष्वेषु समासेषु कार्या सूक्ष्मेक्षिका बुधैः ।
पदेषु चासमस्तेषु शुद्धमर्थमभीप्सुभिः ॥१०॥
प्रकृतौ प्रत्यये वाऽपि स्वरो यत्र व्यवस्थितः ।
तात्पर्यं तत्र शब्दस्य स्थापयेदिति निर्णयः ॥११॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

—:०:—

पञ्चमोऽध्यायः

अथ 'प्र मन्महे' अध्यायं माधवो व्याचिकीर्षति ।
अवग्रहविहीनानामादावर्थं प्रदर्शयन् ॥१॥
पदकारः पदानीह नावगृह्णाति कानिचित् ।
तेषामपि स्वरेणैव कुर्यादर्थविनिर्णयम् ॥२॥

'ऋष्ववीरस्य' का अर्थ है—'दर्शनीयवीर्यस्य'। यहां शौर्य के दर्शनीयत्व पर विशेष बल देने के अभिप्राय को पूर्वपदस्थ उदात्त स्वर व्यक्त करता है ॥९॥

शुद्ध मन्त्रार्थ को जानने के इच्छुक विद्वानों को सम्पूर्ण समासयुक्त और समासरहित पदों में सूक्ष्म दृष्टि रखनी चाहिये ॥१०॥

शब्द की प्रकृति (धातु), अथवा प्रत्यय में से जिस में भी उदात्त स्वर स्थित हो, उसी के अर्थ में शब्द का तात्पर्य स्थापित करे ॥११॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

—:०:—

पञ्चमोऽध्यायः

अवग्रहरहित पदों के अर्थों को पहले प्रदर्शित करता हुआ माधव 'प्र मन्महे' (१।६२।१) इत्यादि अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

पदकार (शाकल्य) ने कुछ पदों का अवग्रह (==समास के पदों का पृथक् प्रदर्शन) नहीं किया है। उन के अर्थ का निश्चय भी स्वर से ही करे ॥२॥

निर्विवद्येद् बहुव्रीहेरर्थमादौ स्वरो यदि ।
अथ तत्पुरुषस्यार्थमन्ते तिष्ठति चेत्स्वरः ॥३॥
'जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोणे'ऽस्य दमे मनः ।
'इषा यातं शवीरया' शु यस्याः प्रेरणं तया ॥४॥
'भराम्याङ्गूषमास्येन'स्वरात् तत्पुरुषो भवेत् ।
पर्याप्तो घोष आङ्गूषो घस्थाने गश्च दृश्यते ॥५॥
'यज्ञस्य घोषदसि' इति यजुः केचिदधीयते ।
कठाः 'गोषदसि' इत्येवं गकारादिमधीयते ॥६॥
विशेषेण पनायन्तः 'तद्विप्रासो विपन्यवः' ।
करूळती कृत्तदन्तो 'वामं देवः करूळती' ॥७॥

अवग्रहरहित शब्दों में उदात्त स्वर यदि आदि में मिलता हो, तो बहुव्रीहि समास का अर्थ बताना चाहिये और उदात्त स्वर यदि अन्त में स्थित हो, तो तत्पुरुष समास का अर्थ बताया जाय ॥३॥

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोणे (ऋ० ५।४।५) इस मन्त्र में अवग्रहरहित पद 'दमूनाः' का अर्थ बहुव्रीहि समास के अनुसार होगा—दमे मनः अस्य (संयम में मन है जिस का)। इषा यातं शवीरया (ऋ० १।३०।१७) इस ऋक् में अवग्रहरहित पद 'शवीरया' का अर्थ बहुव्रीहि समास के अनुसार होगा—आशु प्रेरणं यस्याः तया (शीघ्र गति है जिस की उस के द्वारा या साथ) ॥४॥

भराम्याङ्गूषमास्येन (ऋ० १।६१।३) इस ऋक् में अवग्रहरहित पद 'आङ्गूषम्' में अन्तोदात्त स्वर के कारण तत्पुरुष समास है। तदनुसार अर्थ होगा—पर्याप्तो घोष आङ्गूषः (अधिक स्तुति)। इस पद में 'घ' के स्थान में 'ग' दिखाई देता है ॥५॥

यज्ञस्य घोषदसि (तै० सं० १।१।२।१) इस प्रकार कुछ वैदिक विद्वान् यजुःपाठ करते हैं। परन्तु कठ शाखा के विद्वान्—गोषदसि (कठ० १।२) इस प्रकार गकारादि पाठ करते हैं ॥६॥

तद् विप्रासो विपन्यवः (ऋ० १।२२।२१) इस ऋक् में 'विपन्यवः पद का अर्थ है—विशेषेण पनायन्तः (विशेष रूप से स्तुति करते हुए)। वामं देवः करूळती (ऋ० ४।३०।२४) इस ऋक् में 'करूळती' पद का अर्थ है—कृत्तदन्तः (कटे दांतोंवाला) ॥७॥

बहुव्रीहेः स्वरं पश्यन्नर्थं तत्पुरुषस्य च ।
अर्थे स्पष्टे स्वरं जह्याद् 'वरुणं वो रिशादसम्' ॥८॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

—:०:—

षष्ठोऽध्यायः

'इन्द्रो मदाय वावृधे' माधवो व्याचिकीर्षति ।
सर्वानुदात्तशब्दानाम् आदावर्थं प्रदर्शयन् ॥१॥

यदि किसी अवग्रहरहित पद में बहुव्रीहि समास के स्वर (पूर्वपद में उदात्त) और तत्पुरुष समास के अर्थ को देखे, तो अर्थ के स्पष्ट होने पर स्वर को छोड़ दे। उदाहरण है—वरुणं वो रिशादसम् (ऋ० ५।६४।१)।

विविध व्युत्पत्तियों के सम्भव होने पर पदकार अवग्रह का प्रदर्शन नहीं करते हैं। 'रिशादसम्' पद में पदकार ने अवग्रह नहीं दिखाया है। वेङ्कट माधव ने इस पद की व्युत्पत्ति दर्शाई है—रिशताम् असितारम् (वें० मा० भा० ५।६४।१)। स्पष्ट है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार पूर्वपद में उदात्त मिलना सम्भव नहीं है। अतः ग्रन्थकार ने स्वर-त्याग का सुझाव दिया है। ऋग्वेद के प्रकृत स्थल पर सायण-प्रदर्शित व्युत्पत्ति रिशाः शत्रवः तेषां प्रेरकम् (सा० भा० ५।६४।१) भी ऐसी ही है। परन्तु अन्यत्र सायण ने व्युत्पत्ति दी है—रिशानां हिंसकानाम् अदसम् (सा० भा० १।२।७) और तदनुसार उपपद समास मानते हुए गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३८) से उत्तरपद का प्रकृतिस्वर करके स्वरसिद्धि दर्शाई है। इस प्रकार प्रकृत उदाहरण में स्वर-त्याग-कथन ठीक नहीं है।

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

—:०:—

षष्ठोऽध्यायः

सर्वानुदात्त शब्दों के अर्थ को आदि में प्रदर्शित करता हुआ माधव 'इन्द्रो मदाय वावृधे' (ऋ० १।८१।१) इस ऋक् से आरम्भ होनेवाले अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

भवन्ति सर्वानुदात्ता आदेशा युष्मदस्मदोः ।
भवन्ति चेद्वाक्यमध्ये वाम्नौ वो नश्च तेमयौ ॥२॥
'ऋचां त्वः पोषम्' इत्यादौ त्वशब्दश्च निहन्यते ।
चादीनां वाक्यमध्यस्थाश्च चवाहस्मादयस्तथा ॥३॥
उदाहरणमेतेषां बाहुल्यान्न प्रदर्श्यते ।
'हिरण्यकर्णम्' इत्यस्मात् 'मणीग्रीवं' निहन्यते ॥४॥
लौकिकाः कथयन्त्यर्थान् म्लेच्छैः शब्दैश्च साधुभिः ।
उच्चैः प्रयुञ्जते काँश्चित् पदार्थानन्यथाऽपरान् ॥५॥
यथा घटश्च रज्जुश्च चार्थो नीचैः प्रयुज्यते ।
स्थाणुर्वा पुरुषो वेति वार्थश्चैव तथाविधः ॥६॥

युष्मद् और अस्मद् के आदेश—वाम्, नौ, वः, नः, ते तथा मे—यदि वाक्य के मध्य में विद्यमान होते हैं, तो सर्वानुदात्त होते हैं ।

पाणिनीय अनुशासन के अनुसार युष्मद्-अस्मद् के आदेश और उन के सर्वानुदात्तत्व के विधायक सूत्र हैं—पदस्य, पदात्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ, बहुवचनस्य वस्नसौ, तेमयावेकवचनस्य, त्वामौ द्वितीयायाः (अ० ८।१।१६-१८; २०-२३) ॥२॥

ऋचां त्वः पोषम् (ऋ० १०।७१।११) इत्यादि ऋक् में 'त्व' शब्द सर्वानुदात्त होता है । 'च' इत्यादि निपातों में से च, वा, अह, स्म आदि भी वाक्य के मध्य में सर्वानुदात्त होते हैं ॥३॥

इन ('च' आदि) के उदाहरण बहुत अधिक होने के कारण यहां नहीं दिखाये जा रहे हैं । 'हिरण्यकर्णम्' पद से परे 'मणिग्रीवम्' पद सर्वानुदात्त हो जाता है ।

हिरण्यकर्णं मणिग्रीवमर्णस्तन्नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवाः (ऋ० १।१२२।१४) इस ऋक् में 'मणिग्रीवम्' पद सर्वानुदात्त है । ग्रन्थकार ने अपने भाष्य में सर्वानुदात्तत्व का कारण बताया है ॥४॥

लौकिक जन साधु (व्याकरण-सम्मत) तथा असाधु शब्दों के द्वारा अपने अभिप्रायों को प्रकट करते हैं । किन्हीं अभिप्रायों को प्रकट करने के लिये वे उच्च स्वर से शब्दों का प्रयोग करते हैं, अन्य अभिप्रायों को व्यक्त करने के लिए नीचे स्वर से शब्दों का प्रयोग करते हैं ॥५॥

जैसे—'घटश्च रज्जुश्च' यहां 'च' का अर्थ नीचे स्वर से व्यक्त किया जाता है, इसी प्रकार 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यहां 'वा' का अर्थ भी नीचे स्वर से प्रकट किया जाता है ॥६॥

अर्थस्वभावात्सर्वेषां शब्दानामुच्चनीचता ।
स्वभावं तं विजानन्ति लौकिका न त्वलौकिकाः ॥७॥
य उदात्ता निपातेषु नूनं ह्येवकिलादयः ।
उच्चैः प्रदर्शनीयोऽर्थस्तेषामिति विनिश्चयः ॥८॥
उदात्तेषूपसर्गेषु तदर्थः प्रस्फुटो भवेत् ।
समस्तेष्वनुदात्तानां नीचैरर्थं प्रदर्शयेत् ॥९॥
विस्पष्टमुक्तमेतच्च प्रागाख्यातार्थनिर्णये ।
'हिरण्यकर्णम्' इत्यत्र कारणं तत्र वक्ष्यते ॥१०॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

—:०:—

अर्थ स्वभाव (=विशेष तात्पर्य) के कारण सब शब्दों की उच्चता (उदात्तत्व) और नीचता (अनुदात्तत्व) होती है। लोकव्यवहारविद् उस स्वभाव को जानते हैं, लोकव्यवहार से अनभिज्ञ नहीं ॥७॥

निपातों में 'नूनम्', 'हि', 'एव', 'किल' आदि जो निपात उदात्त हैं, उन का अर्थ उच्च स्वर से प्रदर्शित करना चाहिये, यह निश्चय है ॥८॥

उदात्त स्वरवाले उपसर्गों में उन का अर्थ विशेषरूप से स्पष्ट होता है। समासगत अनुदात्त उपसर्गों का अर्थ नीचे स्वर से (गौण रूप से) दिखावे ॥९॥

इस विषय में पहले आख्यातार्थ-निर्णय प्रकरण में बहुत स्पष्ट कहा गया है। 'हिरण्यकर्णम्' से उत्तर 'मणिग्रीवम्' के सर्वानुदात्तत्व का कारण वहीं बताया जायेगा।

स्वरानुक्रमणी के प्रथम अध्याय में आख्यातार्थ-निर्णय किया गया है। हिरण्यकर्णं मणिग्रीवम् (ऋ० १।१२२।१४) के भाष्य में वेङ्कट माधव ने 'मणिग्रीवम्' के निघात का कारण बताया है—'शिरःकण्ठयोः क्रमेण वर्णने च सर्वनिघातं दृष्टम्'। अर्थात् सिर तथा कण्ठ के क्रम से वर्णन करने में सर्वानुदात्तत्व देखा गया है। ग्रन्थकार का आशय सम्भवतः यह है कि यहां एक ही पदार्थ का कथन अङ्गों के क्रम से किया है। 'हिरण्यकर्णम्' पद से ही उस पदार्थ का बोध हो जाने के कारण 'मणिग्रीवम्' पद तात्पर्यग्राहक मात्र है, अतः सर्वानुदात्त है। वैदिक पदानुक्रम कोशकार ने जो यथास्थित का समाधान न कर, 'शोध' का सुझाव दिया है, वह अनावश्यक एवं अनुचित है॥१०॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

—:०:—

सप्तमोऽध्यायः

अध्यायं 'द्वे विरूपे' च माधवो व्याचिकीर्षति ।
अन्वादेशस्य विषये वक्तव्यं सम्प्रदर्शयन् ॥१॥
'अस्य' इति प्रथमादेश उदात्तं स्मर्यते पदम् ।
अन्वादेशे चानुदात्तम्, 'अस्य वामस्य' दृश्यते ॥२॥
'अस्येदु मातुः सवने' ननूदात्तोऽत्र दृश्यते ।
'अस्मा अस्य' इति सूक्तेऽस्मिन्निन्द्र एवापदिश्यते ॥३॥
ऋच्येकस्यामन्वादेश इति वक्तुं न युज्यते ।
'युञ्जन्त्यस्य काम्याया' भिन्नायामपि दर्शनात् ॥४॥

सप्तमोऽध्यायः

अन्वादेश के विषय में बताने योग्य बातों को बताते हुए माधव 'द्वे विरूपे' (ऋ० १।९५।१) इस अध्याय की व्याख्या करना चाहता है।

एक ही अर्थ का प्रतिपादन करके पुनः प्रतिपादन करने को 'अन्वादेश' कहा जाता है ॥१॥

प्रथम कथन में 'अस्य' पद उदात्तवान् स्मरण किया गया है और अन्वादेश में सर्वानुदात्त देखा जाता है। उदाहरण है—अस्य वामस्य (ऋ० १।१६४।१)।

'अस्य वामस्य' इस ऋक् में पहला 'अस्य' पद उदात्तस्वर वाला है, इसी ऋक् में पुनः प्रयुक्त 'अस्य' पद सर्वानुदात्त है। पाणिनीय अनुशासन के अनुसार इदमोऽन्वादेशे० (अ० २।४।३२) तथा ऊडिदम्पदा० (अ० ६।१।१६५) से अनुदात्तत्व होता है ॥२॥

शङ्का है—अस्येदु मातुः सवनेषु (ऋ० १।६१।७) इस ऋक् में 'अस्य' पद उदात्त देखा जाता है। इस सूक्त में 'अस्मा' तथा 'अस्य' पदों से इन्द्र ही कहा गया है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के इकसठवें सूक्त के सभी मन्त्र (अन्तिम को छोड़ कर) 'अस्मा' एवं 'अस्य' से आरम्भ होते हैं। यहां शङ्का यह है कि एक पदार्थ इन्द्र का पुनः कथन होने से यहां अन्वादेश है, तब 'अस्य' पद सर्वानुदात्त क्यों नहीं? ॥३॥

अन्वादेश एक ऋक् में होता है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भिन्न ऋक् में भी अन्वादेश देखा जाता है। जैसे—युञ्जन्त्यस्य काम्या (ऋ० १।६।२)।

पूर्वोक्त शङ्का का समाधान—समान ऋक् में अन्वादेश होता है—कह कर नहीं किया जा

'नास्मै विद्युन्न तन्यतुः', 'नकिरस्य सहन्त्य' च ।
'एवा ह्यस्य सूनृता' ऋचश्चात्र निदर्शनम् ॥५॥
'दिवश्चिदस्य वरिमा' सूक्तादौ च प्रदृश्यते ।
अन्वादेशः पूर्वसूक्ते स्तुतस्यैव पुनः स्तुतौ ॥६॥
अन्वादेशः पादमध्ये सर्वत्रेति न युज्यते ।
यस्मादुदात्ता दृश्यन्ते पादमध्येऽपि तद्यथा ॥७॥
'माकिर्नो अस्य परिषूतिः', 'अग्ने चिकिद्ध्यस्य नः' ।
पादो 'ज्यायांसमस्य' इति सर्वे तत्र निदर्शनम् ॥८॥
पादादिष्वनुदात्तोऽस्य न कदाचन दृश्यते ।
उदात्ताः पादमध्येऽपि दृश्यन्ते बहवस्तथा ॥९॥

सकता, क्यों कि 'युञ्जन्त्यस्य' इस ऋक् में 'अस्य' पद से पूर्व ऋक् में उक्त 'ब्रध्न' (इन्द्र) का परामर्श होता है ॥४॥

ये ऋचाएं भी इस के उदाहरण हैं—नास्मै विद्युन्न तन्यतुः (ऋ० १।३२।१३); नकिरस्य सहन्त्य (ऋ० १।२७।८); एवा ह्यस्य सूनृता (ऋ० १।८।८)।

इस ऋचाओं में भी 'अस्मै', 'अस्य' तथा 'अस्य' पदों से पूर्व ऋचाओं में उक्त क्रमशः इन्द्र, मर्त्य तथा इन्द्र का परामर्श होता है ॥५॥

दिवश्चिदस्य वरिमा (ऋ० १।५५।१) इस उदाहरण में सूक्त के आदि में अन्वादेश दिखाई देता है। पूर्व सूक्त में स्तुत इन्द्र की पुनः स्तुति करने लिए अन्वादेश है।

जब पूर्व सूक्त में कथित पदार्थ का अन्वादेश उत्तर सूक्त में हो सकता है, तब यह मानना कि समान ऋक् में ही अन्वादेश होता है, युक्त नहीं है ॥६॥

पाद के मध्य में सर्वत्र अन्वादेश होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है। क्यों कि पाद के मध्य में भी उदात्त देखे जाते हैं। जैसे—माकिर्नो अस्य परिषूतिः (ऋ० ६।८५।८); अग्ने चिकिद्ध्यस्य नः (ऋ० ५।२२।४); ज्यायांसमस्य (ऋ० ५।४४।८) ये सब पाद इस के उदाहरण हैं ॥७-८॥

'अस्य' पद पादों के आदि में कभी भी अनुदात्त नहीं दिखाई देता (अर्थात् सदा उदात्त ही प्रयुक्त होता है)। उसी प्रकार पादों के मध्य में भी बहुत से उदात्त दिखाई देते हैं ॥९॥

वाक्यादावपदिष्टोऽपि लौकिकैरपदिश्यते ।
उच्चैर्धर्मी ततस्तत्र नान्वादेशस्य सम्भवः ॥१०॥
पूर्वस्मिन् प्रकृतो वाक्ये वाक्यमध्येऽपदिश्यते ।
नीचैरर्थस्वभावेन सोऽन्वादेशः स्मृतो बुधैः ॥११॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

—:०:—

अष्टमोऽध्यायः

'इदं श्रेष्ठम्' अथाध्यायं माधवो व्याचिकीर्षति ।
रूपेऽभिन्ने स्वरे भिन्ने शब्दवृत्तिं प्रदर्शयन् ॥१॥
अर्थाभेदे तु शब्दस्य सर्वत्र सदृशः स्वरः ।
यदा न तं स्वरं पश्येदन्यथार्थं तदा नयेत् ॥२॥

यतः लौकिक जन पूर्वनिर्दिष्ट पदार्थ को भी वाक्य के आदि में उच्च स्वर से परामृष्ट करते हैं, अतः वहां अन्वादेश का सम्भव नहीं है ।

पूर्वोक्त शङ्का का समाधान यही है कि उन स्थलों पर अन्वादेश नहीं है ॥१०॥

पूर्व वाक्य में जिस पदार्थ का प्रसङ्ग आ चुका हो, उस का परामर्श (इदम् सर्वनाम से निर्देश), अर्थ के स्वभाव के कारण नीचे स्वर से किया जाता है । उस निम्न स्वरयुक्त निर्देश को विद्वान् 'अन्वादेश' के नाम से स्मरण करते हैं ॥११॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥७ ।

—:०:—

अष्टमोऽध्यायः

शब्द-रूप समान होने पर भी स्वरभेद के विषय में शब्द की वृत्ति को दिखाते हुए माधव 'इदं श्रेष्ठम्' (ऋ० १।११३।१) इस अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

शब्द के अर्थ का भेद न होने पर सर्वत्र समान स्वर होता है । जब उस स्वर को न देखे, तब अर्थ भी उस से भिन्न प्रकार करे ॥२॥

'पुरूतमं पुरूणाम्' ऋग्भवेत्तत्र निदर्शनम् ।
तमप्चेदनुदात्तः स्यात्तथा ह्यन्यत्र दर्शनम् ॥३॥
'शुष्मिन्तमो हि ते मदो द्युम्निन्तम उत क्रतुः' ।
नात्रोदात्तौ तमौ दृष्टौ दृश्यते तु पुरूतमे ॥४॥
बहून् ग्लपयतीत्यर्थस्तेन तत्र प्रदर्शितः ।
सर्वत्रैवं समानेषु स्वरेणाऽर्थो व्यवस्थितः ॥५॥
'होम गन्तारमूतये', 'जेतारमपराजितम्' ।
'पाता सुतमिन्द्रो अस्तु', 'स चेत्ता देवता पदम्' ॥६॥
'इन्द्रो विश्वस्य दमिता', 'भेत्ता पुरां शश्वतीनाम्' ।
'विभक्तारं हवामहे' तृन्तृचोः स्युर्निदर्शनम् ॥७॥

पुरूतमं पुरूणाम् (ऋ० १।५।२) यह ऋक् समानरूप भिन्नस्वर का उदाहरण है । यदि तमप् होता, तो अनुदात्त होता, क्यों कि अन्यत्र वैसा ही देखा जाता है ।

'पूरूतमम्' पद में 'तम' शब्द उदात्तस्वर युक्त है । इस शब्द का रूप 'तम' प्रत्यय के समान प्रतीत होता है । परन्तु 'तम' प्रत्यय अनुदात्त होता है, जैसा कि अगली कारिका में दिये गये उदाहरणों से प्रकट होता है । पाणिनीय व्याकरणानुसार भी 'तमप्' प्रत्यय अनुदात्तौ सुप्पितौ (अ० ३।१।४) से अनुदात्त होता है ॥३॥

शुष्मिन्तमो हि ते मदो द्युम्निन्तम उत क्रतुः (ऋ० १।१२७।९) इस ऋक् में 'तम' शब्द उदात्त नहीं देखे जाते, परन्तु 'पुरूतमम्' पद में 'तम' उदात्तवान् है ॥४॥

इस लिए उस ऋक् में 'पुरूतम' पद का अर्थ दिखाया गया है—बहून् ग्लपयति (बहुतों को ग्लानि करानेवाला) । इस प्रकार सर्वत्र समान रूपवाले शब्दों में स्वर से अर्थ स्थिर होता है ।

पुरूतमं पुरूणाम् (ऋ० १।५।२) के भाष्य में माधव ने 'पुरूतमम्' का अर्थ किया है—बहूनामुपक्षपयितारम् । मुद्गल तथा सायण ने अर्थ किया है—पुरून् बहून् शत्रून् तमयति ग्लापयतीति पुरूतमः । स्कन्द का अर्थ है—तमु अभिकाङ्क्षायामित्यस्य रूपम् । बहुभिर्योऽभिकाङ्क्ष्यते प्रार्थ्यते याच्यते स पुरूतमः । सायण ने 'तमु ग्लाने' से अच् प्रत्यय करके परादिश्छन्दसि० (६।२।१९९) से स्वरसिद्धि दर्शाई है ॥५॥

होम गन्तारमूतये (ऋ० १।९।९); जेतारमपराजितम् (ऋ० १।११।२); पाता सुतमिन्द्रो अस्तु (ऋ० ६।२३।३); स चेत्ता देवता पदम् (ऋ० १।२२।५); इन्द्रो विश्वस्य दमिता

तृन्तृचोश्चार्थभेदोऽयं प्रकृत्यर्थः स्फुटस्तृनि ।
तृचि स्फुटः प्रत्ययार्थः प्रकृत्यर्थोपसर्जनः ॥८॥
लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तो यः स भूतार्थस्य सूचकः ।
वाचकान्प्रत्ययानाहुस्तत्राकारं स्फुटं वदेत् ॥९॥
नञमाहुरथैके तं प्रतिषेधस्य सूचकम् ।
छान्दसेषु लकारेषु सम्प्रत्यर्थस्य सूचकः ॥१०॥

(ऋ० ५।३४।६); भे॒त्ता पु॒रां शश्व॑तीनाम् (ऋ० ८।१७।१४); वि॒भ॒क्तारं॑ हवामहे (ऋ० १।२२।७) ये तृन्-तृच् प्रत्ययान्त शब्दों के उदाहरण हैं।

इन ऋचाओं में गन्तारम्, जेतारम्, पाता तथा चेत्ता शब्द तृन्प्रत्ययान्त हैं और दमिता, भेत्ता तथा विभक्तारम् शब्द तृच्प्रत्ययान्त हैं ॥६-७॥

तृन्प्रत्ययान्त और तृच्प्रत्ययान्त शब्दों के अर्थ में यह भेद है—तृन्प्रत्ययान्त शब्द में प्रकृति (धातु) का अर्थ प्रधान होता है, जब कि तृच्प्रत्ययान्त शब्द में प्रत्यय का अर्थ प्रधान एवं धातु का अर्थ गौण होता है।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार तृन्नन्तशब्द ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६।१।१९१) से आद्युदात्त और तृजन्त शब्द चितः (अ० ६।१।१५७) से अन्तोदात्त होते हैं ॥८॥

लुङ् लङ् तथा लृङ् में जो उदात्त अट् होता है, वह भूतकाल के अर्थ का सूचक होता है। प्रत्ययों को वाचक कहते हैं। वहां अकार को स्पष्ट बोले।

पाणिनीय व्याकरण में लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (अ० ६।४।७१) से अट् आगम का विधान किया गया है। उदात्त होने के कारण पद में उसी के अर्थ पर विशेष बल दिया जाता है। लुङादि प्रत्यय भूतकाल अर्थ के वाचक हैं और अट् उन्हीं के सन्नियोग से होता है, अतः वह भूतकाल अर्थ का द्योतक है। वैयाकरणों के अनुसार काल धात्वर्थ का विशेषण होता है। आगम होने के कारण अट् धातु का अवयव हुआ, अतः वह भूतार्थ का द्योतक होता है ॥९॥

कुछ आचार्य उस अकार को प्रतिषेध का द्योतक 'नञ्' मानते हैं। छान्दस लकारों में वह सम्प्रति (वर्त्तमान) का द्योतक है।

पाणिनि ने छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३।४।६) से छन्द में लुङ् आदि प्रत्यय धातु-सम्बन्ध में कालसामान्य में विधान किये हैं ॥१०॥

अष्टके प्रथमेऽस्माभिः स्वर इत्थं प्रपञ्चितः ।
स्थापनीयः प्रयत्नेन वाक्यार्थे पण्डितैरयम् ॥११॥

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित् ।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति ॥१२॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इति प्रथमोऽष्टकः ॥१॥

—:०:—

इस प्रकार प्रथम अष्टक में हम ने स्वर को विस्तार से बताया है। विद्वानों को वाक्यार्थ में प्रयत्नपूर्वक इस (स्वर) को स्थापित करना चाहिये ॥११॥

अन्धकार में दीपक की सहायता से चलनेवाला व्यक्ति कहीं भी ठोकर नहीं खाता। इसी प्रकार स्वरों के साहाय्य से निर्णीत पदार्थ स्पष्ट (स्खलनरहित) होते हैं ॥१२॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इति प्रथमोऽष्टकः ॥१॥

—:०:—

द्वितीयोऽष्टकः

२. आख्यातानुक्रणी

प्रथमोऽध्यायः

द्वितीयोऽथाष्टकस्तस्मिन्नध्यायादिषु वक्ष्यते ।
यत्किञ्चिदिह वक्तव्यमाख्यातेष्वस्ति वैदिकैः ॥१॥
चत्वारि पदजातानि तत्र नामानि कानिचित् ।
आख्यातान्युपसर्गाश्च निपाताश्च तथापरे ॥२॥
शब्दैरुच्चरितैर्द्रव्यं यैरिह प्रतिपद्यते ।
तन्नाम कवयः प्राहुरग्निर्वायुस्तथाश्विनौ ॥३॥

द्वितीयोऽष्टकः

२. आख्यातानुक्रमणी

प्रथमोऽध्यायः

अब द्वितीय अष्टक आरम्भ होता है। उस में अध्यायों के आदि में वह सब कुछ बताया जायेगा, जो कुछ आख्यातों के विषय में वैदिकों के द्वारा बताने योग्य है ॥१॥

पद-समूह चार हैं। उन में कुछ नाम हैं, तथा अन्य आख्यात उपसर्ग एवं निपात हैं।

यास्क आदि आचार्यों ने भी इसी प्रकार पदों के चार विभाग किये हैं। तद् यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति (निरु० १।१) ॥ चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च (महा० पस्पशा०) ॥२॥

जिन उच्चरित शब्दों से द्रव्य का बोध होता है, उन को विद्वान् 'नाम' कहते हैं। जैसे—अग्नि, वायु तथा अश्वि।

अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः ।
तन्नाम कवयः प्राहुर्लिङ्गसङ्ख्यासमन्वितम् ॥४॥
निर्देशः कर्म करणं प्रदानमपकर्षणम् ।
स्वाम्यर्थोऽथाधिकरणं विभक्त्यर्थाः प्रकीर्तिताः ॥५॥
नामानि नमयन्त्यर्थं प्रधानमिति नामता ।
कारकाणि च तान्याहुः क्रियां कुर्वन्ति तानि हि ॥६॥
कारकाणां परिस्पन्दः फलस्यैकस्य साधकः ।
लोके पूर्वापरीभूतः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥७॥

शब्दान्तर से यही भाव बृहद्देवता (१।४२) में भी मिलता है, जिसे दुर्ग ने निरुक्तटीका (निरु० १।१) में उद्धृत किया है ॥३॥

जिस शब्द में भिन्न-भिन्न अर्थों में आठ विभक्तियों का प्रयोग किया जाता है और जो लिङ्ग-संख्या से युक्त होता है, उस को विद्वान् 'नाम' कहते हैं ।

यह कारिका स्वल्प भेद से बृहद्देवता (१।४३) में मिलती है । दुर्ग ने निरुक्तटीका (निरु० १।१) में इसे भी उद्धृत किया है । सम्बोधन की पृथक् गणना करके विभक्तियों की संख्या आठ बताई गई है ॥४॥

निर्देश, कर्म, करण, प्रदान, अपकर्षण (हटना), स्वाम्यर्थ (सम्बन्ध) और अधिकरण— ये विभक्तियों के अर्थ कहे गये हैं ।

दुर्ग ने बृहद्देवता की पूर्वोक्त दो कारिकाओं के साथ इस कारिका को भी उद्धृत किया है (निरु० १।१) ॥५॥

'नाम' शब्द प्रधान अर्थ (क्रिया) के प्रति अपने अर्थ को झुका देते हैं, इसलिए उन्हें 'नाम' कहा जाता है । उन को कारक भी कहते हैं, क्यों कि वे क्रिया को करते हैं ।

दुर्ग ने 'नाम' शब्द की व्युत्पत्ति दी है—नमन्त्याख्यातशब्दे गुणभावेन, नमयन्ति वा स्वमर्थमाख्यातशब्दवाच्ये गुणभावेनेति नामानि (निरु० १।१, दुर्ग टीका) ॥६॥

एक फल के साधक, कारकों के आगे-पीछे होनेवाले परिस्पन्दन (संचलन) को लोक में 'क्रिया' कहा जाता है ।

वैयाकरणों का क्रिया का लक्षण है—सपरिस्पन्दनसाधनसाध्या क्रिया (प्रदीपोद्योत १।३।१) । निरुक्त (१।१), निरुक्तदुर्गटीका (१।१) तथा बृहद्देवता (१।४४) भी द्रष्टव्य हैं ॥७॥

वदन्ति वैयाकरणा धातुवाच्यां क्रियां च ताम् ।
कालः सङ्ख्या कारकं च प्रत्ययार्थाः प्रकीर्तिताः ॥८॥
आख्यातस्य च नाम्नश्च सम्बन्धात् स्वार्थदर्शिनः ।
उपसर्गा निपाताश्च न स्वतन्त्रा इति स्थितिः ॥९॥
आख्यातशब्देषु भवन्ति भेदा धातुः क्रियामेकफलां ब्रवीति ।
अर्थे प्रवृत्तेऽविरते च धातोर्लट् स्मर्यते शब्दविदैः पुराणैः ॥१०॥
'सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये' ।
इत्याह गच्छतः सोमान् ऋषिर्हस्तेन दर्शयन् ॥११॥
'प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे' ।
'परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्य इष्टये' ॥१२॥
'तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः' ।
'तदिन्नक्तं तद्दिवा मह्यमाहुस्तदयं केतो हृद आ वि चष्टे ॥१३॥

वैयाकरण क्रिया को धातुवाच्य कहते हैं । काल संख्या, तथा कारक प्रत्ययों के अर्थ कहे गये हैं ॥८॥

उपसर्ग और निपात, आख्यात और नाम के साथ सम्बद्ध होकर अपने अर्थ को द्योतित करते हैं, स्वतन्त्र हुए नहीं ॥९॥

आख्यात शब्दों के अनेक भेद हैं । धातु एकफलोद्देश्यक व्यापार को कहती है । व्यापार के आरम्भ होकर समाप्त न होने तक व्याप्त काल में प्राचीन वैयाकरण धातु से लट् का विधान करते हैं ।

महाभाष्य (अ० ३।२।१२३) में कहा गया है—व्याख्या त्वारम्भानपवर्गात् । अर्थात् व्यापारारम्भ से परिसमाप्ति न होने तक वर्त्तमानकाल मानना उचित है । पाणिनि ने वर्त्तमाने लट् (अ० ३।२।१२३) सूत्र से लट् विधान किया है ॥१०॥

सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये (ऋ० १।५।५) इस ऋक् में ऋषि जाते हुए सोमों को हाथ से दिखाता हुआ बता रहा है ।

यहां 'यन्ति' पद वर्त्तमानकाल तथा 'इमे' सन्निकृष्ट पदार्थ को द्योतित कर रहा है ॥११॥

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे (ऋ० १।१९।१); परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्य इष्टये (ऋ० १।२५।४); तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः (ऋ० १।२४।११); तदिन्नक्तं तद्दिवा मह्यमाहुस्तदयं केतो हृद आ वि चष्टे(ऋ०१।

धात्वर्थस्य प्रवृत्तस्य मन्त्रेष्वेषु प्रतीयते ।
विस्पष्टं वर्तमानत्वमीदृशाः सन्ति चापरे ॥१४॥
भवन्ती वर्तमानस्य सामीप्येऽपि प्रयुज्यते ।
'अग्निमीळे पुरोहितम्', 'सुम्नाय वर्तयामसि' ॥१५॥
'इहेन्द्राग्नी उप ह्वये', 'सुते सोमे हवामहे'।
एते भवन्ति सूक्तादौ सूक्तान्तस्था इमे पुनः ॥१६॥
'अर्कैश्च नि ह्वयामहे', 'तं त्वा वयं पतिमग्ने' ।
'वामवसे जोहवीमि' बहवः सन्ति तादृशाः ॥१७॥
अथापि वर्तमानत्वं क्वचिन्नैव विवक्षितम् ।
'वायविन्द्रश्च चेतथः', 'दक्षं दधाते अपसम्' ॥१८॥
'प्र चेतयति केतुना', 'धियो विश्वा विराजति' ।
'सद्यो दाशुषे क्षरसि' पादास्तत्र निदर्शनम् ॥१९॥

२४।१२) इन मन्त्रों में, आरम्भ हुए धात्वर्थ (व्यापार) की वर्त्तमानता स्पष्ट प्रतीत होती है। ऐसे और भी अनेक मन्त्र हैं ॥१२-१४॥

वर्त्तमानकाल के समीपवर्त्ती भूत-भविष्यत्काल में भी लट् का प्रयोग होता है। जैसे—अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ० १।१।१); सुम्नाय वर्तयामसि (ऋ० ६।६८।१)।

प्राचीन आचार्यों ने 'लट्' के लिये 'भवन्ती' संज्ञा का प्रयोग किया है (महा०३।२।१२३)। पाणिनि ने वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा (अ० ३।३।१३१) सूत्र से वर्त्तमान के समीपवर्त्ती काल में भी वर्त्तमानकाल विहित प्रत्ययों का विधान किया है ॥१५॥

इहेन्द्राग्नी उप ह्वये (ऋ० १।२१।१); सुते सोमे हवामहे (ऋ० ३।४०।१) ये सूक्त के आदि में हैं और सूक्त के अन्त में ये हैं।

सूक्त के आदि में आनेवाले वर्त्तमान-सामीप्य के चार उदाहरण दिये गये हैं। इसी प्रकार सूक्त के अन्त में आनेवाले उदाहरण अगली कारिका में दिये गये हैं ॥१६॥

अर्कैश्च नि ह्वयामहे (ऋ० १।४७।१०); तं त्वा वयं पतिमग्ने (ऋ० १।६०।५); वामवसे जोहवीमि (ऋ० १।३४।१२) ऐसे बहुत से उदाहरण हैं ॥१७॥

कहीं-कहीं लट् होने पर भी वर्त्तमानकाल विवक्षित नहीं होता। जैसे—वायविन्द्रश्च चेतथः (ऋ० १।२।५); दक्षं दधाते अपसम् (ऋ० १।२।९); प्र चेतयति केतुना (ऋ० १।३।

एवं यदादियोगे च, 'यं रक्षन्ति प्रचेतसः'।
'यत्र ग्रावा पृथुबुध्नः', 'यं यज्ञं नयथा नरः' ॥२०॥
'वेद मासो धृतव्रतः', विवक्षापि च दृश्यते।
'यद् देवानां मित्रमहः' 'अग्नेर्भ्राजन्ते अर्चयः' ॥२१॥
तथा तच्छब्दयोगे च, 'स इद् देवेषु गच्छति'।
'येषामिन्द्रस्ते जयन्ति', पादौ तत्र निदर्शनम् ॥२२॥
अथापि दृश्यते भूते, 'कारमंशाय जिन्वथः'।
'शत्रुं न किला विवित्से', 'आण्डा शुष्णस्य भेदति' ॥२३॥
'कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे'।
प्रयुज्यते भवन्त्यत्र कदायोगे भविष्यति ॥२४॥

---

१२); धियो विश्वा वि राजति (ऋ० १।३।१२); सद्यो दाशुषे क्षरसि (ऋ० १।२७।६) ये ऋक्-चरण इस के उदाहरण हैं ॥१८-१९॥

इसी प्रकार 'यद्' आदि के योग में लट् प्रयुक्त होने पर भी वर्त्तमानकाल विवक्षित नहीं होता। जैसे—यं रक्षन्ति प्रचेतसः (ऋ० १।४१।१); यत्र ग्रावा पृथुबुध्नः (ऋ० १।२८।१); यं यज्ञं नयथा नरः (ऋ० १।४१।५); वेद मासो धृतव्रतः (ऋ० १।२५।८)। 'यद्' के योग में प्रयुक्त लट् से वर्त्तमानकाल विवक्षित भी होता है। जैसे—यद् देवानां मित्रमहः (ऋ० १।४४।१२); अग्नेर्भ्राजन्ते अर्चयः (ऋ० १।४४।१२) ॥२०-२१॥

इसी प्रकार 'तद्' शब्द के योग में लट् प्रयुक्त होने पर भी वर्त्तमानकाल विवक्षित नहीं होता। जैसे—स इद् देवेषु गच्छति (ऋ० १।१।४); येषामिन्द्रस्ते जयन्ति (ऋ० ८।१६।५) ये दो पाद उदाहरण हैं ॥२२॥

भूतकाल में भी लट् का प्रयोग देखा जाता है। उदाहरण हैं—कारमंशाय जिन्वथः (ऋ० १।११२।१); शत्रुं न किला विवित्से (ऋ० १।३२।४); आण्डा शुष्णस्य भेदति (ऋ० ८।४०।११) ॥२३॥

कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे (ऋ० १।२५।५) इस ऋक् में कदा के योग में भविष्यत् काल में लट् प्रयुक्त हुआ है।

पाणिनि ने विभाषा कदाकर्ह्योः (अ० ३।३।५) से कदा के योग में भविष्यत्काल में लट् का विधान किया है ॥२४॥

'न ता मिनन्ति मायिनः', 'य ईङ्खयन्ति पर्वतान्' ।
'प्र वेपयन्ति पर्वतान् वि विञ्चन्ति वनस्पतीन्' ॥२५॥

विधाः पराः पदेष्वेषु बहवः सन्ति तादृशः ।
इच्छन्तोऽपि न हिंसन्ति, जातास्तेऽभीङ्खयन्ति च ॥२६॥

दृश्यन्ते चास्यवामीये वृत्तिभेदास्तथाविधाः ।
शब्दज्ञहृदयस्थास्ते शक्याः शब्दैर्न भाषितुम् ॥२७॥

छन्दसोऽनुविधानाय यत्र भूतभविष्यतोः ।
लट् प्रयुक्तो न कालस्य विवक्षा तत्र विद्यते ॥२८॥

कदादियोगे कालस्य भवत्यभिभवो यथा ।
अर्थस्वभावश्च तथा कालं वाक्येषु बाधते ॥२९॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

—:o:—

न ता मिनन्ति मायिनः (ऋ० ३।५६।१); य ईङ्खयन्ति पर्वतान् (ऋ० १।१९।७); प्र वेपयन्ति पर्वतान् वि विञ्चन्ति वनस्पतीन् (ऋ० १।३९।५) इन स्थलों में लट् प्रयोग के अन्य ही प्रकार हैं। ऐसे अनेक प्रयोग हैं। 'न ता मिनन्ति' का अभिप्राय है—'चाहते हुए भी नहीं मारते हैं'। 'य ईङ्खयन्ति' का तात्पर्य है—'वे उत्पन्न होकर हिला देते हैं' ॥२५-२६॥

अस्यवामीय (ऋ० १।१६४) सूक्त में लट् के ऐसे वृत्तिभेद देखे जाते हैं। वे शब्द के ज्ञाता के हृदय में स्थित होते हैं। उन्हें शब्दों से बताया नहीं जा सकता ॥२७॥

छन्द के अनुरोध से मन्त्र में जहां भूत एवं भविष्यत्काल में लट् का प्रयोग मिलता है, वहां काल की विवक्षा नहीं होती ॥२८॥

जिस प्रकार कदा आदि शब्दों के साथ सम्बन्ध होने पर काल दब जाता हैं, इसी प्रकार वाक्यों में अर्थ का स्वभाव भी काल को बाधित करता है ॥२९॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

—:o:—

द्वितीयोऽध्यायः

'सुषुमा यातमद्रिभिः', व्याचिख्यासति माधवः।
प्रदर्शयँल्लिटो वृत्तिं परोक्षे तत्र लिट् स्मृतः ॥१॥
भूतेऽनद्यतने चैव, 'ये अग्नेः परि जज्ञिरे'।
'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्' ॥२॥
'उवासोषा उच्छाच्च नु','ततक्षुर्मनसा हरी'।
दृश्यतेऽद्यतने चापि भूते तत्र निदर्शनम् ॥३॥
'रश्मिरस्या तताने' ति, दिवादृष्टमपश्यतः।
रश्मिं च रात्रौ विततमेष चाद्यतनो मतः ॥४॥

द्वितीयोऽध्यायः

लिट् की वृत्ति को प्रदर्शित करता हुआ माधव 'सुषुमा यातमद्रिभिः' (ऋ० १।१३७।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

परोक्ष अनद्यतन भूतकाल में लिट् का विधान किया गया है। उदाहरण हैं—ये अग्नेः परि जज्ञिरे (ऋ० १०।६२।६); इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् (ऋ० १।२२।१७); उवासोषा उच्छाच्च नु (ऋ० १।४८।३); ततक्षुर्मनसा हरी (ऋ० १।२०।२)। अद्यतन भूतकाल में भी लिट् होता है, इस का उदाहरण अगली कारिका में दिया जाता है।

पाणिनि ने परोक्षे लिट् (अ० ३।२।११५) से परोक्ष अनद्यतन भूतकाल में लिट् का विधान किया है। उपर्युक्त ऋचाओं में जज्ञिरे, चक्रमे, दधे, उवास, ततक्षुः पद लिट्प्रत्ययान्त हैं ॥२-३॥

रश्मिरस्या तताने (ऋ० १।३५।७) दिन में प्रकाशित सूर्य-रश्मि को रात्रि में न देखते हुए (ऋषि) का यह प्रश्न है, अतः यह अद्यतनकाल माना गया है।

क्वे३दानीं सूर्यः कश्चिकेत कतमां द्यां रश्मिरस्या तताने (ऋ० १।३५।७)। इस अर्द्धर्च का भाव यह है—सूर्य इस समय कहां है ? कौन जाने, इस की रश्मि ने किस द्यौ को व्याप्त किया ? पाणिनि ने सामान्य भूतकाल में छन्दसि लिट् (अ० ३।२।१०५) सूत्र से लिट् विधान किया है ॥४॥

अपरोक्षेऽपि लिड् दृष्टो, 'जुहुरे वि चितयन्तः' ।
'आ धृळ्हां पुरं विविशुः', 'सहसानं ववन्दिम' ॥५॥
कर्माणि यौवने चक्रे यानि वव्रिर्ऋषिः पुरा ।
तानि जीर्णः कथयति, स्फुटा चात्रापरोक्षता ॥६॥
यद्वा परोक्षमात्मानं प्रथमेनात्र निर्दिशन् ।
पुरुषेण परोक्षां च क्रियामप्यपदिष्टवान् ॥७॥
'यत्रा नश्चक्रा जरसम्', दृश्यतेऽत्र भविष्यति ।
यद्वा लिण्न्याय्य एवायं देवैः क्लृप्तं ह्यनूद्यते ॥८॥
सृजन्तो हि जगद् देवा मनुष्यस्य शतायुषः ।
जरामकल्पयँस्तस्मादर्थो भूतोऽत्र विद्यते ॥९॥

अपरोक्ष भूतकाल में भी लिट् देखा जाता है । जुहुरे वि चितयन्तः (ऋ० ५।१९।२); आ दृळ्हां पुरं विविशुः (ऋ० ५।१९।२); सहसानं ववन्दिम (ऋ० ५।२५।६) ।

जुहुरे वि चितयन्तोऽनिमिषं नृम्णं पान्ति । आ दृळ्हां पुरं विविशुः (ऋ० ५।१९।२) । वेङ्कट माधव के अनुसार इस ऋक् का अर्थ है—'शत्रुओं को जानते हुए इन्हों ने युद्ध का आह्वान किया, सेना की रक्षा सावधानी से की और शत्रु के दृढ़ नगर में प्रवेश किया'॥५॥

वव्रि ऋषि पूर्व यौवन काल में जिन कर्मों को करता था, वृद्ध होने पर उन का वर्णन कर रहा है । इस प्रकार यहां अपरोक्षता स्पष्ट है ।

माधव के उपर्युक्त कथनों से प्रतीत होता है कि उस ने ऐतिहासिक दृष्टि को स्वीकार किया है ॥६॥

अथवा, यहां प्रथम पुरुष से अपने को परोक्ष निर्देश करते हुए ऋषि ने क्रियावाची पद में भी परोक्ष का व्यवहार किया है ॥७॥

यत्रा नश्चक्रा जरसम् (ऋ० १।८९।९) इस ऋक् में 'चक्र' पद में लिट् भविष्यत् काल में है । अथवा, यह लिट् उचित (यथाकाल) ही है, क्यों कि यहां देवों के द्वारा रची हुई (आयु) का अनुवाद किया गया है । जगत् का निर्माण करते हुए देवों ने सौ वर्ष की आयुवाले पुरुष की वृद्धावस्था की रचना की । अतः यहां भूत अर्थ विद्यमान है ।

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् (ऋ० १।८९।९) इस अर्द्धर्च का अर्थ है—'हे देवो, सौ वर्ष की स्वल्प आयु है, जिस में आप हमारे शरीरों की वृद्धावस्था भी बनाएंगे, अथवा जिस में आपने हमारे शरीरों की वृद्धावस्था भी बनाई थी' ॥८-९॥

यदा न शक्नुयाद्येषु लिटं स्थापयितुं तदा ।
वाक्यार्थानुगुणाँस्ताँस्तान् पण्डितोऽर्थान् प्रदर्शयेत् ॥१०॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

—:०:—

तृतीयोऽध्यायः

'वसू रुद्रा पुरुमन्तू', व्याचिख्यासति माधवः ।
प्रदर्शयल्ँलङो वृत्तिं लुङश्च तदनन्तरम् ॥१॥
भूतेऽनद्यतने लङ् स्याल्लङ् स्मृतोऽद्यतनेऽपि च ।
लिटः परोक्षे स्मरणाल्लङ् प्रत्यक्षेऽवशिष्यते ॥२॥

जब विद्वान् यथाविहित लिट् को स्थापित न कर सके, तब वाक्यार्थ के अनुसार उन-उन अर्थों को प्रदर्शित करे ।

पाणिनीय अनुशासन के अनुसार भी छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३।४।६) सूत्र से धात्वर्थ सम्बन्ध में लिट् प्रत्यय का साधुत्व माना गया है ॥१०॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

—:०:—

तृतीयोऽध्यायः

लङ् और उस के पश्चात् लुङ् की वृत्ति को पहले दिखाता हुआ माधव 'वसू रुद्रा पुरुमन्तू" (ऋ० १।१५८।१) इस अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

अनद्यतन भूतकाल में लङ् होता है और अद्यतन भूतकाल में भी लङ् का स्मरण किया गया है । लिट् के परोक्ष भूतकाल में विहित होने के कारण लङ् प्रत्यक्ष भूतकाल में शेष रह जाता है ।

पाणिनि ने अनद्यतने लङ् (३।२।१११) से अनद्यतन भूतकाल में लङ् का विधान है ॥२॥

लङ् 'इन्द्रो अस्माँ अरदत्', 'अपाहन् वृत्रं परिधिम्' ।
'स्या वो मरुत: स्वधासीद्', 'यन्मामेकं समधत्त' ॥३॥
'किं यविष्ठो न आजगन्', 'तद् वो देवा अब्रुवन्' च ।
'प्रत्यायं सिन्धुमावदन्', 'उपातिष्ठन्त गिर्वण:' ॥४॥
प्रत्यक्षाण्येव सर्वाणि परोक्षे चाऽपि दृश्यते ।
'इन्द्रस्य नु वीर्याणी' ति, सूक्तं तत्र निदर्शनम् ॥५॥
कर्मणामत्र पारोक्ष्यं चकारेति प्रदर्शितम् ।
एवं च सर्वे सूक्तस्था: परोक्षा: स्युरमी लङ: ॥६॥
परोक्षे लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दृष्टिगोचरे ।
लङं कात्यायनो ब्रूते, 'जिहीत पर्वतो गिरि:' ॥७॥

लङ् के उदाहरण हैं—इन्द्रों अस्माँ अरदत् (ऋ० ३।३३।६); अपाहन् वृत्रं परिधिम् (ऋ० ३।३३।६); स्या वों मरुत: स्वधासीद् (ऋ० १।६५।६); यन्मामेकं समधत्त (ऋ० १।१६५।६); किं यविष्ठो न आजगन् (ऋ०१।१६१।१); तद् वों देवा अब्रुवन् (ऋ०१।१६१।२); प्रत्यायं सिन्धुमावदन् (ऋ० १।११।६); उपातिष्ठन्त गिर्वण: (ऋ० १।११।६)।

इन ऋचाओं में लङ् प्रत्ययान्त पद हैं—अरदत्, अपाहन्, आसीद्, समधत्त, आजगन्, अब्रुवन्, प्रत्यायम्, आवदन्, उपातिष्ठन्त॥३-४॥

पूर्व कारिका में उक्त सब उदाहरण प्रत्यक्ष भूतकाल के हैं। परोक्ष भूतकाल में भी लङ् देखा जाता है। इन्द्रस्य नु वीर्याणि (ऋ० १।३२।१) यह सूक्त इस का उदाहरण है ॥५॥

यहां 'चकार' पद से कर्मों की परोक्षता दिखाई गई है। इस प्रकार सूक्त में स्थित ये सभी लङ् परोक्ष भूतकाल में हैं।

प्रकृत सूक्त की प्रथम ऋक् है—इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोंचं यानिं चकारं प्रथमानिं वज्री। अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणां अभिनत् पर्वतानाम्॥(ऋ०१।३२।१)इस का भावार्थ है—'इन्द्र के कार्यों को बताता हूं(बताऊंगा),जिन को वज्रधारी ने प्राचीन काल में किया। मेघ को मारा, जलों को छिन्न-भिन्न किया और पर्वतों से नदियों को बहाया।' यहां 'चकार' पद से परोक्षता प्रतीत होती है। अत: अहन्,अभिनत् आदि लङ् प्रत्ययवाले पद भी परोक्ष भूतकाल का द्योतन करते हैं। ऐतिहासिक पक्ष की मान्यता के कारण माधव ने इस सूक्त में वर्णित कर्मों का पारोक्ष्य प्रतिपादित किया है। वस्तुत: ये प्राकृतिक घटनाएं हैं, जो सृष्टि में सदा ही घटती रहती हैं ॥६॥

लोकप्रसिद्ध, परोक्षभूत, प्रयोग करनेवाले के दर्शनयोग्य काल में कात्यायन ने लङ् विधान किया है। उदाहरण है— जिहीत पर्वतो गिरि: (ऋ० १।३७।७)।

परोक्षे लोकविज्ञाते बहवो वैदिका लङः ।
प्रयोक्तुर्दर्शनायोग्ये विषयेऽपि स्थिता इति ॥८॥
'अधारयन्त वह्नयोऽभजन्त सुकृत्यया' ।
'घनो वृत्राणामभवः', 'सद्यो वृद्धो अजायथाः' ॥९॥
शक्नुवन्त्यृषयो द्रष्टुमतोऽदर्शनगोचराः ।
लङोऽपि च समीचीना इति केचिदवस्थिताः ॥१०॥
दृश्यतेऽद्यतने चापि लङ् 'आयमद्य सुकृतम्' ।
'अवाचचक्षं पदमस्य', 'उग्रं निधातुरन्वायम्' ॥११॥

नि वो यामा॑य मानु॑षो दध्र उ॒ग्राय॑ म॒न्यवे॑ । जिही॑त॒ पर्व॑तो गि॒रिः ॥ (ऋ० १।३७।७) इस ऋक् का भाव यह है—'हे मरुतो,तुम्हारे उग्र वेग से गमन के लिए मनुष्य अपने घरों में गहरे खम्बे गाड़ते हैं, क्योंकि तुम से पर्ववाला गिरि भी कांप जाता है'। यहां माधव का कहना है कि पर्वतों का कम्पन लोकप्रसिद्ध तथा परोक्षभूत है और प्रयोक्ता ऋषि के दर्शन का विषय है। अतः 'जिहीत'में लङ् कात्यायन के परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये(महा०३।२।१११)वार्त्तिकानुसार हुआ है। परन्तु स्वयं वेङ्कट माधव तथा अन्य भाष्यकारों ने यहां वर्तमान काल का अर्थ दर्शाया है ॥७॥

लोकप्रसिद्ध परोक्षभूत काल में बहुत से वैदिक लङ् स्थित हैं, जो प्रयोक्ता के दर्शन के अयोग्य विषय में भी प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण हैं—अधा॑रयन्त॒ वह्न॒योऽभ॑जन्त सु॒कृ॒त्यया॑ (ऋ० १।२०।८); घ॒नो वृ॒त्राणा॑मभवः (ऋ० १।४।८); स॒द्यो वृ॒द्धो अ॑जायथाः (ऋ० १।५।६)।

इन ऋचाओं में अधारयन्त, अभजन्त, अभवः, अजायथाः ये लङ्प्रत्ययान्त पद हैं। वेङ्कट माधव ने 'अजायथाः' का अर्थ 'भवसि' किया है ॥८-९॥

कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं कि ऋषि उन पदार्थों को भी देख सकते हैं (जिन को देखने में सामान्य जन असमर्थ हैं)। अतः पूर्व कारिका में उक्त अदर्शनगोचर लङ् भी युक्त ही हैं (अर्थात् पूर्वोक्त कात्यायन वार्त्तिक के अनुसार उपपन्न हो जाते हैं)॥१०॥

अद्यतन भूतकाल में भी लङ् देखा जाता है। जैसे—आय॑मद्य सु॒कृत॑म् (ऋ०१।१२५।३); अवा॑चचक्षं प॒दम॑स्य (ऋ० ५।३०।२); उ॒ग्रं नि॑धा॒तुरन्वा॑यम् ऋ० (५।३०।२)।

यहां आयम्, आचचक्षम्, आयम् ये लङ् के प्रयोग हैं ॥११॥

प्रत्यक्षे वा परोक्षे वा लुङ् भूतेऽद्यतने भवेत् ।
'अभि स्तोमा अनूषत', 'सनिं मेधामयासिषम्' ॥१२॥
'आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि' ।
'उदगादयमादित्यः', 'एषायुक्तः परावतः' ॥१३॥
'वि सुपर्णो अन्तरिक्षाणि', 'अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः' ।
'अच्छा सिन्धुं मातृतमाम्', अद्यतन्य इमा इति ॥१४॥
अथापि भूतसामान्ये पश्यामोऽद्यतनीमिमाम् ।
'सं वो मदासो अग्मत', 'वधीर्हि दस्युं धनिनम्' ॥१५॥
'अकारि रत्नधातमः', सूक्तादौ लुङ् प्रदृश्यते ।
मनसा निर्मितः स्तोमस्तस्य वक्तुमुपक्रमः ॥१६॥

प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष अद्यतन भूतकाल में लुङ् होता है । अभि स्तोमा अनूषत (ऋ० १।११।८); सनिं मे धामयासिषम् (ऋ० १।१८।६); आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि (ऋ० १।२३।२३); उदगादयमादित्यः (ऋ० १।५०।१३); एषायुक्त परावतः (ऋ० १।४८।७); वि सुपर्णो अन्तरिक्षाणि [अख्यत्] (ऋ० १।३५।७); अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः (ऋ० १।५०।९); अच्छा सिन्धुं मातृतमाम् [अयासम्] (ऋ० ३।३३।३) ये सब लुङ् के उदाहरण हैं ।

अद्यतनी प्राचीन आचार्यों की लुङ् की संज्ञा है । ऊपर की ऋचाओं में अनूषत, अयासिषम्, अचारिषम्, अगस्महि, अगात्, अयुक्त, अख्यत्, अयुक्त, अयासम् ये लुङ् के प्रयोग हैं । पाणिनि ने लुङ् (अ० ३।२।११०) सूत्र से सामान्य भूतकाल में लुङ् का विधान किया है ॥१२-१४॥

भूतकाल सामान्य में भी हम इस लुङ् को देखते हैं—सं वो मदासो अग्मत (ऋ० १।२०।५); वधीर्हि दस्युं धनिनम् (ऋ० १।३३।४) ।

यहां 'अग्मत' तथा 'वधीः' लुङ् के प्रयोग हैं ॥१५॥

अकारि रत्नधातमः (ऋ० १।२०।१) यहां सूक्त के आदि में लुङ् का प्रयोग देखा जाता है । पहले मन से स्तोम को रचा, उस को बताने के लिए यह आरम्भ है ।

अयं देवाय जन्मने स्तोमो विप्रेभिरासया । अकारि रत्नधातमः ॥ (ऋ० १।२०।१)
वेङ्कट माधव के अनुसार इस ऋक् का अर्थ है—'हम मेधावियों ने इस धन देनेवाले स्तोम को देवजन्म के लिए रचा, जिस को अब मुख से प्रकट किया जा रहा है ।' स्पष्ट है, माधव इतिहासपक्ष का आश्रय कर रहा है॥१६॥

ननु भूतलकारेषु सङ्कीर्णेषु ततस्ततः ।
परोक्षादिविभागेऽस्मिन् निर्बन्धः केन पाणिनेः ॥१७॥

विहितेषु लकारेषु भूतमात्रे ततो वयम् ।
तत्तद्वाक्यानुरूपेण वक्ष्यामोऽर्थांस्तथा तथा ॥१८॥

नैवं युक्तं रूपभेदादर्थभेदश्च युज्यते ।
पश्यामोऽपि च वाक्येषु भेदं पाणिनिदर्शितम् ॥१९॥

स्पष्टमेव लकारार्थान् पश्यामो ब्राह्मणेषु च ।
'हरिश्चन्द्रो ह वैधसः' शौनःशेपं निरीक्ष्यताम् ॥२०॥

तस्माद्यथातथा भूते परोक्षाद्यतनादिकम् ।
प्रदर्शयेत् प्रयत्नेन मन्त्रेष्वपि च पण्डितः ॥२१॥

स्पष्टः संवादसूक्तेषु परोक्षाद्यतनादिकः ।
तथान्येषु च सूक्तेषु न तं भेदं परित्यजेत् ॥२२॥

शङ्का है—जब भूतकाल के लकारों (लिट्-लङ्-लुङ्) में सम्मिश्रण उपलब्ध होता है, तो पाणिनि का इस परोक्ष-अनद्यतन आदि विभाग में आग्रह क्यों है ? भूतकालमात्र में लकारों का विधान होने पर तब तो हम उस-उस वाक्य के अनुरूप वैसे-वैसे अर्थों को बता देंगे॥१७-१८॥

समाधान है—यह कथन ठीक नहीं, क्यों कि एक तो रूपभेद के कारण अर्थभेद होना युक्त ही है । दूसरे, पाणिनि के द्वारा प्रदर्शित भेद को हम वाक्यों में देखते भी हैं ॥१९॥

लकारों के अर्थों को हम ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी स्पष्ट देखते हैं । उदाहरणार्थ—'हरिश्चन्द्रो ह वैधसः' (ऐ० ब्रा० ७।१३) इत्यादि शौनःशेप ब्राह्मण को देखिये ।

ऐतरेय ब्राह्मण (७।१३) में शुनःशेप की कथा के प्रसङ्ग में 'आस' 'बभूव' 'लेभे' आदि पद भूतकाल-सम्बन्धी लिट् आदि लकारों के हैं ॥२०॥

इसलिए विद्वान् प्रयत्नपूर्वक जैसे सम्भव हो वैसे मन्त्रों में भी भूतकालविषयक परोक्ष-अद्यतन आदि को दिखावे ॥२१॥

संवादसूक्तों में तो परोक्ष-अद्यतन आदि का भेद स्पष्ट ही है । इसी प्रकार अन्य सूक्तों में भूतकाल के उस भेद का त्याग न करे ॥२२॥

न पश्यति यदा मन्त्रे तं विशेषं प्रयत्नतः ।
अपि वैकाङ्गविकलं भवति च्छान्दसं तदा ॥२३॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

—:०:—

चतुर्थोऽध्यायः

अध्यायं 'तन्नु वोचाम' व्याचिख्यासति माधवः ।
प्रदर्शयँल्लिङो वृत्तिं बहुष्वर्थेषु लिङ् स्मृतः ॥१॥
कर्तव्यता-प्रतीतिस्तु सर्वेष्वर्थेषु विद्यते ।
विध्यादयः काकुभेदात् षड् भवन्तीति पण्डिताः ॥२॥

जब विद्वान् मन्त्र में प्रयत्न करने पर भी उस भेद को नहीं देखता है, अथवा किसी अंश से रहित देखता है, तब वह प्रयोग छान्दस होता है ।

ऊपर की कारिकाओं में ग्रन्थकार ने पाणिनीय शास्त्र के अनुसार भूतकाल के परोक्ष-अनद्यत्व आदि भेदों को मन्त्रस्थ क्रियावाची पदों में प्रदर्शित करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है । इस सम्पूर्ण प्रसङ्ग में माधव का ध्यान पाणिनि के छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३।४।६) तथा छन्दसि लिट् (अ० ३।२।१०५) आदि सूत्रों की ओर नहीं गया, आश्चर्य है ! ॥२३॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

—:०:—

चतुर्थोऽध्याय।

लिङ् की वृत्ति को दिखाता हुआ माधव'तन्नु वोचाम' (ऋ० १।१६६।१)अध्याय की व्याख्या करना चाहता है । बहुत अर्थों में लिङ् का स्मरण किया गया है ॥१॥

सभी अर्थों में कर्त्तव्यता की प्रतीति तो विद्यमान रहती है । विद्वानों का मत है कि काकु (तात्पर्य) के भेद से लिङ् के विधि आदि छह अर्थ होते हैं ।

पाणिनि का सामान्य लिङ्-विधायक सूत्र है—विधिनिमन्त्रण० (अ० ३।३।१६१) ॥२॥

'न दुरुक्ताय स्पृहयेत्', 'पृणीयात्' इति चापरम् ।
विधावुदाहरन्त्येतौ प्रेषणं विधिरुच्यते ॥३॥
निमन्त्रणामन्त्रणयोर्भेदमाह पतञ्जलिः ।
एवं तर्हि नियोगतः कर्त्तव्यं तन्निमन्त्रणम् ॥४॥
आमन्त्रणं कामचारः तत्र नाकुर्वतो भयम् ।
अधीष्टं नाम सत्कारपूर्वा व्यापाराणां विदुः ॥५॥
दृश्यन्ते बहवोऽस्माभिः प्रार्थनाविषयाः लिङः ।
'तयोरिदवसा वयम्', 'सं युज्याव सनिभ्य आ' ॥६॥
'विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः' ।
'अवैनं राजा वरुण', 'अन्तर्निहिताः केतवः स्युः' ॥७॥
विधीयते चाशिषि लिङ्ङाशीर्धर्मः प्रयोक्तरि ।
'मयोभुवा सुप्रणीती', 'भूयाम वाजदाव्नाम्' ॥८॥

न दु॒रुक्ताय॑ स्पृहयेत् (ऋ० १।४१।९) और पृ॒णीयात् (ऋ० १।११७।५) इन दोनों को विधि अर्थ में उदाहृत करते हैं। प्रेषण (आदेश) को विधि कहा जाता है ॥३॥

पतञ्जलि ने निमन्त्रण तथा आमन्त्रण के भेद को बताया है। अनिवार्यतः पालन करने योग्य आज्ञा को निमन्त्रण कहा जाता है, जब कि इच्छानुसार पालन करने या न करने योग्य आज्ञा को आमन्त्रण। आमन्त्रण में न करनेवाले को भय नहीं होता। सत्कारपूर्वक कार्य में लगाने का नाम अधीष्ट समझा जाता है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने विधिनिमन्त्रणा० (अ० ३।३।१६१) सूत्र के भाष्य में निमन्त्रण-आमन्त्रण का भेद और अधीष्ट का अर्थ प्रायः इन्हीं शब्दों में दर्शाया है ॥४-५॥

हमें बहुत से प्रार्थनाविषयक लिङ् दिखाई देते हैं। उदाहरण हैं—त॒योरिदव॑सा व॒यं स॒नेम (ऋ० १।१७।६); सं यु॑ज्याव स॒निभ्य॒ आ (ऋ० ८।६२।११); वि॒द्युर्मे॑ मे अस्य दे॒वा इन्द्रो॑ विद्यात् स॒ह ऋषि॑भिः (ऋ० १।२३।२४); अवै॑नं॒ राजा॒ वरु॑णः ससृज्याद् (ऋ० १।२४।१३); अ॒न्तर्नि॑हिताः के॒तवः॑ स्यु॒ः (ऋ० १।२४।७)।

इन ऋचाओं में सनेम, युज्याव, विद्युः, विद्यात्, ससृज्याद्, स्युः इन पदों में प्रार्थना में लिङ् है ॥६-७॥

आशीः अर्थ (शुभकामना) में लिङ् का विधान किया जाता है। आशीष् (शुभकामना)

हेतुहेतुमतोर्लिङ् स्याद्, 'यदिन्द्राहं यथे' ति सः ।
अधीष्टस्योदाहरणम्, 'उतो न उत्पुपूर्याः' ॥९॥
'अद्या मुरीय' लिङ्ङयं, विध्यादिषु न कश्चन ।
'अप्यू नु पत्नीः' इति च, दृश्यतेऽन्या विधा तथा ॥१०॥
एवं प्रकारा बहवो लिङोऽस्माभिः प्रदर्शिताः ।
सन्ति चान्येऽपि बहवः पश्येत्तांश्चापि पण्डितः ॥११॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

—:०:—

प्रयोग करनेवाले में रहता है । जैसे—मयोभुवा सु प्रणीती गमेम (ऋ० ५।४२।१८); भूयाम वाजदाव्नाम् (ऋ०१।१७।४) ।

यहां गमेम तथा भूयाम पदों में आशीर्वाद में लिङ् है । पाणिनीय शास्त्र में आशिषि लिङ्लोटौ (अ० ३।३।१७३) से आशीर्वाद में लिङ् विहित है ॥८॥

हेतु (कारण) तथा हेतुमान् (कार्य) अर्थ में लिङ् होता है । जैसे—यदिन्द्राहं यथा (ऋ० ८।१४।१) । अधीष्ट का उदाहरण है—उतो नु उत्पुपूर्याः (ऋ० ५।६।९) ।

पाणिनि ने हेतुहेतुमतोर्लिङ् (अ० ३।३।१५६) सूत्र से हेतुहेतुमदर्थ में लिङ् का विधान किया है । यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् । स्तोता मे गोषखा स्यात् ॥ (ऋ०८।१४।१) इस ऋक् में 'ईशीय' तथा 'स्यात्' पदों में हेतुहेतुमदर्थ में लिङ् है । ऋक् का भाव है—'हे इन्द्र ! यदि मैं तुम जैसा धनों का स्वामी हो जाऊं, तो गौओं का इच्छुक मेरा स्तोता हो जाय । अधीष्ट का उदाहरण है—'पुपूर्याः' (सत्कारपूर्वक पूर्ण कर) ॥९॥

अद्या मुरीय (ऋ० ७।१०४।१५) इस ऋक् में वर्त्तमान लिङ् विधि आदि में से किसी अर्थ में नहीं है । इसी प्रकार अप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः (ऋ० १।१७९।१) इस ऋक् में भी अन्य ही प्रकार दिखाई देता है ।

यास्क ने निरुक्त (७।३) में 'अद्या मुरीय' ऋक् में शपथ विषय दर्शाया है । यहां 'मुरीय' पद में लिङ् है । 'अप्यू नु' ऋक् में 'जगम्युः' पद में लिङ् है ॥१०॥

इस प्रकार हमने लिङों के अनेक प्रकार दिखाये हैं । अन्य भी अनेक प्रकार हैं । विद्वान् उन को भी देखें ॥११॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

—:०:—

पञ्चमोऽध्यायः

'ता वामद्य तावपरम्', व्याचिख्यासति माधवः ।
लोटः प्रदर्शयन् वृत्तिं लेटश्च तदनन्तरम् ॥१॥
लोड्लेटावपि विध्यादौ स्मृतौ यत्र लिङो विधिः ।
'ऋजीते परि वृङ्धि नः', विधिराशीश्च याचनम् ॥२॥
'नाहमतो निरये' ति, लोटः सर्वे विधायकाः ।
वचनव्यक्तिभेदस्तु वाक्यसंयोगतः कृतः ॥३॥
'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' अस्योदाहरणं विदुः ।
'प्रेह्यभीहि धृष्णुही' ति, शत्रुष्वित्थं करोति सः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

पहले लोट् और उस के पश्चात् लेट् की वृत्ति को दिखाता हुआ माधव 'ता वामद्य तावपरम्' (ऋ० १।१८४।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

जिन अर्थों में लिङ् का विधान किया गया है, उन्हीं विधि आदि अर्थों में लोट् एवं लेट् भी होते हैं। ऋजीते परि वृङ्धि नः (ऋ० ६।७५।१२) इस ऋक् में लिङ् विधि आशिष् और याचन अर्थ में है।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार लोट् च (अ० ३।३।१६२) और लिङर्थे लेट् (अ० ३।४।७) सूत्रों से लोट् तथा लेट् का विधान विधि आदि अर्थों में होता है ॥२॥

नाहमतो निरय (ऋ० ४।१८।२) इस ऋक् में सम्पूर्ण लोट् विधि अर्थ में हैं। वचनभेद तथा पुरुषभेद वाक्य-संयोग के कारण हुआ है।

उपर्युक्त नाहमतो निरया दुर्गहैतत् तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि ।...युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै ॥(ऋ० ४।१८।२)ऋक् में अय, गमानि, युध्यै, पृच्छै पदों में लोट् है। माधव के मतानुसार 'अय' पद में वाक्यसंयोग के कारण पुरुषभेद है ॥३॥

क्रियाओं के समुच्चय को द्योतन करने के लिए विकल्प से लोट् का प्रयोग किया जाता है। इसका उदाहरण बताते हैं—प्रेह्यभीहि धृष्णुहि (ऋ० १।८०।३) । शत्रुओं के प्रति वह (इन्द्र) इस प्रकार कार्य करता है।

इस ऋक् में प्रेहि, अभीहि, धृष्णुहि इन पदों में माधव के अनुसार, समुच्चय में लोट् है। पाणिनि ने धात्वर्थ-सम्बन्ध होने पर समुच्चयेऽन्यतरस्याम् (अ० ३।४।३) से लोट् और

दृश्यन्ते बहवो लेटः प्रार्थनाविषया इह ।
'स देवाँ एह वक्षति', 'यक्षच्च पिप्रयच्च नः' ॥५॥
'त्रिमूर्धानं सप्तरश्मिम्', अयं लेट् स्याद्विधायकः ।
अथापि वर्तमानेऽर्थे, 'यो यजाति यजात इत्' ॥६॥
'अग्निना रयिमश्नवत्', बहवः सन्ति तादृशाः ।
'आ घा गमद्यदि श्रवत्' हेतुहेतुमतोरिमौ ॥७॥
वाक्यार्थानुगुणं लोटो लेटश्चार्थं प्रदर्शयेत् ।
व्युत्पत्त्यर्थमिमाः काश्चिदृचोऽस्माभिः प्रदर्शिताः ॥८॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

—:०:—

समुच्चये सामान्यवचनस्य (अ० ३।४।५) से सामान्यवचन के अनुप्रयोग का विधान किया है । सम्भवत: माधव का ध्यान धातुसम्बन्ध तथा अनुप्रयोग की ओर नहीं गया ।।४।।

वेद में प्रार्थना अर्थ में बहुत से लेट् दिखाई देते हैं । जैसे—स देवाँ एह वक्षति (ऋ० १।१।२); यक्षच्च पिप्रयच्च नः (ऋ० ८।३१।९) ।

इन ऋचाओं में वक्षति, यक्षत् पदों में लेट् है ।।५।।

त्रिमूर्धानं सप्तरश्मिं गृणीषे (ऋ० १।१४६।१) इस ऋक् में लेट् विधि अर्थ में है । वर्त्तमान अर्थ में लेट् प्रयुक्त होता है । जैसे—यो यजाति यजात इत् (ऋ० ८।३१।१); अग्निना रयिमश्नवत् (ऋ० १।१।३) । ऐसे प्रयोग बहुत हैं । आ घा गमद्यदि श्रवत् (ऋ० १।३०।८) इस ऋक् में दोनों लेट् हेतुहेतुमदर्थ में हैं ।

'त्रिमूर्धानं'० ऋक् में 'गृणीषे' पद में विधि अर्थ में लेट् है । यजाति, यजाते (यज्ञ करता है), अश्नवत् (प्राप्त करता है) में वर्त्तमानकाल में लेट् है । आ घा गमद् यदि श्रवत (यदि सुनता, तो अवश्य आ जाता) यहां हेतु-हेतुमान् अर्थ में लेट् है । पाणिनि ने लिङर्थे लेट्; उपसंवादाशङ्कयोश्च (अ० ३।४।७,८) सूत्रों से लेट् विधान किया है ।।६-७।।

वाक्यार्थ के अनुसार लोट् तथा लेट् के अर्थ को दिखावे । हमने ये कुछ ऋचाएं व्युत्पत्ति के लिए दिखाई हैं ।।८।।

इति पञ्चमोऽध्यायः ।।५।।

—:०:—

षष्ठोऽध्यायः

'नि होता होतृषदने', व्याचिख्यासति माधवः ।
लृटः प्रदर्शयन् वृत्तिं लुटश्च तदनन्तरम् ॥१॥
लृट् 'स्तविष्यामि त्वामहम्', 'न जातो न जनिष्यते' ।
'यन्मानुषान् यक्ष्यमाणान्', 'अग्ने भद्रं करिष्यसि' ॥२॥
'यानि करिष्या कृणुहि', 'प्र हिन्वानः' 'अग्रेगो राजा' ।
'वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन्', 'वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति' ॥३॥
दृष्टो लृटः प्रयोगोऽल्पो लुटस्त्वल्पतरस्ततः ।
दृश्यन्ते ब्राह्मणे तस्य, 'कस्य वा श्वो भवितेति' ॥४॥
'श्वो यज्ञे प्रयोक्तासे', 'श्वो विषुवान् भवितेति' च ।
शाट्यायनकं 'तदेवाऽऽगत्य श्वो वक्तारावित्ति' ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

लृट् और उस के पश्चात् लुट् की वृत्ति को दिखाता हुआ माधव 'नि होता होतृषदने' (ऋ० २।९।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

लृट् के उदाहरण हैं—स्तविष्यामि त्वामहम् (ऋ० १।४४।५); न जातो न जनिष्यते (ऋ० १।८१।५); यन्मानुषान् यक्ष्यमाणान् (ऋ० १।११३।९); अग्ने भद्रं करिष्यसि (ऋ० १।१।६); यानि करिष्या कृणुहि (ऋ० १।१६५।९); प्र हिन्वानो···सनिष्यन् (ऋ० ९।९०।१); अग्रे गो राजाप्यंस्तविष्यते (ऋ० ९।८६।४५); वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन् (ऋ० ४।८५।११); वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति (ऋ० ६।७५।३) ।

इन ऋचाओं में लृट् के प्रयोग हैं—स्तविष्यामि, जनिष्यते, यक्ष्यमाणान्, करिष्यसि, करिष्या, सनिष्यन्, तविष्यते, हनिष्यन् वक्ष्यन्ती । पाणिनि ने लृट् शेषे च (अ० ३।३।१३) से लृट् का विधान किया है ॥२-३॥

लृट् का प्रयोग अल्प है । लुट् का प्रयोग तो उस से भी अल्प है । लुट् के प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों में देखे जाते हैं । जैसे—कस्य वा श्वो भवितेति (तै०ब्रा०१।६।६।४); श्वो यज्ञे प्रयोक्तासे (तै० सं० २।६।२।३); श्वो विषुवान् भवितेति (तां० ब्रा० ४।४।७); तदेवागत्य श्वो वक्तारौ (तु०—जैमि० ब्रा० ३।१२४) ।

लृटो लोटश्च विषये दृश्यन्ते च लिङादयः ।
'वयमद्येन्द्रस्य प्रेष्ठाः', 'प्रातर्मक्षू धियावसुः' ॥६॥
'हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे' लेड् भविष्यति ।
अपि वा लड् वर्तमानसामीप्येऽयं भवेदिति ॥७॥
हेतुहेतुमद्भावे च प्रयुज्येते लृटौ क्वचित् ।
'एकं चमसं चतुरः' तत्र स्याद्दङ्निदर्शनम् ॥८॥
स्मर्यते लिङ्निमित्ते लृङ् क्रिया यत्रातिपद्यते ।
'वो वृत्राय सिनमत्र' भूतमात्रे तु दृश्यते ॥९॥

इन स्थलों में लुट् के उदाहरण हैं—भविता, प्रयोक्तासे, भविता, वक्तारौ। पाणिनि ने अनद्यतने लुट् (अ० ३।३।१५) से लुट् का विधान किया है ॥४-५॥

लृट् और लोट के विषय में लिङ् आदि भी देखे जाते हैं। जैसे—वयमद्येन्द्रस्य प्रेष्ठा वयं श्वो वोचेमहि समर्ये (ऋ० १।१६७।१०); प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् (ऋ० १।५८।६)।

उपर्युक्त ऋचाओं में क्रमशः 'वोचेमहि' तथा 'जगम्यात्' पदों में लिङ् वर्त्तमान है, परन्तु अनद्यतन भविष्यत् अर्थ गम्यमान है। यह लुट् का विषय है। अतः कारिका में 'लोट्' के स्थान पर 'लुट्' पाठ होना उचित है ॥६॥

हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे (ऋ० १०।१०८।४) यहां भविष्यत् काल में लेट् प्रयुक्त है। अथवा वर्त्तमान के समीपवर्त्ती (भविष्यत्) काल में यह लट् हो सकता है।

यहां 'शयध्वे' पद में लेट् अथवा लट् है ॥७॥

हेतुहेतुमद्भाव में भी कहीं-कहीं लृट् का प्रयोग होता है। इस में एकं चमसं चतुरः (ऋ० १।१६१।२) ऋक् उदाहरण है।

इस ऋक् में कहा गया है—...यद्येवा करिष्यथ साकं देवैर्यज्ञियासो भविष्यथ' (यदि ऐसा करोगे, तो देवों के साथ यज्ञार्ह होगे) ॥८॥

लिङ् के निमित्त में लृङ् का भी विधान किया गया है, जहां क्रिया किसी कारणवश निष्पन्न नहीं हो पाती। परन्तु यो वृत्राय सिनमत्राभरिष्यत् (ऋ० २।३०।२) इस ऋक् में भूतमात्र में लृङ् का प्रयोग है।

इस ऋक् में 'अभरिष्यत्' पद में लृङ् है, जो भूतकाल को द्योतित करता है। पाणिनि ने भूत-भविष्यत् काल में लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ; भूते च (अ० ३।३।१३९,१४०) आदि सूत्रों से लृङ् का विधान किया है ॥९॥

क्रियातिपत्तिर्बहुशो ब्राह्मणेषु प्रदृश्यते ।
अध्यायादिष्विमे सर्वे लकाराः सम्प्रदर्शिताः ॥१०॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

—:०:—

सप्तमोऽध्यायः

'सेमामविड्ढि प्रभृतिम्', व्याचिख्यासति माधवः ।
तत्राक्रियेषु वाक्येषु कर्त्तव्यमुपदिश्यते ॥१॥
अपेक्षया क्रियाक्षेपः कारकाणामिति स्थितिः ।
'यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन्' परिचरन्ति ॥२॥
'दस्रा ह यद्रेक्णः' इति याचते वामिति क्रिया ।
'ता जिह्वया सदमेदं सुमेधाः' याचते जलम् ॥३॥

ब्राह्मण ग्रन्थों में क्रियातिपत्ति के बहुत प्रयोग दिखाई देते हैं । अध्यायों के आदि में ये सब लकार दिखा दिये गये ॥१०॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

—:०:—

सप्तमोऽध्यायः

माधव 'सेमामविड्ढि प्रभृतिम्' (ऋ० २।२४।१) इस अध्याय की व्याख्या करना चाहता है । यहां पहले यह उपदेश किया जा रहा है कि क्रियावाची पद से रहित वाक्यों में क्या किया जाय ॥१॥

सिद्धान्त यह है कि कारकों की अपेक्षा से क्रियावाची पद का आक्षेप (अनुमान=अध्याहार) कर लिया जाय । उदाहरणार्थ—यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन् (ऋ० १।४३।९) इस ऋक् में 'परिचरन्ति' पद का अध्याहार किया जाता है ॥२॥

दस्रा ह यद्रेक्णः (ऋ० १।१५८।१) इस ऋक् में 'याचते' क्रिया का अध्याहार किया जाता है और ता जिह्वया सदमेदं सुमेधाः (ऋ० ६।६७।८) यहां 'याचते जलम्' का आक्षेप होता है ॥३॥

उपसर्गाः प्रयुज्यन्ते क्रियाक्षेपाय च क्वचित् ।
'यस्ते सखिभ्य आ वरम्', आप्रयच्छेदिति क्रिया ॥४॥
'इमे सोमास इन्दवः सुतासो अधि' आसते क्रिया ।
'अर्चन्ननु स्वराज्यम्' इत्यत्रान्वास्ते क्रियापदम् ॥५॥
पश्येद् यदादियोगेऽपि निहतं यदि तिङ्पदम् ।
मध्ये क्रियापदाक्षेपस्तत्तद्वाक्यानुरूपतः ॥६॥
'महाँ इन्द्रो य ओजसा', 'प्र यद् दिवो हरिवः' च ।
'न यो वराय मरुताम्', ऋचस्तत्र निदर्शनम् ॥७॥
'अश्वं न त्वा वारवन्तम्', 'मनोजवेभिरिषिरैः' ।
'ऋता यद् गर्भमदितिः', आक्षिपन्ति क्रियामिमाः ॥८॥

कहीं-कहीं उपसर्ग प्रयुक्त होते हैं, जो क्रिया के अध्याहार के निमित्त बन जाते हैं । जैसे—यस्ते सखिभ्य आ वरम् (ऋ० १।४।४) इस ऋक् में 'आ' से 'आ प्रयच्छेत्' पद का अध्याहार होता है ॥४॥

इमे सोमास इन्दवः सुतासो अधि (ऋ० १।१६।६) यहां 'अधि' से 'आसते' क्रिया-वाची पद और अर्चन्ननु स्वराज्यम् (ऋ० १।८०) सूक्त में 'अन्वास्ते' क्रियापद का अध्याहार होता है ॥५॥

यद् इत्यादि के योग में यदि तिङन्त पद को सर्वानुदात्त देखे, तो उस-उस वाक्य के अनुरूप बीच में क्रियावाची पद का अध्याहार करे । महाँ इन्द्रो य ओजसा (ऋ० ८।६।१); प्र यद् दिवो हरिवः (ऋ० १।३३।५); न यो वराय मरुताम् (ऋ० १।१४३।५) ये ऋचाएं इस के उदाहरण हैं ।

माधव ने इन स्थलों पर क्रमशः 'भवति', 'अतिष्ठथाः', 'शक्यते' पदों का अध्याहार किया है ॥६-७॥

अश्वं न त्वा वारवन्तम् (ऋ० १।२७।१); मनोजवेभिरिषिरैः (ऋ० ६।६२।३); ऋता यद् गर्भमदितिः (ऋ० ६।६७।४) ये ऋचाएं क्रियापद को अध्याहृत करती हैं ।

इन ऋचाओं के भाष्य में माधव ने क्रमशः 'उपक्रमे', 'क्रियते' (हन्यते), 'ऐच्छत्' पदों का अध्याहार किया है ॥८॥

यदोपमेये नान्वेति क्रियाशब्दस्तदाऽपि च ।
उपमेयान्वये योग्यामन्यामध्याहरेत् क्रियाम् ॥९॥
'नासत्याभ्यां बर्हिरिव', 'सनाद्राजभ्यो जुहोमि' ।
'अग्नाविव समिधाने', ऋचस्तत्र निदर्शनम् ॥१०॥
'यच्चिद्धि ते विशो यथा', 'स नो वृष्टिं दिवस्परि' ।
अपेक्षेते क्रियामेते इत्याक्षेपः प्रपञ्चितः ॥११॥
इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

—:०:—

अष्टमोऽध्यायः

'मन्दस्व होत्रात्' अध्यायं व्याचिख्यासति माधवः ।
दर्शयन्नात्मनेपदप्रयुक्तं भेदमादितः ॥१॥

जब क्रियापद उपमेय के साथ अन्वित नहीं होता, तब भी उपमेय के साथ अन्वय के योग्य अन्य क्रियापद का अध्याहार करे। नासत्याभ्यां बर्हिरिव (ऋ० १।११६।१); सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि(ऋ० २।२७।१); अग्नाविव समिधाने (ऋ० २।१६।१) ये ऋचाएं इस के उदाहरण हैं।

माधव ने इन ऋचाओं के भाष्य में क्रमश; 'प्रवृङ्क्ते', 'प्रब्रवीमि', 'प्रभरन्ति' क्रियापदों का अध्याहार क्रिया है ।।९-१०।।

यच्चिद्धि ते विशो यथा (ऋ० १।२५।१); स नो वृष्टिं दिवस्परि (ऋ० २।६।५) ये दोनों ऋचाएं भी क्रियापद की अपेक्षा रखती हैं। इस प्रकार अध्याहार का वर्णन विस्तार से किया गया।

इन ऋचाओं के भाष्य में माधव ने क्रमश: 'हिंसन्ति' (बृहद्भाष्य) तथा 'देहि' क्रियापदों का अध्याहार किया है ।।११।।

इति सप्तमोऽध्यायः ।।७।।

—:०: -

अष्टमोऽध्यायः

आदि में आत्मनेपद के कारण होनेवाले भेद को दिखता हुआ माधव 'मन्दस्व होत्रात्' (ऋ० २।३७।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ।।१।।

किमत्र कारणं ब्रूहि धातवोऽमी व्यवस्थिताः ।
परस्मैपदिनः केचिदात्मनेपदिनोऽपरे ॥२॥
आत्मनेपदमेवैषु दृश्यते भावकर्मणोः ।
उदाहरणमेतेषां बहुत्वान्न प्रदर्श्यते ॥३॥
वदन्ति तत्र कवयः स्वभावादिह केचन ।
अभिसंयन्ति कर्तारम्, 'अग्निमीळे पुरोहितम्' ॥४॥
फलं स्तुतेः स्वभावेन कर्तारमुपगच्छति ।
अन्यार्थत्वं स्तुतेर्यत्नात् प्रतिपाद्यमिति स्थितिः ॥५॥
आत्मनेपदिनस्ते स्युः परस्मैपदिनोऽपरे ।
ईक्षतेः पश्यतेश्चापि भेदः सूक्ष्मोऽस्ति कश्चन ॥६॥

बताईये, इस का क्या कारण है कि ये धातुएं व्यवस्थित हैं– कुछ परस्मैपदी हैं और दूसरी आत्मनेपदी हैं ? ॥२॥

इन में भाव और कर्म विवक्षित होने पर आत्मनेपद ही दीखता है। इन के उदाहरण अधिकता के कारण यहां नहीं दिखाये जा रहे हैं।

पाणिनि ने अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (अ० १।३।१२) सूत्र से आत्मनेपद-परस्मैपद प्रकरण आरम्भ किया है। भावकर्मणोः (अ० १।३।१४) से भाव-कर्म में आत्मनेपद का विधान है ॥३॥

इस विषय में विद्वान् कहते हैं कि स्वभाव से ही कुछ धातुएं कर्त्ता की ओर अभिमुख होती हैं। जैसे—अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ० १।१।१)।

यहां 'ईळे' पद में आत्मनेपद है ॥४॥

'ईळे' पद में स्थिति यह है कि स्तुति का फल स्वभावतः कर्त्ता की ओर अभिगमन करता है। स्तुति के फल का कर्त्ता से अन्य की ओर अभिगमन यत्न से ही प्रतिपादित हो सकता है ॥५॥

वे धातु आत्मनेपदी होती हैं, उन से भिन्न परस्मैपदी होती हैं। 'ईक्ष' और 'दृश्' धातुओं के अर्थों में भी कुछ सूक्ष्म भेद है।

जिन क्रियाओं का फल स्वभावतः कर्त्ता की ओर अभिमुख होता है, उन के वाचक धातुओं से आत्मनेपद होता है। पाणिनि ने इस का सङ्केत स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (अ० १।३।७२) सूत्र के 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' शब्दों से किया है। अब प्रश्न उठता है कि यदि क्रियाफल का

अभिसन्धाय कार्यार्थं दर्शनं विदुरीक्षणम् ।
'अवेक्षे सुप्रजास्त्वाय', तत्राऽऽहुश्च निदर्शनम् ॥७॥
नियम पश्यतेर्नास्ति, 'नराशंसं सुधृष्टमम्' ।
परस्मैपदी पश्यतिरन्यस्तेनात्मनेपदी ॥८॥
भवन्ति चोभयविधाः, 'प्राता रत्नं प्रातरित्वा' ।
'अञ्जन्ति त्वामध्वरे' च, 'चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे' ॥९॥
कर्तृगामिन्यपि फले न भवत्यात्मनेपदम् ।
अविवक्षयोपपदात् प्रतीतेश्च तथा क्वचित् ॥१०॥

कर्तृगामित्व आत्मनेपदत्व का प्रयोजक है, तो समानार्थक 'ईक्ष' तथा 'दृश्' धातुओं में 'ईक्ष' से ही आत्मनेपद क्यों होता है, 'दृश्' से क्यों नहीं ? माधव का उत्तर है कि दोनों धातुओं के अर्थों में सूक्ष्म भेद है । अगली कारिकाओं में उस अर्थभेद को दर्शाया गया है ॥६॥

कार्य के प्रयोजन का सन्धान (सम्बन्ध) मन में करके देखने को 'ईक्षण' मानते हैं । इस का उदाहरण है—अवेक्षे सुप्रजास्त्वाय (तै० सं० १।१।१०।३) । परन्तु 'दृश' का ऐसा कोई नियम नहीं है । जैसे—नराशंसं सुधृष्टममपश्यम् (ऋ० १।१८।९) । इसलिए 'ईक्ष' आत्मनेपदी है और 'दृश' परस्मैपदी है ।

'अवेक्षे सुप्रजास्त्वाय' सन्दर्भ का तात्पर्य है—घृत की ओर देखती हुई पत्नी कहती है—'अदब्धेन त्वा चक्षुषा अवेक्षे सुप्रजास्त्वाय' (दोषरहित नेत्र से तुझे तेजस्वी सन्तान के लिए देखती हूं) । यहां चित्त में कार्यार्थ का सन्धान स्पष्ट है, अतः 'ईक्ष' का प्रयोग हुआ है । 'नराशंसं सुधृष्टममपश्यम्' (नरों के द्वारा प्रशंसनीय, शत्रुओं के अतिशय धर्षिता को देखता हूं) इस सन्दर्भ में 'दृश' का अर्थ केवल 'देखना' है ॥७-८॥

उभयपदी—परस्मैपदी-आत्मनेपदी—धातुएं भी हैं । उदाहरण है—प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति (ऋ० १।१२५।१); अञ्जन्ति त्वामध्वरे (ऋ० ३।८।१); चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे व्यञ्जते (ऋ० १।६४।४) ।

यहां पहली ऋक् में 'दधाति' और 'धत्ते' पद उभयपदी 'धा' धातु से निष्पन्न हैं । दूसरी ऋक् में 'अञ्जन्ति' और तीसरी ऋक् में 'अञ्जते' दोनों पद उभयपदी 'अञ्ज' धातु से बने हैं ॥९॥

क्रिया का फल कर्त्ता को प्राप्त होने पर भी कहीं-कहीं आत्मनेपद नहीं होता । इस के कारण हैं—कहीं अविवक्षा तथा कहीं उपपद के द्वारा प्रतीति ।

पाणिनि आदि वैयाकरणों ने इन हेतुओं की ओर सङ्केत किये हैं । पाणिनि ने उभयपदी

आत्मनेपदमित्येषा संज्ञाऽर्थं दर्शयत्यमुम् ।
पदिः प्रयोगकर्मा स्याद् आत्मने भाष्यत इति ॥११॥
अल्पं भेदमनाश्रित्य परोक्षादौ लुङादयः ।
प्रयुज्यन्ते यथा तद्वत् सङ्करश्चापि दृश्यते ॥१२॥
वदन्ति वैयाकरणा इमम्भेदमुपग्रहम् ।
स चायं दुर्ग्रहो भेदः स्पष्टं तेभ्योऽवधार्यताम् ॥१३॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥
इति द्वितीयोऽष्टकः ॥२॥

धातुओं में स्वरित तथा ञकार अनुबन्ध लगाकर उभयपदी धातुओं का निर्देश किया है। इन धातुओं से क्रियाफल के कर्तृगामित्व की विवक्षा होने पर स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (अ० १।३।७२) से आत्मनेपद होता है, विवक्षा न होने पर परस्मैपद ही होता है। इसी प्रकार यदि समीपस्थ पद से फल के कर्तृगामित्व की प्रतीति हो जाती है, तो विभाषोपपदेन प्रतीयमाने (अ० १।३।७७) से आत्मनेपद का विकल्प विधान करके परस्मैपद का साधुत्व दर्शाया है। इतरेतरान्योन्योपपदाच्च (अ० १।३।१६) सूत्र भी इसी तथ्य का सूचक है ॥१०॥

'आत्मनेपद' संज्ञा भी इसी अर्थ को दर्शाती है। यहां 'पद' धातु प्रयोगार्थक है, तदनुसार अर्थ होगा—जिस को अपने लिये कहा जाये, वह 'आत्मनेपद' है।

'आत्मनेपदम्' की व्युत्पत्ति है—आत्मने पद्यते प्रयुज्यते यत्तद् आत्मनेपदम्। वैयाकरण-निकाय में आत्मनेभाषः, परस्मैभाषः शब्द भी प्रचलित हैं। माधव का 'आत्मने भाष्यते' कथन आत्मनेभाषः की ओर संकेत करता है ॥११॥

अल्पभेद की उपेक्षा करके जैसे परोक्ष आदि में लुङ् आदि का प्रयोग कर दिया जाता है, उसी प्रकार आत्मनेपद-परस्मैपद का साङ्कर्य भी देखा जाता है ॥१२॥

वैयाकरण इस भेद को 'उपग्रह कहते हैं। इस भेद का ग्रहण करना वहुत कठिन है। उन्हीं (वैयाकरणों) से इस भेद का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

महाभाष्य (महा० ३।१।८५) में उपग्रहसंज्ञा का उल्लेख है। भर्तृहरि ने उपग्रह को परिभाषित किया है—य आत्मनेपदाद् भेदः क्वचिदर्थस्य गम्यते। अन्यतश्चापि लादेशान्मन्यन्ते तमुपग्रहम् ॥ (वाक्य० उपग्रहसमुद्देश)। अर्थात् आत्मनेपद अथवा अन्य लादेश के कारण अर्थ का जो भेद (स्वार्थत्व-परार्थत्व-व्यक्तवाक्तत्व आदि) प्रतीत होता है, उसे 'उपग्रह' मानते हैं। पाणिनि ने अपने शास्त्र में अत्यन्त सूक्ष्मेक्षिकापूर्वक इन भेदों को सूचित किया है ॥१३॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥
इति द्वितीयोऽष्टकः ॥२॥

—:०:—

तृतीयोऽष्टकः

३. निपातानुक्रमणी

प्रथमोऽध्यायः

तृतीयोऽथाऽष्टकस्तस्मिन्नध्यायादिषु वक्ष्यते ।
यद्वक्तव्यं निपातेषु ब्राह्मणैश्छान्दसैरिह ॥१॥
इयन्त इति सङ्ख्यानं निपातानां न शक्यते ।
उपसर्गास्तु विज्ञेयाः क्रियायोगेषु विंशतिः ॥२॥

तृतीयोऽष्टकः

३. निपातानुक्रमणी

प्रथमोऽध्यायः

अब तृतीय अष्टक का भाष्य आरम्भ होता है । इसमें अध्यायों के आदि में, वैदिक ब्राह्मणों के द्वारा निपातों के विषय में जो कुछ बताने योग्य है, उसको बताया जायेगा ।

पाणिनीय अनुशासन में प्राग्रीश्वरान्निपाताः (अ० १।४।५६) से निपात संज्ञा प्रकरण आरम्भ किया गया है । मुख्यतः चादयोऽसत्त्वे (अ० १।४।५७) सूत्र के चादिगण में निपातसंज्ञक शब्दों को पढ़ा गया है ॥१॥

इतने हैं, इस प्रकार निपातों की गणना सम्भव नहीं है । क्रियावाची शब्दों के साथ लगने वाले उपसर्गसंज्ञक निपात बीस हैं ।

पाणिनि ने प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे (अ० १।४।५८) सूत्र में प्र आदि बीस उपसर्ग गिनाये हैं । इसी प्रकार ऋक्प्रातिशाख्य (१२।२०) में भी बीस उपसर्ग दिये गये हैं ॥२॥

निपाताः खलु कामं वै पृथङ् नाच्छा सचा पुनः ।
शश्वन्नक्तं दिवा माकिर्यथेदिति सदं मुहुः ॥३॥
आदथाध मिथू शीभं वृथा सं ज्योगृधग् वृथक् ।
हिरुक् श्रौषडरं बट् सु किल हन्त नकिर्न्वहः ॥४॥
अथो यदि नमस्तेऽमी चत्वारिंशदुदाहृताः ।
आद्युदात्ताश्च सर्वेऽमी सन्त्यन्येऽपि च तादृशाः ॥५॥
नामोदाश्वो (?) वषट् स्वाहा नाना जोषं स्मदन्तिकम् ।
शनैस्सामि हि मा बत्रि माकीमाकीं सनेमि तात् ॥६॥
भूयस्तूयं मृषा द्युः श्वन्नकीं वस्तोः षड्विंशतिः ।
अन्तोदात्ता निपातेषु ननु नूनं स्वयं पुरा ॥७॥
उतापिरेव (?) मक्षिवत्था पश्चादेवममा तिरः ।
प्रातरुच्चाङ्ग सुष्ठ्वद्धा कुवित्सद्य इह मिथः ॥८॥

---

१. खलु, २. कामम्, ३. वै, ४. पृथक्, ५. न, ६. अच्छा, ७. सचा, ८. पुनः, ९. शश्वत्, १०. नक्तम्, ११. दिवा, १२. माकिः, १३. यथा, १४. इत्, १५. इति, १६. सदम्, १७. मुहुः, १८. आत्, १९. अथ, २० अध, २१. मिथू, २२. शीभम्, २३. वृथा, २४. सम्, २५ ज्योक्, २६. ऋधक्, २७. वृथक्, २८. हिरुक्, २९. श्रौषट्, ३०. अरम्, ३१. बट्, ३२. सु, ३३. किल, ३४. हन्त, ३५. नकिः, ३६. नु, ३७. अहः, ३८. अथो, ३९. यदि, ४०. नमस्ते, ये चालीस निपात उदाहृत किये गये हैं। ये सब आद्युदात्त हैं। ऐसे अन्य निपात भी हैं॥३-५॥

१. नाम, २. उत्, ३. आ, ४. श्वः, ५. वषट्, ६. स्वाहा, ७. नाना, ८. जोषम्, ९. स्मत्, १०. अन्तिकम्, ११. शनैः, १२. सामि, १३. हि, १४. मा, १५. बत्रि, १६. माकीम्, १७. आकीम्, १८. सनेमि, १९. तात्, २०. भूयः, २१. तूयम्, २२. मृषा, २३. द्युः, २४. श्वत्, २५. नकीम्, २६. वस्तोः, ये छब्बीस निपात भी आद्युदात्त हैं। निपातों में अन्तोदात्त हैं—१. ननु, २. नूनम्, ३. स्वयम्, ४. पुरा ॥६-७॥

५. उत, ६. अपि(आविः), ७. एव, ८. मक्षु, ९. इत्था, १०. पश्चात्, ११. एवम्, १२. अमा, १३. तिरः, १४. प्रातः, १५. उच्चा, १६. अङ्ग, १७. सुष्ठु, १८. अद्धा, १९. कुवित्, २०. सद्यः, २१. इह, २२. मिथः, २३. साकम्, २४. आरात्, २५. सह, २६. चिरम्, २७. अन्तः, २८. आशु,

साकमारात्सह चिरमन्तराशु सनादृते ।
अन्तरा सनुतः स्वस्ति चनाऽऽरेऽद्याऽऽनुषक् पुनः ॥९॥
दोषा सायं चत्वारिंशत् सन्ति चाऽन्ये च तादृशाः ।
हिङ् सत्रा हुरुक् पराचैः शनकैर्मिथुया तृषु ॥१०॥
सस्वरोषंसना (?) तेऽमी दश सन्ति तथाऽपरे ।
स्वः क्वेति स्वरितौ विद्याद् द्रष्टव्याश्च तथाऽपरे ॥११॥
सीमुदुः स्वित्स्मवाहेवा द्वादशैते चिदींघचैः ।
अमी च सर्वानुदात्ता द्रष्टव्याश्च तथाऽपरे ॥१२॥
ऋचां निरीक्षणादेते निपाताः शतमुद्धृताः ।
त्रिंशच्च सूक्ष्मेक्षिकया समुद्धार्यास्तथाऽपरे ॥१३॥
वाक्यार्थेष्वप्रवृत्तेषु निपाताश्चेदनन्विताः ।
ऋक्पादपूरणास्ते स्युरिति यास्कस्य दर्शनम् ॥१४॥

---

२९. सनात्, ३०. ऋते, ३१. अन्तरा, ३२. सनतः, ३३. स्वस्ति, ३४. चन, ३५. आरे, ३६. अद्य, ३७. आनुषक्, ३८. पुनः ॥८-९॥

३९. दोषा, ४०. सायम् ये चालीस अन्तोदात्त हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे निपात हैं—१. हिङ्, २. सत्रा, ३. हुरुक्, ४. पराचैः, ५. शनकैः, ६. मिथुया, ७. तृषु, ८ सस्वः, ९. ओषम् (ईषत्), १०. सना (सनात्, अना) ये दस निपात भी अन्तोदात्त हैं। स्वः तथा क्व ये दो स्वरित निपात हैं। इसी प्रकार अन्य भी जानने चाहियें ॥१०-११॥

१. सीम्, २. उ, ३. दुर् ४. स्वित्, ५. स्म, ६. वा, ७. ह, ८. इव, ९. चित्, १०. ईम्, ११. घ, १२. च, ये बारह निपात सर्वानुदात्त हैं। इसी प्रकार अन्य भी जानने चाहियें ॥१२॥

ऋचाओं के निरीक्षण से ये एक सौ तीस (१३०) निपात निकाले गये। इसी प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से अन्यों को भी निकालना चाहिये ॥१३॥

यास्क का मत है—अपरिसमाप्त वाक्यार्थों में यदि निपात अन्वित न हों, तो उन्हें ऋक् में पादपूरण समझना चाहिये।

निरुक्त (१।९) में यास्क ने कहा है—'अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति, पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिद्विति' ॥१४॥

न वै किल नु नामाथ खल्विदादध सीमु कम् ।
उतनूनमिवेङ्स्मचिद्धचाः स्युरनर्थकाः ॥१५॥

अन्येषां तु निपातानां पूरणत्वं न दृश्यते ।
नादयः पूरणाश्च स्युर्यदा वाक्येष्वनन्विताः ॥१६॥

अप्रवृत्तेऽपि वाक्यार्थे ब्राह्मणेष्वपि नन्वमी ।
दृश्यन्ते तत्र नाऽपेक्षा विद्यते पादपूरणैः ॥१७॥

माधवस्तत्र वदति स्फुटत्वोद्ग्रहणादिकम् ।
वाक्यार्थे जनयन्त्येते मन्त्रब्राह्मणयोरिति ॥१८॥

स्फुटत्वोद्ग्रहणादिश्च क्वचित् सूक्ष्मः क्वचित् स्फुटः ।
यत्र स्फुटस्तदा सार्थाः सूक्ष्मे स्युः पूरणा इति ॥१९॥

'मधु ह स्म वा ऋषिभ्यः', त्रिभिः स्फुटतरोऽभवत् ।
तथैव 'उत वा घा स्यालात्', बहवः सन्ति तादृशाः ॥२०॥

न, वै, किल, नु, नाम, अथ, खलु, इत्, आत्, अध, सीम्, उ, कम्, उत, नूनम्, इव, ईम्, घ, स्म, चित्, ह, च,ये निपात अनर्थक हैं ॥१५॥

अन्य निपातों का पादपूरणत्व नहीं देखा जाता। न आदि तभी पादपूरण होते हैं, जब वे वाक्यार्थ में अन्वित नहीं होते हैं ॥१६॥

शङ्का यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अपूर्ण-वाक्यार्थ में ये निपात देखे जाते हैं, जहां पादपूरण की अपेक्षा नहीं है। वहां इनका प्रयोजन क्या है ? ॥१७॥

शङ्का के समाधान के रूप में माधव कहता है—मन्त्र और ब्राह्मण में ये निपात वाक्य के अर्थ में स्पष्टता एवं उत्कर्ष आदि उत्पन्न करते हैं ॥१८॥

स्पष्टता एवं उत्कर्ष आदि कहीं सूक्ष्म (अव्यक्त) होते हैं, कहीं स्फुट (व्यक्त) हैं। जहां व्यक्त होते हैं, वहां ये निपात सार्थक होते हैं। और जहां अव्यक्त होते हैं, वहां ये निपात वाक्य या पाद के पूरक होते हैं ॥१९॥

'मधु ह स्म वा ऋषिभ्यः' इस वाक्य में तीन निपातों से वाक्यार्थ अधिक स्पष्टता से गृहीत होता है। इसी प्रकार 'उत वा घा स्यालात्' (ऋ० १।१०९।२; तै० सं० १।१।१४।१) यहां भी तीन निपातों से स्पष्ट ग्रहण होता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं ॥२०॥

उकारो विनिग्रहार्थस्तथाऽनेकत्र दर्शनात् ।
'तमु ष्टवाम यं गिरः', 'तमु त्वा गोतमो गिरा' ॥२१॥
'अयमु ते समतसि', न विनिग्रहसम्भवः ।
'उदु ष्य देवः सविता', पूरणस्तादृशेषु सः ॥२२॥
एवकारेण सदृश उकारोऽन्यत्र दृश्यते ।
मन्त्रेष्वेषु तु तस्याऽर्थः स्फुटत्वोद्ग्रहणादिकः ॥२३॥
एतावता पूरणत्वं नानर्थक्यादिति स्थितिः ।
आदानन्तर्यवचनो, यथा['आ]दह स्वधामनु' ॥२४॥
'आत्सूर्यं जनयन् द्यामुषासम्', 'आदित् ते हर्यता' ।
'आदिद्धोतारं वृणत', पूरणश्चाऽपि विद्यते ॥२५॥

उकार विनिग्रह (निर्धारण=नियम) अर्थ में प्रयुक्त होता है। अनेक स्थलों पर 'उ' का ऐसा अर्थ देखा जाता है। उदाहरण है—तमु ष्टवाम यं गिरः (ऋ० ८।९५।६); तमु त्वा गोतमो गिरा (ऋ० १।७८।२)।

यास्क ने निरुक्त (१।५) में 'उ' को विनिग्रहार्थीय तथा पादपूरण कहा है। कारिका की पहली ऋक् के भाष्य में माधव ने 'उ' का अर्थ 'एव' किया है। दूसरी ऋक् में 'उ' पादपूरग है ॥२१॥

अयमु ते समतसि (ऋ० १।३०।४); उदु ष्य देवः सविता (ऋ० २।३८।१) इन ऋचाओं में विनिग्रह (निर्धारण) सम्भव नहीं है। ऐसे स्थलों में 'उ' पादपूरण होता है ॥२२॥

अन्य मन्त्रों में 'उ' निपात 'एव' के समान दिखाई देता है। परन्तु इन ('तमु त्वा' आदि) में उस का अर्थ स्पष्टता उत्कर्ष आदि है ॥२३॥

इतने मात्र से ही उस ('उ') को पादपूरण माना जाता है, न कि अनर्थकता के कारण। 'आत्' निपात आनन्तर्यवाची है। जैसे—आदह स्वधामनु (ऋ० १।६।४)।

माधव ने अपने भाष्य में इस स्थल पर 'आत्' का अर्थ 'अनन्तरम्' किया है ॥२४॥

आत् सूर्यं जनयन् द्यामुषासम् (ऋ० १।३२।४); आदित् ते हर्यता (ऋ० ८।१२।२५); आदिद्धोतारं वृणत (ऋ० १।१४१।६)। 'आत्' पादपूरण भी है।

माधव ने अपने भाष्य में इस सभी स्थलों पर 'आत्' का अर्थ 'अनन्तरम्' किया है ॥२५॥

इदेवकारसदृशः, 'स इद् भोजो यो गृहवे' ।
'स इद् देवेषु गच्छति', दृश्यते चाऽपि पूरणः ॥२६॥
ईमिदंशब्दसदृशः, 'एमाशुमाशवे भर' ।
'स ईं पाहि य ऋजीषी', विद्यते चाऽपि पूरणः ॥२७॥
उच्चावचेषु निपततामर्थेष्वेषां यथायथम् ।
हानोपादानविद्विप्रो न मन्त्रार्थेषु मुह्यति ॥२८॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

—:०:—

द्वितीयोऽध्यायः

अथे [-थ 'इ]च्छन्ति त्वा सोम्यासः' व्याचिख्यासति माधवः ।
सङ्गतेषु निपातेषु वक्तव्यं सम्प्रदर्शयन् ॥१॥

'इत्' का अर्थ 'एव' के समान है। जैसे—स इद् भोजो यो गृहवे (ऋ० १०।११७।३); स इद् देवेषु गच्छति (ऋ० १।१।४)। 'इत्' पादपूरण भी देखा जाता है।

माधव ने दोनों ऋचाओं के भाष्य में 'इत्' का अर्थ 'एव' किया है ।।२६।।

'ईम्' निपात का अर्थ 'इदम्' शब्द के समान है। उदाहरण हैं—एमाशुमाशवे भर (ऋ० १।४।७); स ईं पाहि य ऋजीषी (ऋ० ६।१७।२)। 'ईम्' निपात पादपूरण भी है।

उपर्युक्त दोनों ऋचाओं के भाष्य में माधव ने 'ईम्' का अर्थ 'एनम्' किया है ।।२७।।

ऊंचे-नीचे (विविध) अर्थों में गमन करनेवाले इन निपातों के यथार्थ ग्रहण एवं त्याग को जाननेवाला विद्वान् मन्त्रों के अर्थों में मोह को प्राप्त नहीं होता।

यास्क ने 'निपात' की निरुक्ति दी है—उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति, अप्युपमार्थेऽपि कर्मोपसंग्रहार्थेऽपि पदपूरणाः (निरु १।४)। एवमुच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति (निरु० १।११) ।।२८।।

इति प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

—:०:—

द्वितीयोऽध्यायः

सङ्गत (समुदाय) निपातों के विषय में अपने कथन को प्रस्तुत करता हुआ माधव 'इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः' (३।३०।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ।।१।।

पृथगर्थान् निपातेषु सङ्गतेषु प्रदर्शयेत् ।
'आदह स्वधामन्वि (-नु' इ) ति, तत्राऽऽहुश्च निदर्शनम् ॥२॥
स्विदित्येको निपातोऽयम्, 'अधः स्विदासीदुपरि' ।
चन चेन्नन्वमी च स्युरभिन्ना इति निश्चयः ॥३॥
समुदाया निपातानां नामी नो मो अथो इति ।
ओदन्तस्य प्रगृह्यत्वं पृथक् शास्ति हि पाणिनिः ॥४॥
'मो अहं द्विषते रधम्', मैवाहं द्विषते रधम् ।
एवं 'नो वयं मराम', नैव वयं मरामेति ॥५॥
समुदायत्वं अनयोर् इत्थम् अर्थप्रतीतितः ।
इच्छन्ति कवयः केचिद् द्वयोरेकः स्वरस्तथा ॥६॥

समुदायगत निपातों में पृथक् अर्थों को दिखावे। आदह स्वधामनु (ऋ० १।६।४) इस ऋक् को इस का उदाहरण मानते हैं।

इस ऋक् में 'आत्' 'अह' दो निपातों का समुदाय है। माधव ने स्वभाष्य में दोनों के पृथक् अर्थ 'अनन्तरम् एव' दर्शाये हैं ॥२॥

'स्वित्' यह एक निपात है। जैसे—अधः स्विदासीदुपरि (ऋ० १०।१२९।५)। चन, चेत्, ननु—ये भी अभिन्न (एक) निपात हैं, यह निश्चय है।

स्वित्, चन, चेत्, ननु—ये निपात क्रमशः सु+इत्, च+न, न+इत्, न+नु इन निपातों के समुदाय नहीं हैं ॥३॥

नो, मो, अथो—ये भी निपातों के समुदाय नहीं हैं। अतः पाणिनि ने ओकारान्त की प्रगृह्य संज्ञा का पृथक् विधान किया है।

नो, मो, अथो में न+उ, मा+उ, अथ+उ इस प्रकार अवयव नहीं हैं। पाणिनि ने ओत् (अ० १।१।१५) सूत्र से ओकारान्त निपातों की प्रगृह्य संज्ञा का शासन किया है ॥४॥

मो अहं द्विषते रधम् (ऋ० १।५०।१३) का अर्थ है—मैं शत्रु के वश में नहीं ही होऊं। इसी प्रकार नो वयं मराम (ऋ० १।१९१।१०) का अर्थ है—हम नहीं ही मरें ॥५॥

इस प्रकार अर्थ प्रतीति के अनुसार कुछ विद्वान् इन दोनों—मो, नो—निपातों को समुदाय मानते हैं। दोनों का स्वर भी इसी प्रकार एक है।

मा, न उदात्त तथा 'उ' अनुदात्त का एकादेश उदात्त हो गया है (अ० ८।२।५)। माधव ने भाष्य में 'मो' का अर्थ 'मैव' किया है ॥६॥

नहीत्येको निपातोऽयं पृथगध्वर्यवस्तु तम् ।
अधीयते द्व्युदात्तं च, 'न ह्यस्या अपरं चन' ॥७॥
नहीत्यनेन योगे च स्मर्तव्यस्तिङुदात्तवान् ।
केवलेन हिना योगे शाब्दिकैः स्मर्यते यथा ॥८॥
बह्वृचा हिकमत्येकं किमिति द्वावधीयते ।
अयं च युज्यते ह्येक एकोदात्तस्य दर्शनात् ॥९॥
'राजा हि कं भुवनानाम्', 'तिष्ठा सु कं मघवन् मा' ।
'योना नु कं मानुषी' च, त्रयोऽमी निहताः कमः ॥१०॥
सूक्ष्मेक्षिकापरा विप्राः कथयन्त्यत्र बह्वृचाः ।
यथा समासे पदयोरैकार्थ्यमुपजायते ॥११॥

'नहि' यह एक निपात है। परन्तु यजुर्वेदी उस को पृथक्-पृथक् पढ़ते हैं और दो उदात्त स्वरों से युक्त मानते हैं। जैसे—न ह्यस्या अपरं चन (तै० सं० १।७।१३।१)।

उपर्युक्त ऋक्पाठ तैत्तिरीय संहिता एवं ऋग्वेद (१०।८६।११) में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में 'नहि' को एक पद एवं अन्तोदात्त माना जाता है। तैत्तिरीय संहिता में 'न, हि' दो पद हैं, और दोनों उदात्त हैं॥७॥

'नहि' के योग में तिङन्त पद को उदात्तस्वर युक्त विधान करना चाहिये, जैसे वैयाकरण केवल 'हि' के योग में विधान करते हैं।

वैयाकरणों के अनुसार हि च; छन्दस्यनेकमपि तिङाकाङ्क्षम् (अ० ८।१।३४,३५) से 'हि' के योग में तिङन्त पद के निघात का प्रतिषेध हो जाता है। 'नहि' को एक पद मानने पर नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिः (ऋ० १०।८६।११) ऋक् में प्रयुक्त 'मरते' पद में उदात्त स्वर विधान करना चाहिये॥८॥

ऋग्वेदी 'हिकम्' इस एक निपात को 'हि', 'कम्'—दो निपात क्यों पढ़ते हैं? इस का एक निपात मानना ही युक्त है, क्यों कि इस में एक उदात्त स्वर दिखाई देता है॥९॥

राजा हि कं भुवनानाम् (ऋ० १।९८।१); तिष्ठा सु कं मघवन् मा (ऋ० ३।५३।८); योना नु कं मानुषी (ऋ० १।७२।८) इन ऋचाओं में तीनों 'कम्' अनुदात्त हैं॥१०॥

इस विषय में सूक्ष्म दृष्टि रखनेवाले ऋग्वेद के विद्वान् कहते हैं कि—जिस प्रकार समास में दो पदों की एकार्थता उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार 'नहि' इस निपात में 'नञ्' तथा 'हि' इन

नञो हेश्च तथैकार्थ्यं नहीत्यत्रोपजायते ।
ह्यर्थस्य च प्रधानत्वादन्तोदात्तमभूत् पदम् ॥१२॥

हिना योगे नुसुभ्यां च कमित्येतन्निहन्यते ।
'राजा हि कं भुवनानां', 'येना नु कं मानुषी [षी'-इ] ति ॥१३॥

पदेनान्येन संयोगाद् यथाख्यातं निहन्यते ।
हिनुयोगे कमित्येतदेवमेवेति बह्वृचाः ॥१४॥

अध्वर्यवस्तु नेच्छन्त्य्, 'आशिषे वै कं यजमानः' ।
इत्युदात्तमधीयानाः पृथक् चार्थं कमो विदुः ॥१५॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

—:०:—

दोनों निपातों का एक अर्थ हो जाता है और 'हि' के अर्थ की प्रधानता होने के कारण 'नहि' निपात अन्तोदात्त हो जाता है ।

'हि' के अर्थ के प्राधान्य के कारण आठवीं कारिका में उक्त तिङन्त पद का निघात भी नहीं होता ॥११-१२॥

राजा हि कं भुवनानाम् (ऋ० १।६४।१) और येना नु कं मानुषी (ऋ० १।७२।८) आदि पूर्वोक्त ऋचाओं में 'हि, नु, सु' के योग में 'कम्' का निघात हो जाता है ॥१३॥

ऋग्वेद के विद्वानों का मत है कि जैसे अन्य पद के संयोग से तिङन्त पद का निघात हो जाता है, इसी प्रकार 'हि, नु, सु' के योग में 'कम्' का भी हो निघात हो जाता है ॥१४॥

परन्तु आशिषे वै कं यजमानः (तै० सं० १।५।६।६) इस प्रकार उदात्तयुक्त पाठ करते हुए यजुर्वेदी विद्वान् 'कम्' निपात को अनुदात्त नहीं मानते और पृथक् पद मानते हुए 'कम्' का अर्थ बताते हैं ॥१५॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

—:०:—

तृतीयोऽध्यायः

'इन्द्र त्वा वृषभं वयं', व्याचिख्यासति माधवः ।
निपातेष्वेव केषांचिद् वृत्तिभेदं प्रदर्शयन् ॥१॥
निपाता ये विकल्पार्था ये समुच्चयवाचिनः ।
ये वा विनिग्रहार्थीया उपमार्थाश्च ये तथा ॥२॥
सर्वे ते न प्रयुज्यन्त ऋक्पादादिष्विति स्थितिः ।
'इव देवदत्त' इति, न हि लोके प्रयुज्यते ॥३॥
'वा देवदत्त' इति वा, तथा वेदे च दृश्यताम् ।
नन्वेवकारसदृश उकारो दर्शनात्तथा ॥४॥
स दृश्यते च पादादाव्, 'उ लोकमग्ने कृणवः' ।
'उ लोककृत्नुमीमहे', 'उ लोककृत्नुमद्रिवः' ॥५॥
'उ लोको यस्ते अद्रिवस्', ते चत्वार उदाहृताः ।
नामी विनिग्रहार्थीया न ह्येष्वस्ति विनिग्रहः ॥६॥

तृतीयोऽध्यायः

निपातों में से ही कुछ निपातों के वृत्ति-भेद को दिखाता हुआ माधव 'इन्द्रं त्वा वृषभं वयम्' (३।४०।१) इस अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

जो निपात विकल्प अर्थवाले हैं, जो समुच्चयवाची हैं, या जो अवधारणार्थक हैं और जो उपमार्थक हैं ॥२॥

वे सब ऋचाओं के पाद के आदि में प्रयुक्त नहीं होते, यह सिद्धान्त है। क्यों कि लोक में भी 'इव देवदत्तः' ऐसा प्रयोग नहीं होता ॥३॥

'वा देवदत्तः' ऐसा प्रयोग भी लोक में नहीं होता। वेद में भी ऐसा ही समझना चाहिये। शङ्का यह है—'उ' निपात 'एव' के समान अर्थवाला है, वैसा ही उस का प्रयोग देखा जाता है॥४॥

वह 'उ' निपात ऋक्-पाद के आदि में देखा जाता है। जैसे—उ लोकमग्ने कृणवः (ऋ० ५।४।११); उ लोककृत्नुमीमहे (ऋ० ६।२।८); उ लोककृत्नुमद्रिवः (ऋ० ८।१५।४); उ लोको यस्ते अद्रिवः (ऋ० ३।३७।११) ये चार उदाहरण दिये गये। शङ्का का समाधान है—ये विनिग्रहार्थक नहीं हैं, क्यों कि इनमें अवधारण नहीं है ॥५-६॥

पूरणत्वं च नैतेषां न ह्यादौ सन्ति पूरणाः ।
उ लोक उत्तमो लोकः इति वक्तुं न युज्यते ॥७॥
शाकल्यो ह्यवगृह्णीयात् तदा नो इति दर्शयेत् ।
अथाप्युत्तमपर्यायं लोकात् प्राक् पर्यवस्थितम् ॥८॥
मन्यामहे कान्दिशीकास्तत्र वृद्धेषु निर्णयः ।
उपमार्थश्च नन्वादौ यथाशब्दः प्रयुज्यते ॥९॥
'तथा तदस्तु सोमपाः','यथा त उश्मसीष्टये' ।
प्रकारवचनः सोऽयं लौकिकाश्च प्रयुञ्जते ॥१०॥
'येन प्रकारेण कृतं तेनास्माकं करोत्विति' ।
'इव देवदत्ते कृतं' न तु दृष्टं तथा क्वचित् ॥११॥
तस्मात् यथेवौ भिन्नार्थाविति सूक्ष्मेक्षिकापराः ।
प्रयुज्यते यथाशब्दे क्रियापदमपेक्षितम् ॥१२॥

ये पादपूरण भी नहीं हैं, क्यों कि पादपूरण आदि में प्रयुक्त नहीं होते । 'उ लोकः' का अर्थ 'उत्तमो लोकः' है, यह कहना भी ठीक नहीं है ॥७॥

क्योंकि उस अवस्था में शाकल्य अवग्रह करता, 'ॐ इति' इस प्रकार न दिखाता । लोक शब्द से पूर्व स्थित यह 'उ' शब्द उत्तम का पर्यायवाची है ॥८॥

अगतिकगति न्याय से हम 'उ' को उत्तम का पर्याय मानते हैं । इसका निर्णय विद्यावृद्ध जन ही कर सकते हैं । पुनः शङ्का है—उपमार्थक 'यथा' शब्द पाद के आदि में प्रयुक्त होता है ।

वेङ्कट माधव ने 'उ' निपात के उपर्युक्त चार स्थलों में से केवल एक स्थल (ऋ० ६।२।८) पर 'उ' का अर्थ 'उत्तम' किया है । सायण ने 'उत्तम (ऋ० ३।३७।११); पूरण (ऋ० ५।४।११); समुच्चय या पूरण (ऋ० ८।१५।४); एव (ऋ० ६।२।८)' अर्थ दर्शाये हैं ॥९॥

जैसे—तथा तदस्तु सोमपाः सखे वज्रि न् तथा कृणु । यथा त उश्मसीष्टये ॥ (ऋ० १। ३०।१२) ॥ शङ्का का उत्तर है—यहां 'यथा' शब्द प्रकार को कहनेवाला है, उपमार्थक नहीं । लौकिक जन भी ऐसा प्रयोग करते हैं ॥१०॥

'येन प्रकारेण कृतं तेनास्माकं करोतु' ऐसा प्रयोग होता है, परन्तु 'इव देवदत्ते कृतम्' ऐसा प्रयोग कहीं नहीं देखा गया ॥११॥

इस लिए सूक्ष्मदर्शी विद्वानों का मत है कि 'यथा' और 'इव' शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं । यथा शब्द का प्रयोग होने पर अपेक्षित क्रिया पद का प्रयोग होता है ॥१२॥

उश्मसीत्यादिकं नैवमिवयोगे प्रयुज्यते ।
बहुष्वर्थेषु दृष्टो नञ् निषेधेऽथ समुच्चये ॥१३॥
सम्प्रत्यर्थे इवार्थे च पूरणेऽपि च दृश्यते ।
प्रयुज्यते न वाक्यादावुपमार्थ इति स्थितिः ॥१४॥
उपमायां निषेधे च दृश्यन्ते बहवो नञः ।
तथा समुच्चयार्थीयाः, 'अग्निमुर्षां न जरते' ॥१५॥
'तस्मिन्त्साकं त्रिशता न', 'होता मनुष्यो न दक्षः' ।
'अश्वे न चित्रे अरुषि', सम्प्रत्यर्थं नञं विदुः ॥१६॥
'अस्मै भीमाय' च तथा, सन्ति चान्येऽपि तादृशाः ।
'विपां ज्योतींषि बिभ्रते', नकारस्तत्र पूरणः ॥१७॥

जैसे यथा के योग में 'उश्मसि' क्रियापद का प्रयोग हुआ, इस प्रकार 'इव' के योग में क्रियापद का प्रयोग नहीं होता । 'नञ्' बहुत अर्थों में प्रयुक्त होता है । जैसे—निषेध में एवं समुच्चय में ॥१३॥

'सम्प्रति' (इस समय) के अर्थ में, 'इव' के अर्थ में और पादपूरण के रूप में भी 'नञ्' देखा जाता है । उपमार्थक 'नञ्' का प्रयोग वाक्य के आदि में नहीं होता, यह निश्चय है ॥१४॥

उपमा और निषेध अर्थ में बहुत से 'नञ्' देखे जाते हैं । इसी प्रकार समुच्चयार्थक 'नञ्' भी हैं । उदाहरण है—अग्निमुर्षां न जरते (ऋ० १।१८१।९) ।

यास्क ने निरुक्त (निरु० १।४) में 'नञ्' को प्रतिषेधार्थक तथा उपमार्थक माना है । उपर्युक्त ऋक् में 'नञ्' निषेधार्थक हैं ॥१५॥

तस्मिन्त्साकं त्रिशता न (ऋ० १।१६४।४८); होता मनुष्यो न दक्षः (ऋ० १।५९।४); अश्वे न चित्रे अरुषि (ऋ० १।३०।२१) इस ऋक् में सम्प्रति (अव) के अर्थ में 'नञ्' को मानते हैं ।

वेङ्कटमाधव ने उपर्युक्त ऋचाओं के भाष्य में 'नञ्' को क्रमशः समुच्चय, समुच्चय, सम्प्रति अर्थों में माना है ॥१६॥

अस्मै भीमाय नमसा समध्वर उषो न शुभ्र आभरा० (ऋ० १।५७।३) इस ऋक् में भी 'नञ्' सम्प्रति के अर्थ में है । अन्य 'नञ्' भी ऐसे हैं । विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे (ऋ० ३। १०।५) इस ऋक् में 'नञ्' पादपूरण है ।

वेङ्कटमाधव के भाष्य में इन दोनों स्थलों पर 'नञ्' यथानिर्दिष्ट अर्थ में है ॥१७॥

पादादौ न प्रयुज्यन्ते हि-स्म-चेत्-स्विद्-ह-वै-तवः ।
कारणं तत्र वाक्यादावर्थस्यैषामनन्वयः ॥१८॥
पादादावपि सद्भावं पूरणानामपीच्छति ।
यास्को यदाह 'नूनं सा', नूनमित्येष पूरणः ॥१६॥
यथा 'न नूनमस्ति' इति, सम्प्रत्यर्थस्य वाचकः ।
तथैव सम्प्रत्यर्थत्वमत्रापीच्छन्ति केचन ॥२०॥
नुशब्दः क्षिप्रवचनो वाक्यादावपि दृश्यते ।
'नू मर्त्तो दयते' इति, मध्ये प्रश्नस्य वाचकः ॥२१॥

हि, स्म, चेत्, स्वित्, ह, वै, तु ये निपात ऋक्पाद के आदि में प्रयुक्त नहीं होते हैं। इसका कारण यह है कि वाक्य के आदि में इनके अर्थों का अन्वय (सम्बन्ध) नहीं होता ॥१८॥

पाद के आदि में भी पादपूरण निपातों की विद्यमानता यास्क को इष्ट है, क्यों कि वह कहता है—'नूनं सा' (ऋ० २।११।२१) इस ऋक् में 'नूनम्' पादपूरण है।

यास्क का कथन है— अथापि पादपूरणः। नूनं सा० (ऋ० २।११।२१)। निरु० १।७॥ इस ऋक् के भाष्य में माधव ने भी 'नूनम्' को पादपूरण बताया है ॥१६॥

कुछ आचार्य मानते हैं कि जैसे—न नूनमस्ति (ऋ०१।१७०।१) ऋक् में 'नूनम्' निपात सम्प्रति अर्थ का वाचक है, उसी प्रकार नूनम् सा (ऋ०२।११।२१) ऋक् में भी 'नूनम्' पद सम्प्रति अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

न नूनमस्ति (ऋ० १।१७०।१) इस ऋक् में प्रयुक्त 'नूनम्' निपात को यास्क ने निरुक्त (१।६) में विचिकित्सार्थीय (सन्देहार्थक; दुर्ग के अनुसार अवधारणार्थक) बताया है। वेङ्कट माधव ने भी इस ऋक् के भाष्य में—नूनमिति विचिकित्सार्थः—लिखकर 'न नूनमस्त्यद्यतनं नो एव श्वस्तनम्'—निरुक्त के शब्दों को दोहराया है। यहां 'नूनम्' का अर्थ सम्प्रति=अद्य (अद्यतन—यास्क) ही समीचीन प्रतीत होता है (दुर्ग का 'अद्यतन' पद को अध्याहृत मानना ठीक नहीं प्रतीत होता) ॥२०॥

'नु' निपात शीघ्रतावाची है। इस का प्रयोग वाक्य के आदि में भी देखा जाता है। जैसे—नू मर्त्तो दयते (ऋ० ७।१००।१)। वाक्य के मध्य में यह निपात प्रश्न का वाचक होता है।

वेङ्कट माधव ने उपर्युक्त ऋक् के भाष्य में 'नु' का अर्थ 'क्षिप्र' ही दिया है। अन्यत्र

निपातानां प्रयोगस्य स्थानं ज्ञात्वा न मुह्यति ।
अतो लोकानुसारेण निपातार्थं प्रदर्शयेत् ॥२२॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

—:०:—

चतुर्थोऽध्यायः

'न ता मिनन्ति मायिनः', व्याचिख्यासति माधवः ।
चाऽहाऽङ्गानां निपातानामर्थमादौ प्रदर्शयन् ॥१॥
चकारः समुच्चयार्थश्चेदर्थे चापि प्रवर्तते ।
काकुः समुच्चये कश्चित् तं चेदर्थं विदुर्बुधाः ॥२॥

उस ने सम्प्रति (ऋ० १।९७।७) आदि अर्थ भी दिये हैं और पादपूरण (ऋ० १।१७।८) भी कहा हैं ॥२१॥

निपातों के प्रयोग की स्थिति को जानकर विद्वान् मोह (भ्रम) में नहीं पड़ता । इसलिये लोक के अनुसार निपातों के अर्थ को दिखावे ॥२२॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

—:०:—

चतुर्थोऽध्यायः

च, अह, अङ्ग इन निपातों के अर्थ को आदि में दिखाता हुआ माधव 'न ता मिनन्ति मायिनः' (ऋ० ३।५६।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

'च' निपात समुच्चय अर्थवाला है और 'चेत्' (यदि) के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । समुच्चय अर्थ में कोई काकु (विशेष अभिप्राय) होता है । उस विशेष अभिप्राय को विद्वान् 'चेत् का अर्थ' मानते हैं ॥२॥

यद्‌योगे तिङुदात्तः स्यात् स चेदर्थः प्रकीर्तितः ।
समुच्चयार्थं तं विद्याद् यद्‌योगे तिङ् निहन्यते ॥३॥

'आ च त्वामेता वृषणा', 'त्वं च सोम नो वशः' ।
'इन्द्रश्च मृळयाति नः', चेदर्थाश्च इमे मताः ॥४॥

एवकारेण सदृशौ हाऽहौ यास्केन भाषितौ ।
'यद्ध यान्ति मरुतो',ऽत्र हकारः खलुना समः ॥५॥

'कद्ध नूनं कधप्रियः', 'को ह कस्मिन्नसि श्रितः' ।
'कथा ह तद्वरुणाय', नैनेष्वस्ति विनिग्रहः ॥६॥

जिस 'च' निपात के योग में तिङन्तपद उदात्तस्वर युक्त होता है, वह 'च' निपात 'चेत्' के अर्थ में कहा गया है । जिस 'च'से युक्त होने पर तिङन्त पद सर्वानुदात्त हो जाता है,उस 'च'निपात को समुच्चय अर्थवाला जाने ॥३॥

आ च त्वामेता वृषणा वहातः (ऋ० ३।४३।४); त्वं च सोम नो वशो जीवातुं न मरामहे (ऋ० १।९१।६); इन्द्रश्च मृळयाति नः (ऋ० २।४१।११) इन ऋचाओं में प्रयुक्त 'च' चेत् अर्थवाले माने जाते हैं ।

उपर्युक्त ऋचाओं में 'च' निपात क्रमशः वहातः, मरामहे, मृळयाति तिङन्त पदों से युक्त हैं । ये तिङन्त पद उदात्त स्वरवाले हैं, अतः 'च' का अर्थ 'चेत्' है । माधव ने दूसरी तथा तीसरी ऋक् के भाष्य में 'चेत्' अर्थ दर्शाया है । पाणिनि ने निपातैर्यद्यदि० (अ० ८।१।३०) सूत्र में 'चण्' ग्रहण किया है, जिस के योग में तिङन्त पद के निघात का प्रतिषेध होता है । चण् णिद्धि-शिष्टश्चेदर्थे (महा० ८।१।३०) इस महाभाष्य-वार्तिक के अनुसार सूत्रकार ने चेदर्थ में वर्त्तमान 'च' को णकार अनुबन्ध लगाकर प्रयुक्त किया है । पाणिनि ने चादिषु च; चवायोगे प्रथमा (अ० ८।१।५८,५९) सूत्रों से भी तिङन्त के निघात का प्रतिषेध किया है ॥४॥

यास्क ने 'ह' तथा 'अह' निपातों को 'एव' के समान बताया है । यद्ध यान्ति मरुतः (ऋ० १।३७।१३) इस ऋक् में 'ह' निपात 'खलु' के समान है ।

यास्क ने निरुक्त(निरु० १।५)में कहा है—अह इति च ह इति च विनिग्रहार्थीयौ । प्रस्तुत ऋक् के भाष्य में माधव ने 'ह' का अर्थ खलु किया है ॥५॥

कद्ध नूनं कधप्रियः (ऋ० १।३८।१); को ह कस्मिन्नसि श्रितः (ऋ० १।७५।३); कथा ह तद् वरुणाय (ऋ० ४।३।५) इन मन्त्रों में 'ह' का अर्थ विनिग्रह नहीं है ॥६॥

'तव ह त्यदिन्द्र विश्वम्', वर्तते ह्यो विनिग्रहे ।
स्फुटत्वोद्ग्रहणार्थीया हकारा बहवः श्रुताः ॥७॥
'अत्राह तत् कण्व एषाम्', 'अत्राह दानुमातिरः' ।
'अत्राह तदुरुगायस्य', 'दिप्सन्त इद्रिपवो नाह' ॥८॥
अहा विनिग्रहार्थीयाश्चत्वारः समुदाहृताः ।
दृश्यन्ते बहवोऽन्ये च सर्वेषु निहतास्तिङः ॥९॥
पूजायां गम्यमानायामाख्यातं न निहन्यते ।
'आदह स्वधामन्वि [नु' इ]ति तत्रोदाहरणं विदुः ॥१०॥
अनन्तरमेव वृष्टेर्गर्भत्वं प्राप्नुवन्त्यमी ।
न चासते क्षणं तूष्णीमिति पूजा प्रतीयते ॥११॥

तव ह त्यदिन्द्र विश्वम् (ऋ० ६।२०।१३) इस ऋक् में 'ह' विनिग्रह अर्थ में वर्त्तमान है । बहुत से 'ह' निपात स्पष्टता एवं उत्कर्ष के द्योतक हैं ।

माघव ने प्रकृत ऋक् के भाष्य में 'ह' का अर्थ 'एव' किया है ॥७॥

अत्राह तत्कण्व एषाम् (ऋ० १।४८।४); अत्राह दानुमातिरः (ऋ० ४।३०।७); अत्राह तदुरुगायस्य (ऋ० १।१५४।६); दिप्सन्त इद्रिपवो नाह (ऋ० १।१४७।३) इन ऋचाओं में चारों 'अह' निपात विनिग्रह अर्थवाले उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं । अन्य भी बहुत से 'अह' निपात देखे जाते हैं । सर्वत्र तिङन्त पद सर्वानुदात्त हैं ।

इन स्थलों पर माघव के भाष्य में 'अह' का अर्थ 'एव' किया गया है ।।८-९।।

पूजा अर्थ के द्योतित होने पर 'अह' से युक्त तिङन्त पद सर्वानुदात्त नहीं होता । इस का उदाहरण है—आदह स्वधामनु (ऋ० १।६।४) ।

पाणिनीय शास्त्रानुसार तुपश्यपश्यताहैः पूजायाम् (अ० ८।१।३९) सूत्र से तिङन्त पद के निघात का प्रतिषेध होता है । प्रकृत ऋक् के भाष्य में माघव ने 'अह' का अर्थ 'आश्चर्य' किया है ॥१०॥

ये (मरुद् गण) वृष्टि के पश्चात् ही अन्न के लिए जल को गर्भ में धारण कर लेते हैं, क्षण भर भी निष्क्रिय नहीं बैठते हैं । इस प्रकार पूजा प्रतीत होती है ।

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे (ऋ० १।६।४) इस ऋक् में गम्यमान पूजा को दर्शाने के लिए प्रकृत कारिका में ऋक् का भावार्थ दिया गया है । इस ऋक् का माधव-भाष्य भी इसी प्रकार है ॥११॥

अङ्गेति क्षिप्रवचनं सम्बोधयति चापरम् ।
'सो अङ्ग वेद यदि वा न', 'त्वमङ्ग प्र शंसिषः' ॥१२॥
एते सम्बोधने प्राहुर्, 'इन्द्रो अङ्ग महद् भयम्' ।
अत्राहुः क्षिप्रवचनं यदा सम्बोधनं भवेत् ॥१३॥
तदानीं प्रातिलोम्यं चेदाख्यातं न निहन्यते ।
प्रातिलोम्योदाहरणं न दृष्टमधुना मया ॥१४॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

—:०:—

'अङ्ग' निपात क्षिप्र (शीघ्र) अर्थ का द्योतक है और दूसरे के सम्बोधन (अभिमुखीकरण) को भी बताता है । सो अङ्ग वेद यदि वा न (ऋ० १०।१२९।७); त्वमङ्ग प्र शंसिषः (ऋ० १। ८४।१९) इन ऋचाओं में 'अङ्ग' को सम्बोधन अर्थ में बताते है । इन्द्रो अङ्ग महद् भयम् (ऋ० २।४१।१०) यहां 'अङ्ग' को क्षिप्र अर्थ का द्योतक बताते हैं । जब 'अङ्ग' का अर्थ सम्बोधन होता है, तब यदि प्रातिलोम्य अर्थ गम्यमान होता है, तो तिङन्त पद सर्वानुदात्त नहीं होता है । प्रातिलोम्य अर्थ का उदाहरण मैंने अभी नहीं देखा ।

ऋक्-भाष्य में माधव ने 'अङ्ग' के अर्थों का सर्वत्र निर्देश नहीं किया, कहीं-कहीं क्षिप्र (ऋ० १।१।६ आदि); सम्बोधन (ऋ० १।८४।७ आदि); अप्रातिलोम्य-क्षिप्र (ऋ० २।४१। १०); एव (ऋ० ७।५६।२) अर्थों का उल्लेख किया है । यास्क (निरु० ५।१७) ने भी 'अङ्ग' को क्षिप्रार्थक बताया है । पाणिनि ने अङ्गाप्रातिलोम्ये (अ० ८।१।३३) सूत्र से अप्रातिलोम्य अर्थ की प्रतीति होने पर 'अङ्ग' के योग में तिङन्त के निघात का प्रतिषेध किया है । संहिताओं में सर्वत्र 'अङ्ग' निपात अप्रातिलोम्य अर्थ में उपलब्ध होता है, परन्तु इस से युक्त तिङन्त पद में कहीं भी निघात का प्रतिषेध नहीं मिलता । माधव ने 'इन्द्रो अङ्ग' (ऋ० २।४१।१०) ऋक् के भाष्य में लिखा है—'अङ्गेत्यप्रातिलोम्यं द्योतयति क्षिप्रवचनम् । इन्द्रः क्षिप्रम्' । इस प्रकार यहां 'सम्बोधन' अर्थ न होने पर भी तिङन्त पद 'चच्यवत्' का निघात मिलता है । अत; 'सम्बोधन' पद को सभी अर्थों का उपलक्षण मानना होगा ॥१२-१४॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

—:०:—

पञ्चमोऽध्यायः

'वैश्वानराय मीळ्हुषे', व्याचिख्यासति माधवः ।
आदौ प्रदर्शयन्नर्थमृचां या हिभिरन्विताः ॥१॥
वाक्यार्थस्य परार्थत्वे हिशब्दोऽयं प्रयुज्यते ।
उद्गृह्णाति च वाक्यार्थम्, 'इन्दवो वामुशन्ति हि' ॥२॥
उद्गृह्यमाणो वाक्यार्थो न स्वस्मिन् पर्यवस्यति ।
कामयन्ते हि वां सोमास्तस्मादागच्छतं युवाम् ॥३॥
'सुते हि त्वा हवामहे', 'स हि नः प्रमतिर्मही' ।
'नहि त्वा रोदसी उभे', सर्वेषूद्ग्रहणं स्फुटम् ॥४॥
वाक्यान्तरेणान्वयार्थमप्ययं हिः प्रयुज्यते ।
असत्यपि च हेतुत्वे तथैवोद्ग्रहणेऽसति ॥५॥

पञ्चमोऽध्यायः

आदि में 'हि' निपात से युक्त ऋचाओं के अर्थ को दिखाता हुआ माधव 'वैश्वानराय मीळ्हुषे' (ऋ० ४।५।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

यह 'हि' शब्द वाक्यार्थ के परार्थत्व (परार्थाधीनता) को द्योतित करने के लिए प्रयुक्त होता है और वाक्यार्थ को उत्कर्षपूर्वक पृथक् करता है। जैसे—इन्दवो वामुशन्ति हि (ऋ० १।२।४)।

'हि' निपात हेतु को द्योतित करनेवाले उपवाक्य में प्रयुक्त होता है। यह उपवाक्य मुख्य वाक्य के साथ अन्वित होता है ॥२॥

पृथक् किया हुआ उत्कर्षयुक्त वाक्यार्थ अपने में पूर्ण नहीं होता। जैसे पूर्वोक्त ऋक् में—'यतः सोम तुम्हारी कामना करते हैं, अतः तुम दोनों (इन्द्र-वायु) आओ' ॥३॥

सुते हि त्वा हवामहे (ऋ० १।१६।४); स हि नः प्रमतिर्मही (ऋ० ६।४५।४); नहि त्वा रोदसी उभे (ऋ० १।१०।८) इन सब उदाहरणों में उद्ग्रहण स्पष्ट है।

उपर्युक्त ऋचाओं में हि-युक्त उपवाक्य हेतु का द्योतन करते हैं, अतः उद्ग्रहण स्पष्ट परिलक्षित होता है ॥४॥

हेतु तथा उद्ग्रहण के विद्यमान न होने पर, अन्य वाक्य के साथ सम्बन्ध दर्शाने के लिए भी यह 'हि' निपात प्रयुक्त होता है। उदाहरण हैं—॥५॥

'युक्ष्वा हि देवहूतमान्', 'उषो वाजं हि वंस्व यः' ।
'नहि ते क्षत्रं न सहः', 'उरुं हि राजा वरुणः' ॥६॥
अश्वान् रथे योजयित्वा तेनागत्य निषीद च ।
चित्रमन्नं प्रयच्छोपस्तेन यज्ञानुपावह ॥७॥
क्षत्रादीनि वयो नापुर्नाप्यापो वेगवत्तमाः ।
विस्तीर्णमार्गकरणात् पादाऽकः प्रतिधातवे ॥८॥
आश्चर्ये हिः प्रसिद्धयां च तथौचित्ये च दृश्यते ।
अस्ति चोद्ग्रहणं तेषु सर्वेष्विति विनिश्चयः ॥९॥
'परा हि मे विमन्यवः', 'आ हि ष्मा सूनवे पिता' ।
'नहि वामस्ति दूरके', आश्चर्यार्थे इमे हयः ॥१०॥
'स हि श्रवस्युः', 'त्वं ह्यग्ने', प्रसिद्धयां ही श्रुताविमौ ।
तथा 'त्वां ह्यग्ने सदमित्', बहवः सन्ति तादृशाः ॥११॥

युक्ष्वा हि देवहूतमान् (ऋ० ८।७५।१); उषो वाजं हि वंस्व यः (ऋ० १।४८।११); नहि ते क्षत्रं न सहः (ऋ० १।२४।६); उरुं हि राजा वरुणः (ऋ० १।२४।८) ।

अगली कारिकाओं में इन ऋचाओं का भावार्थ दिया गया है। 'नहि' को द्वितीय अध्याय में एकनिपात कहा गया है। 'हि' के प्रसङ्ग में 'नहि' का उदाहरण उचित नहीं प्रतीत होता ? ॥६॥

'युक्ष्वा' आदि ऋचाओं का भावार्थ है—(१) घोड़ों को रथ में जोड़कर, उस से आकर बैठो। (२) हे उषः ! उत्तम अन्न को दो, उस से यज्ञों तक पहुंचाओ। (३) हे वरुण ! तेरे बल आदि को न पक्षी प्राप्त कर सके और न ही वेगवाले जल। (४) राजा वरुण ने विस्तीर्ण मार्ग बनाया, जिस पर सूर्य पैरों को रख सके ॥७-८॥

आश्चर्य, प्रसिद्धि और औचित्य अर्थ में भी 'हि' निपात देखा जाता है। उन सभी अर्थों में उद्ग्रहण भी अवश्य विद्यमान होता है ॥९॥

परा हि मे विमन्यवः (ऋ० १।२५।४); आ हि ष्मा सूनवे पिता (ऋ० १।२६।३); नहि वामस्ति दूरके (ऋ० १।२२।४) इन ऋचाओं में प्रयुक्त 'हि' निपात आश्चर्य अर्थ में हैं।

भाष्य में माधव ने केवल एक स्थल (ऋ० १।२६।३) पर 'विस्मय' अर्थ दिखाया है ॥१०॥

स हि श्रवस्युः (ऋ० १।५५।६), त्वं ह्यग्ने (ऋ० १।१४४।६) ये दोनों 'हि' प्रसिद्धि

'एवा ह्यस्य सूनृते [ता' इ]ति, तृचे दृष्टा ह्यस्त्रयः ।
औचित्यार्था भवन्त्येते सन्त्यन्येऽपि च तादृशाः ॥१२॥
समुच्चये च हिर्दृष्टः, 'स मन्दस्वा ह्यन्धसः' ।
तत्पुरश्चानुदात्तस्तिङ् सन्त्यन्येऽपि च तादृशाः ॥१३॥
हेरर्थं यो विजानाति न स मन्त्रेषु मुह्यति ।
तेन प्रदर्शितोऽस्माभिरर्थस्तस्य प्रपञ्चतः ॥१४॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

अर्थ में सुने जाते हैं। इसी प्रकार त्वां ह्यग्ने सदमित् (ऋ० ४।१।१) इस ऋक् में भी 'हि' प्रसिद्धि अर्थ में है। ऐसे उदाहरण बहुत हैं ॥११॥

एवा ह्यस्य सूनृता (ऋ०१।८।८) इन तीन ऋचाओं में तीन 'हि' प्रयुक्त हुए हैं। ये औचित्य अर्थ में होते हैं। ऐसे 'हि' अन्य भी हैं।

इन ऋचाओं के भाष्य में माधव ने 'औचित्य' का सङ्केत नहीं किया है ॥१२॥

समुच्चय अर्थ में भी 'हि' निपात देखा जाता है। जैसे—स मन्दस्वा ह्यन्धसः (ऋ० ३। ४१।६)। उस से पूर्व विद्यमान तिङन्त पद सर्वानुदात्त है। ऐसे अन्य 'हि' निपात भी हैं।

वेङ्कट माधव ने प्रकृत ऋक् के भाष्य में 'हि' को समुच्चयार्थक न मानकर 'पादपूरण' माना है और स्वर तथा समुच्चय अर्थ की प्रतीति की उपपत्ति चलोप से की है। माधव का कथन है—'चलोपस्यात्र सद्भावाद् यद्धितुपरं छन्दसि (अ० ८।१।५६) इत्येवं न प्रवर्त्तते। एवं चात्र ह्रीति पूरणम्'। सायण ने 'हि' का अर्थ समुच्चय लिखा है और हि च (अ० ८।१।३४) से निघात-प्रतिषेध की शङ्का उठाकर, उस सूत्र में 'अप्रातिलोम्ये' की अनुवृत्ति से समाधान किया है। सायण के स्मृति पटल पर स्यात् यद्धितुपरं छन्दसि (अ० ८।१।५६) सूत्र था ही नहीं, क्यों कि उसने 'इन्दवो वामुशन्ति हि (ऋ० १।२।४)' के भाष्य में भी हि च (अ० ८।१।३४) से स्वरसिद्धि दर्शाई है। इस प्रकार दोनों स्थलों पर सायणकृत स्वरसिद्धियां त्रुटिपूर्ण हैं। माधवोक्त स्वरसिद्धि समीचीन प्रतीत होती है। उस का अभिप्राय यह है कि चलोप के कारण यहां चादिलोपे विभाषा (अ० ८।१।६३) से निघात-प्रतिषेध का विकल्प होता है। छन्द में व्यवस्थित विकल्प होता है, अतः यहां निघात-प्रतिषेध नहीं हुआ ॥१३॥

जो विद्वान् 'हि' के अर्थ को ठीक-ठीक जानता है, वह मन्त्रों का अर्थ करते समय भ्रम में नहीं पड़ता। इस लिए हमने उस (हि) के अर्थ को विस्तार से दिखाया है ॥१४॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

—:०:—

षष्ठोऽध्यायः

अथै [थ 'ए] वा त्वामिन्द्र वज्रिन्', व्याचिख्यासति माधवः ।
निपातेष्वेव वक्तव्यं प्रागनुक्तं प्रदर्शयन् ॥१॥

अथाऽधेति समानार्थौ तौ पठन्ति च बह्वृचाः ।
अवधानेन महता ज्ञायेते तौ यथा पृथक् ॥२॥

न गुरुत्वं लघुत्वं वा वर्णैर्मात्राभिरेव च ।
भवतः छन्दसां किन्तु प्रयत्नैश्च पृथग्विधैः ॥३॥

यथा सर्षपमेयेषु करोति गुरुलाघवम् ।
त्रसरेणुस्तथा वेदे प्रयत्नो वर्णगोचरः ॥४॥

एवं ह-घौ च पर्यायौ प्रसिद्धेः प्रतिपादकौ ।
पृथक्-पृथक् प्रयुज्येते बह्वृचैरवधानतः ॥५॥

'परा ह यत् स्थिरं हथ', 'यद्ध स्या ते पनीयसी' ।
'आ घा गमद्यदि श्रवत्', 'आ घा ये ऽग्निमिन्धते' ॥६॥

षष्ठोऽध्यायः

निपातों के विषय में ही पहले प्रकट न किये गये तथ्य को प्रदर्शित करता हुआ माधव अब 'एवा त्वामिन्द्र वज्रि॒न्' (ऋ० ४।१९।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

'अथ' और 'अध' निपात समान अर्थवाले हैं । ऋग्वेद के विद्वान् इन दोनों निपातों का पाठ बड़ी सावधानी से करते हैं, जिस से ये दोनों पृथक् ज्ञात हो जाते हैं ॥२॥

इन दोनों निपातों के वर्णों तथा मात्राओं से छन्दों का गुरुत्व या लघुत्व नहीं होता, किन्तु भिन्न प्रकार के प्रयत्नों से होता है ॥३॥

जिस प्रकार सरसों से तौलने योग्य वस्तुओं में एक त्रसरेणु (कण) भी भारीपन या हल्का-पन कर देता है, उसी प्रकार वेद में वर्णस्थ प्रयत्न गौरव-लाघव करता है ॥४॥

इसी प्रकार 'ह' और 'घ' पर्यायवाची निपात हैं, जो प्रसिद्धि के द्योतक हैं । ऋग्वेद के विद्वान् सावधानी से दोनों का प्रयोग पृथक्-पृथक् करते हैं । जैसे— परा ह यत् स्थिरं हथ (ऋ०१।

'इयत्तिका शकुन्तिका', 'सूर्ये विषमा सजामि' ।
अनयोरुत्तरेऽर्धर्चे द्वैविध्यं दृश्यते पदे ॥७॥

अधीयते हि द्विविधं सो इत्यपि स इत्यपि ।
न तत्र वासनामेके वक्तव्यां मन्वते जनाः ॥८॥

यथा [था 'अ] नु श्रुताममतिम्', 'अक्रविहस्ता सुकृते' ।
'वरुणेळास्वन्तः,' इति पदद्वैविध्यदर्शनम् ॥९॥

न तत्र दोषः पूर्वस्यां पृथङ् मित्रश्च कीर्त्यते ।
वरुणेति द्वितीयस्याम् एकेनोक्तावुभावपि ॥१०॥

३९।३); यद्ध स्या ते पनीयसी (ऋ० ५।६।४); आ घा गमद् यदि श्रवत् (ऋ० १।३०।८); आ घा ये अग्निमिन्धते (ऋ० ८।४५।१) ॥५-६॥

इ॒यत्ति॒का शं॑कुन्ति॒का (ऋ० १।१९१।११); सूर्ये॑ वि॒षमा सं॑जामि (ऋ० १।१९१।१०) इन दोनों ऋचाओं के उत्तर अर्द्धर्च में एक पद में दो प्रकार के रूप दिखाई देते हैं—'सो' और 'सः' इस प्रकार द्विविध पदपाठ करते हैं। कुछ लोग इन स्थलों में निर्देश के योग्य वासना (प्रयोजन) को नहीं मानते हैं।

उपर्युक्त ऋचाओं के उत्तरार्ध—सो चि॒न्नु न म॑राति॒ (ऋ० १।१९१।१०,११) – में विद्यमान 'सो' का पदपाठ दो प्रकार का है—सो इति (ऋ० १।१९१।११); सः (ऋ० १।१९१।१०) । ऋक्प्रातिशाख्य (४।९४) में—सो चिन्न्वगस्त्ये दशमे च मण्डले—सूत्र से 'सो' में विसर्जनीय के स्थान में ओकार निपातन किया गया है। इसका उदाहरण 'सो चि॒त्' (ऋ० १।१९१।१०) है ॥७-८॥

जैसे—अनु॑ श्रु॒ताम॒मतिं॑ (ऋ० ५।६२।५); अक्र॑विहस्ता सु॒कृते॑ (ऋ० ५।६२।६) इन दोनों ऋचाओं में विद्यमान— व॒रु॒णेळा॑स्व॒न्तः—में एक पद के दो प्रकार देखे जाते हैं ॥९॥

इस में कोई दोष नहीं है, क्योंकि पूर्व ऋक् में मित्र एवं वरुण का पृथक्-पृथक् सम्बोधन किया है और दूसरी ऋक् में एक 'वरुणा' पद से दोनों को सम्बोधित किया गया है।

पहली ऋक् में पदपाठ है— व॒रु॒ण, इडा॑सु, अ॒न्तः। दूसरी ऋक् में पदपाठ है—व॒रु॒णा, इडा॑सु, अ॒न्तः ॥१०॥

तस्मादत्राऽपि वक्तव्यं द्वैविध्यस्य प्रयोजनम् ।
तदुच्यते'सा नो अमा', 'सो चिन्नु भद्रा क्षुमती' ।।११।।
'सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या', च त्रिषूकारः प्रदृश्यते ।
स्पष्टीकरोति स स्त्रीत्वमुरित्याहुर्विपश्चितः ।।१२।।

ननु नाम्नामनेकस्मिन् वृत्तिरर्थेऽपि युज्यते ।
तानि ह्याख्यातजान्याहुर्यथा गौर्गमनादिति ।।१३।।
गमनात् पृथिवी गौः स्यादादित्यः पशुरेव च ।
वाग् वा सा गच्छति जलं निम्नं प्रत्येति सर्वदा ।।१४।।
निपाता उपसर्गाश्च दृश्यन्ते केन हेतुना ।
बहुष्वर्थेषु येष्वेते दृश्यन्त उपमादिषु ।।१५।।

इसलिये यहां (ऋ०१।१६१।११) भी पद के द्वैविध्य का प्रयोजन बताना चाहिये । इसके उत्तर में हमारा कथन है—सा नो अमा सो अरणे (ऋ०१०।६३।१६) ; सो चिन्नु भद्रा क्षुमती (ऋ० १०।११।३) ; सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या (ऋ० १०।२३।४) इन तीन ऋचाओं में उकार दिखाई देता है । विद्वान् कहते हैं कि वह 'उ' स्त्रीत्व को अभिव्यक्त करता है ।

उपर्युक्त तीनों ऋचाओं में क्रमशः पदपाठ है—सो इति, अरणे । सो इति, चित् । सो इति, चित् । इन स्थलों में जिस प्रकार—'सा+उ=सो'—'उ' निपात के प्रयोग से स्त्रीलिङ्ग का स्पष्ट बोध होता है, उसी प्रकार 'सो चित्' (ऋ०१।१६१।११) में भी 'उ' निपात से स्त्रीत्व की अभिव्यक्ति होती है । इस ऋक् के भाष्य में सायण ने भी कहा है —सा उ इति निपात-समुदायः ।।११-१२।।

शङ्का यह है कि नाम पदों का अनेक अर्थों में भी प्रयुक्त होना उचित है, क्यों कि आचार्य उन को आख्यातज मानते हैं । जैसे—'गो' पद गम धातु से बना है । पृथिवी, सूर्य और पशु गौ हैं, क्योंकि वे गमन करते हैं । वाणी गौ है, क्योंकि वह चलती है । जल गौ है, क्योंकि वह सदा नीचे की ओर जाता है ।।१३-१४।।

परन्तु ये निपात और उपसर्ग—जिन उपमा आदि बहुत से अर्थों में प्रयुक्त होते हुए, दिखाई देते हैं—किस कारण से दिखाई देते हैं ? ।।१५।।

वहुष्वर्थेषु धातूनां वृत्तौ यत् कारणं भवेत् ।
तदेवात्रापि भवति सा च शक्तिरिति स्थितिः ॥१६॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

—:०:—

सप्तमोऽध्यायः

'प्र ऋभुभ्यो दूतमिव', व्याचिख्यासति माधवः ।
उपसर्गेषु वक्तव्यमादितः सम्प्रदर्शयन् ॥१॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतेः प्रत्ययस्य च ।
पृथगर्थपरिज्ञानमिति शाब्दिकनिर्णयः ॥२॥
उपसर्गेष्वपि तथा भवेदिति विनिश्चयः ।
तदेतद्धातुसंज्ञायां स्पष्टमाह पतञ्जलिः ॥३॥

शङ्का का समाधान यह है कि अनेक अर्थों में धातुओं के प्रयोग में जो कारण हो सकता है, वही यहां (निपात तथा उपसर्ग के अनेकार्थत्व में) भी है और वह कारण है—शब्दों की अभिधान-'शक्ति'—यही सिद्धान्त है ॥१६॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

—:०:—

सप्तमोऽध्यायः

उपसर्गों के विषय में उल्लेखनीय बातों को पहले प्रदर्शित करता हुआ माधव 'प्र ऋभुभ्यो दूतमिव' (ऋ० ४।३३।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

वैयाकरणों का निर्णय है कि अन्वय एवं व्यतिरेक से प्रकृति तथा प्रत्यय के पृथक्-पृथक् अर्थों का ज्ञान होता है ॥२॥

उपसर्गों में भी उसी प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से पृथक्-पृथक् अर्थों का ज्ञान होता है, यह निश्चय है। यह बात पतञ्जलि ने धातु-संज्ञा-विधायक सूत्र के भाष्य में स्पष्ट कही है।

महाभाष्य का कथन है—'कथं पुनर्ज्ञायतेऽयं प्रकृत्यर्थोऽयं प्रत्ययार्थ इति ? सिद्धं त्वन्वयव्यतिरेकाभ्याम् । इह पचतीत्युक्ते कश्चिच्छब्दः श्रूयते पच्छब्दश्चकारान्तोऽतिशब्दश्च प्रत्ययः । अर्थोऽपि कश्चिद् गम्यते विक्लित्तिः कर्तृत्वमेकत्वं च । पठतीत्युक्ते कश्चिच्छब्दो हीयते कश्चिदुपजायते

वदन्ति वाचकानेक उपसर्गान् विपश्चितः ।
अर्थानां धातुलीनानां द्योतकास्ते पतञ्जलेः ।।४।।

प्रतिष्ठते तिष्ठतीति गमनं स्थानमेव च ।
उभयं तिष्ठतेरर्थः प्रस्तत्र द्योतको गतेः ।।५।।

बीजानि वपतीत्यत्र निवापे दृश्यते वपिः ।
'अधि पेशांसि वपते', छेदने तत्र वर्तते ।।६।।

कश्चिदन्वयी । पच्छब्दो हीयते पठशब्द उपजायतेऽतिशब्दोऽन्वयी । अर्थोऽपि कश्चिद्धीयते कश्चिदुपजायते कश्चिदन्वयी । विक्लित्तिर्हीयते पठिक्रियोपजायते कर्त्तृत्वं चैकत्वं चान्वयि । ते मन्यामहे यः शब्दो हीयते तस्यासावर्थो योऽर्थो हीयते, यः शब्द उपजायते तस्यासावर्थो योऽर्थ उपजायते, यः शब्दोऽन्वयी तस्यासावर्थो योऽर्थोऽन्वयी' । (महा० १।३।१) ।।३।।

कुछ विद्वान् उपसर्गों को अर्थों के वाचक कहते हैं। पतञ्जलि के मत से वे (उपसर्ग) धातुओं में छिपे हुए अर्थ के द्योतक हैं।

पतञ्जलि का कथन है—'क्रियाविशेषकः उपसर्गः । पचतीति क्रिया गम्यते, तां प्रो विशिनष्टि ।' (महा० १।३।१)। शाकटायन आदि नैरुक्त भी उपसर्गों को द्योतक मानते हैं, परन्तु गार्ग्य उपसर्गों के वाचकत्व का पक्षधर है। ये दोनों पक्ष यास्क ने निरुक्त (१।३) में दर्शाये हैं । यास्क का कथन है—'न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुरिति शाकटायनः । नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति । उच्चावचा पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः । तद् य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तम् ।' (निरुक्त १।३) ।।४।

'प्रतिष्ठते' और 'प्रतिष्ठति' इन प्रयोगों में क्रमशः 'गति' और 'गतिनिवृत्ति' ये दोनों अर्थ 'स्था' धातु के ही हैं। 'प्रतिष्ठते' प्रयोग में 'प्र' उपसर्ग गति अर्थ का द्योतक है।

पतञ्जलि ने कहा है—(शङ्का) इह तर्हि व्यक्तमर्थान्तरं गम्यते— तिष्ठति प्रतिष्ठत इति । तिष्ठतीति व्रजिक्रियाया निवृत्तिः, प्रतिष्ठित इति व्रजिक्रिया गम्यते । ते मन्यामहे उपसर्गकृतमेतद्, येनात्र व्रजिक्रिया गम्यते इति ? (समाधान) प्रोऽयं दृष्टापचार आदिकर्मणि वर्त्तते । न चेवं नास्ति बह्वर्था अपि धातवो भवन्तीति । तद्यथा ......। एवमिहापि तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियामाह तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियाया निवृत्तिम् । (महा० १।३।१) ।।५।।

'बीजानि वपति' इस वाक्य में 'वप' धातु का अर्थ 'बोना' है। अधि पेशांसि वपते (ऋ० १। ९२।४) यहां 'वप' धातु 'छेदन' अर्थ में वर्त्तमान है।

महाभाष्यकार ने कहा है—'वपिः प्रकिरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्त्तते । केशश्मश्रु वपतीति ।' (महा० १।३।१) ।।६।।

एवमन्येऽपि दृश्यन्ते बहुष्वर्थेषु धातवः ।
द्योत्यन्त उपसर्गैश्च धात्वर्था इति निर्णयः ॥७॥
'प्र यात शीभमाशुभिः', 'प्र वो भ्रियन्त इन्दवः' ।
प्रारम्भे प्रोऽनयोर्दृष्टः प्रकर्षे चापि दृश्यते ॥८॥
'अर्चत प्रार्चते [त' इ]त्यत्र, वैस्पष्ट्ये चापि दृश्यते ।
'अस्येदु प्र ब्रूहि पूर्व्यां', बहवः सन्ति तादृशाः ॥९॥
प्रभुः प्रार्थयते कन्याम्, प्रशान्तः प्राञ्जलिस्तथा ।
प्रसन्नमुदकं चेति, भिन्नार्थाः प्रा इमे मताः ॥१०॥
आङाभिमुख्यं वदति प्रपरौ तद्विपर्ययम् ।
'परा याहि मघवन्ना', 'परा हि मे विमन्यवः' ॥११॥

इसी प्रकार अन्य धातुएं भी बहुत से अर्थों में प्रयुक्त होती हैं और उपसर्गों से धातुओं के अर्थ द्योतित होते हैं, यह निर्णय है ।

उपर्युक्त कारिकाओं के प्रसङ्ग में महाभाष्य के सन्दर्भ उद्धृत किये गये हैं । धातुओं के अनेकार्थत्व को प्रतिपादित करते हुए महाभाष्य (१।३।१) में अनेक धातुओं के उदाहरण दर्शाये हैं ॥७॥

प्र यात शीभमाशुभिः (ऋ० १।३७।१४); प्र वो भ्रियन्त इन्दवः (ऋ० १।१४।४) इन दोनों ऋचाओं में 'प्र' उपसर्ग प्रारम्भ अर्थ में देखा जाता है । 'प्र' का प्रयोग प्रकर्ष अर्थ में देखा जाता है । जैसे—अर्चत प्रार्चत (ऋ० ८।६९।८) इस ऋक् में । विस्पष्टता अर्थ में भी 'प्र' उपसर्ग देखा जाता है । जैसे—अस्येदु प्र ब्रूहि पूर्व्याणि (ऋ०१।६१।१३) । ऐसे ही बहुत से प्रयोग हैं ।

माधव ने उपर्युक्त ऋचाओं में से केवल—अर्चत प्रार्चत (ऋ० ८।६९।८) के भाष्य में 'प्र' का प्रकर्ष अर्थ दिखाया है ॥८-९॥

'प्रभुः' 'प्रार्थयते कन्याम्' 'प्रशान्तः' 'प्राञ्जलिः' 'प्रसन्नमुदकम्' इन स्थलों में प्रयुक्त 'प्र' भिन्न-भिन्न अर्थोंवाले हैं ॥१०॥

'आङ्' आभिमुख्य अर्थ को बताता है । 'प्र' और 'परा' आभिमुख्य के विपरीत अर्थ को कहते हैं । उदाहरण हैं—परा याहि मघवन्ना (ऋ० ३।५३।५), परा हि मे विमन्यवः पतन्ति (ऋ० १।२५।४) ।

पहली ऋक् में—'परा याहि' (पराङ्मुख होकर जा); 'आ याहि' (अभिमुख होकर आ)। दूसरी ऋक् में—'परा पतन्ति' (पराङ्मुख होकर गिरते हैं) ॥११॥

समेकीभाववचनः पृथग्भावे व्यपौ स्मृतौ ।
'यत्रा नरः सं च वि च', 'अप द्वेषो अप ह्वरः' ॥१२॥

अनुः सादृश्यवचनः पश्चाद्भावे च वर्तते ।
उद्वर्तत उद्गमने न्यवौ नीचीनवृत्तिनौ ॥१३॥

सु पूजावचनं प्राहुर्विपरीतौ च निर्दुरौ ।
अधेरुपरिभावार्थम् आभिमुख्यमभेर्विदुः ॥१४॥

अतेरर्थोऽतिक्रमणं प्रातिलोम्ये प्रतिः स्मृतः ।
अपिः संसर्गवचन उपश्चोपजने स्मृतः ॥१५॥

वर्जने सर्वतोभावे परिं प्राहुर्विपश्चितः ।
एषामिमे प्रायिकार्था इत्थं यास्केन दर्शिताः ॥१६॥

'सम्' एकीभाव को कहता है । 'वि' तथा 'अप' पृथक् होना अर्थ में स्मरण किये जाते हैं । उदाहरण हैं—यत्रा नरः सं च वि च (ऋ० ६।७५।११); अप द्वेषो अप ह्वरः (ऋ० ५।२०।२) ॥१२॥

'अनु' सादृश्य अर्थ को कहता है और पश्चात् अर्थ में भी वर्तमान होता है । 'उद्' उद्गमन अर्थ में प्रयुक्त होता है । 'नि' तथा 'अव' उपसर्ग 'नीचे' अर्थ में विद्यमान होते हैं ॥१३॥

'सु' को पूजावाची कहते हैं और 'निर्' तथा 'दुर्' इसके विपरीत (निन्दा) अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । 'अधि' का अर्थ ऊपर होना' और 'अभि' का अर्थ आभिमुख्य मानते हैं ॥१४॥

'अति' का अर्थ अतिक्रमण है । 'प्रति' प्रातिलोम्य अर्थ में स्मरण किया गया है । 'अपि' संसर्ग को कहता है और 'उप' उपजन (आधिक्य) अर्थ में समझा जाता है ॥१५॥

विद्वान् 'परि' को वर्जन तथा सर्वतोभाव अर्थ में बताते हैं । इस प्रकार इन उपसर्गों के प्रायः ये अर्थ यास्क ने दिखाये हैं ।

यास्क ने निरुक्त (१।३) में उपसर्गों के अर्थ के सम्बन्ध में लिखा है—'आ इत्यर्वागर्थे प्र परा इत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अभीत्याभिमुख्यं प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अति सु इत्यभिपूजितार्थे निर् दुर् इत्येतयोः प्रातिलोम्यम् । नि अव इति विनिग्रहार्थीया उद् इत्येतयोः प्रातिलोम्यम् । सम् इत्येकीभावं वि अप इत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अनु इति सादृश्यापरभावम् । अपि इति संसर्गम् । उप इत्युपजनम् । परि इति सर्वतोभावम् । अधि इत्युपरिभावमैश्वर्यं वा । एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुः' ॥१६॥

पाणिनिश्चाह भगवानर्थानेषां बहूँस्तथा ।
उदाहरणमेतेषां बहुत्वान्न प्रदर्शितम् ॥१७॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

—:०:—

अष्टमोऽध्यायः

'इदमु त्यत् पुरुतमम्', व्याचिख्यासति माधवः ।
उपसर्गेषु वक्तव्यमनुक्तं सम्प्रदर्शयन् ॥१॥
आकारोऽधपरी चोभौ स्पष्टीकुर्वन्ति कारके ।
अपादानाधिकरणे, 'धनोरधि' 'दिवस्परि' ॥२॥

इसी प्रकार भगवान् पाणिनि ने भी इन (उपसर्गों) के बहुत से अर्थ बताये हैं । यहां इनके उदाहरण अधिक होने के कारण नहीं दिखाये गये हैं ।

पाणिनि के अनेक सूत्रों में प्र आदि शब्दों से द्योतित अर्थों के सङ्केत मिलते हैं । उदाहरण हैं—स्पर्धायामाङः । अवेः प्रसहने । आङ उद्गमने । वेः पादविहरणे । उपाद् यमः स्वकरणे । (अ० १।३।३१,३३,४०,४१,५६) । अनुर्लक्षणे । तृतीयार्थे । हीने । उपोऽधिके च । अपपरी वर्जने आङ् मर्यादावचने । लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः । अभिरभागे । प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः । सुः पूजायाम् । अतिरतिक्रमणे च । अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु । अधीरीश्वरे (अ० १।४।८३-९१,९३-९६) । महाभाष्य में भी इनके अर्थ दर्शाये गये हैं, जैसे—स्वती पूजायाम् । दुर्निन्दायाम् । आङीषदर्थे । कुः पापार्थे । (महा० २।२।१८) ॥१७॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

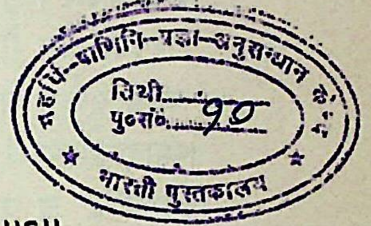
—:०:—

अष्टमोऽध्यायः

उपसर्गों के विषय में उल्लेखनीय बातों को, जो पूर्व कारिकाओं में नहीं कही गईं, प्रदर्शित करता हुआ माधव 'इदमु त्यत् पुरुतमम्' (ऋ० ४।५१।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

आकार और अधि-परि ये दोनों अपादान और अधिकरण कारक को व्यक्त करते हैं । उदाहरण हैं—धनोरधि (ऋ० १।३३।४); दिवस्परि (ऋ० १।१२१।१०); दिव आ जाता

आकारो 'दिव आजाता', दृश्यन्ते चापि पूरणाः ।
सु च 'मो षु णः' इत्यादौ, केचिदिच्छन्ति पूरणम् ॥३॥
अमी किमुपसर्गाणां निपाताः प्रतिरूपकाः ।
भवेयुरुपसर्गा वा किं नु ते संज्ञयाऽनया ॥४॥
'अयं ते अस्तु हर्यत', 'आ याहि पूर्वीरति' च ।
आकारौ पूरणावाहुर्बहवः सन्ति तादृशाः ॥५॥
'यस्ते सखिभ्य आ वरम्', 'इमे सोमास इन्दवः' ।
'नि नो होता वरेण्यः', 'प्र यद्दिवो हरिवः स्थातः' ॥६॥
'यास्ते प्रजा अमृतस्य', 'विश्वा यश्चर्षणीरभि' ।
'प्र प्रा वो अस्मे स्वयशोभिः', 'अर्चन्ननु स्वराज्यम्' ॥७॥



(ऋ० ४।४३।३) । आ-अधि-परि पादपूरण भी देखे जाते हैं । कुछ विद्वान् —मो षु णः (ऋ० १।३८।६) इत्यादि स्थलों में 'सु' को भी पादपूरण मानते हैं ।

माधव ने भाष्य में कहीं-कहीं उपर्युक्त अर्थों का उल्लेख किया है । जैसे—धनोरधि =धनुषः सकाशात्, दिवस्परि=आदित्यतः (बृहद्भाष्य में—सूर्यस्योपरि) ॥२-३॥

ये आ, अधि, परि, सु इत्यादि शब्द क्या उपसर्गों के प्रतिरूपक (सदृश) निपात हैं या उपसर्ग हैं ? उनकी इस संज्ञा से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ?

प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे (अ० १।४।५८) सूत्र का योगविभाग करके भाष्यकार ने प्रादि शब्दों की निपात संज्ञा की है । क्रिया के साथ सम्बन्ध होने पर प्रादि शब्दों की उपसर्ग संज्ञा होती है । प्रकृत कारिका का आशय यही प्रतीत होता है ॥४॥

अयं ते अस्तु हर्यतः (ऋ० ३।४४।१); आ याहि पूर्वीरति (ऋ० ३।४३।२) इन दोनों ऋचाओं में 'आ' पादपूरण हैं । ऐसे 'आ' बहुत से हैं ।

अयं ते अस्तु हर्यतः सोम आ हरिभिः सुतः (ऋ० ३।४४।१); आ याहि पूर्वीरति (ऋ० ३।४३।२) इन दोनों ऋचाओं के भाष्य में भी माधव ने 'आ' को 'पूरण' लिखा है ॥५॥

यस्ते सखिभ्य आ वरम् (ऋ० १।४।४); इमे सोमास इन्दवः (ऋ० १।१६।६); नि नो होता वरेण्यः (ऋ० १।२६।२); प्र यद्दिवो हरिवः स्थातः (ऋ० १।३३।५); यास्ते प्रजा अमृतस्य (ऋ० १।७३।९); विश्वा यश्चर्षणीरभि (ऋ०१।८६।५), प्र प्रा वो अस्मे स्वयशोभिः (ऋ० १।१२९।८); अर्चन्ननु स्वराज्यम् (ऋ० १।८०।१); प्र देवयन् यशसः सम् (ऋ० १०।

'प्र देवयन् यशसः सम', 'शुचिजन्मनो रज आ' ।
आक्षिप्यन्ते क्रियाशब्दाः सर्वेष्वेषूपसर्गतः ॥८॥
अन्तर्ण्यर्थांश्च कुर्वन्ति तेऽमी धातूनपि क्वचित् ।
'विश्वमाभासि रोचनम', 'आ नो भज परमेषु' ॥९॥
'आकीं सूर्यस्य रोचनात्', आवहत्विति गम्यते ।
तस्मादाकारसदृशं निपातं तं विदुर्बुधाः ॥१०॥
विनश्यन्ति च धात्वर्था उपसर्गसमन्वयात् ।
'अव ते हेळो वरुण', 'सुन्वानो हि ष्मा यजति' ॥११॥

४६।१०), शुचिंजन्मनो रज आ (ऋ० १।१४१।७) इन सभी मन्त्रों में प्रयुक्त उपसर्गों के द्वारा क्रियावाची शब्दों का अध्याहार किया जाताहै ।

माधव ने अपने भाष्य में उपर्युक्त सभी स्थलों में क्रियावाची शब्दों का अध्याहार किया है, जो क्रमशः निम्न प्रकार है—आ-प्रयच्छति, अधि-आसते, नि-कामय, प्र-अतिष्ठाः, परि-चरन्ति, अभि-भवति, प्रप्र-भवति, अनु-उपास्ते (निरु० १२।३४), प्र-आप्नोति, आ-तिष्ठति। यास्ते (ऋ० १।४३।९) ऋक् में कोई उपसर्ग नहीं है, अतः यह उदाहरण युक्त नहीं प्रतीत होता। कारकों की अपेक्षा से क्रिया के अध्याहार के प्रकरण (आख्यातानुक्रमणी ७।२) में भी यह उदाहरण दिया जा चुका है ॥६-८॥

ये (उपसर्ग) कहीं-कहीं धातुओं को णि के अर्थ (प्रेरणा) से युक्त भी कर देते हैं। उदाहरण हैं—विश्वमाभासि रोचनम् (१।४९।४) ; आ नो भज परमेषु (ऋ० १।२७।५) ।

'आ भासि' का अर्थ है—'भासयति' और 'आ भज' का अर्थ है—'प्रापय' ॥९॥

आकीं सूर्यस्य रोचनात्...वक्षति (ऋ० १।१४।९) यहाँ 'आ वहतु' (लावे) इस अर्थ की प्रतीति हो रही है। इस लिए विद्वान् जन इस (आकीम्) निपात को 'आ' उपसर्ग के समान समझते हैं।

प्रस्तुत ऋक् में 'आकीम्' निपात और वक्षति' आख्यात का प्रयोग हुआ है। 'आवहतु' अर्थ गम्यमान है, अतः 'आकीम्' को भाष्यकारों ने आङर्थ में माना है ॥१०॥

उपसर्ग के साथ सम्बन्ध होने से कहीं-कहीं धातु के अर्थ लुप्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—अवं ते हेडो वरुण (ऋ० १।२४।१४); सुन्वानो हि ष्मा यजति (ऋ० १।३३।७) इन दोनों ऋचाओं में अवपूर्वक 'ई' एवं 'यज' धातु विनाशार्थक हैं। इसी प्रकार रात्र्याश्चिदन्धो अति (ऋ० १।९४।७), इस ऋक् में 'दृश' धातु विनाशार्थक है।

अवपूर्वौ विनाशार्थावीयजी अनयोर्ऋचोः ।
'रात्र्याश्चिदन्धो अती [ति' इ] ति विनाशार्थस्तथा दृशिः ॥१२॥
व्यज्यन्ते तिरतेरर्था उपसर्गैः पृथग्विधाः ।
'मायाभिरिन्द्र मायिनम्', 'सोम प्र तिरन्त आयुः' ॥१३॥
आख्यातशब्दैरस्माभिर्दृश्यते न दुरोऽन्वयः ।
'दूढ्य.' दुर्धां दधती (ति' इ) ति, कृदन्तैर्दृश्यतेऽन्वयः ॥१४॥
तृतीयस्याष्टकस्येत्थमध्यायादिषु दर्शिताः ।
उपसर्गनिपातार्थाः सर्वे वेदोपकारिणः ॥१५॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इति तृतीयोऽष्टकः ॥३॥

माधव ने अपने भाष्य में इन स्थलों पर क्रमशः आगे लिखे अर्थ दिखाये हैं—'अव ईमहे' = विनाशयामः; 'अव यजति' = अधः करोति; 'अति पश्यसि' = विनाशयसि ॥११-१२॥

उपसर्गों से 'तिरति' (तॄ धातु) के विभिन्न प्रकार के अर्थ व्यक्त होते हैं। उदाहरण हैं—मायाभिरिन्द्र मायिनम् (ऋ० १।११।७); सोम प्र तिरन्त आयुः (ऋ० १०।१०७।२)।

पहली ऋक् में दो वार 'तॄ' धातु के रूपों का प्रयोग हुआ है। माधव ने अपने भाष्य में अर्थ दिये हैं—'अव अतिरः' = व्यनाशयः, 'उत् तिर' = वर्धय। दूसरी ऋक् के भाष्य में माधव ने अर्थ नहीं दिया है। सायण का अर्थ है—'प्रतिरन्ते' = प्रवर्धयन्ति। प्रपूर्वस्तिरतिर्वृद्ध्यर्थः ॥१३॥

'दुर्' उपसर्ग का आख्यात (क्रियावाची) शब्दों के साथ योग हम ने नहीं देखा। कृदन्त शब्दों के साथ 'दुर्' का सम्बन्ध देखा जाता है। जैसे—दूढ्यः (ऋ० १।९४।९), दुर्धां दधाति (ऋ० १०।१०९।४)।

यास्क ने 'दूढ्यः' का अर्थ 'दुर्धियः' (निरु० ५।२३) किया है। इसी प्रकार माधव ने भी उपर्युक्त ऋक् के भाष्य में 'दुर्बुद्धि' अर्थ लिखा है। वैयाकरणों के अनुसार—दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वमुत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम् (महा० ६।३।१०९) इस भाष्यवचन से 'दूढ्य' शब्द निष्पन्न होता है। दूढ्य तथा दुर्धा दोनों शब्द कृदन्त हैं ॥१४॥

इस प्रकार तृतीय अष्टक के अध्यायों के आदि में उपसर्ग एवं निपातों के अर्थ दर्शाये गये हैं, ये सब वेदार्थ में सहायक हैं ॥१५॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इति तृतीयोऽष्टकः ॥३॥

चतुर्थोऽष्टकः

४. शब्दावृत्त्यनुक्रमणी

प्रथमोऽध्यायः

चतुर्थोऽथाष्टकस्तस्मिन् अध्यायादिषु वक्ष्यते ।
शब्देष्वावर्तमानेषु यद्वाच्यमिह वैदिकैः ॥१॥
समानशब्दा आवृत्ता भवन्ति पादपूरणाः ।
पर्यायेषु तु निर्ब्रूयाद् इच्छयाऽन्यतमं बुधः ।२॥

चतुर्थोऽष्टकः

४. शब्दावृत्त्यनुक्रमणी

प्रथमोऽध्यायः

अब चतुर्थ अष्टक (ऋ० ५।६।१) का आरम्भ होता है। उस में अध्यायों के आदि में आवर्त्तमान (दोहराये गये) शब्दों के विषय में वैदिक विद्वानों के उल्लेखनीय सिद्धान्त बताये जायेंगे ॥१॥

दोहराये गये समान शब्द पादपूरण होते हैं। विद्वान् मन्त्रस्थ पर्यायवाची शब्दों में से अपनी इच्छा से किसी एक शब्द का निर्वचन करे।

पुनरुक्ति के तीन प्रकार हैं—(१) समान शब्द असमान अर्थ, (२) असमान शब्द समान अर्थ, (३) समान शब्द समान अर्थ। इन में पहली समानशब्द असमानार्थविषयक पुनरुक्ति दोषावह नहीं माना जाती, शेष दोनों को समान पाद या ऋक् में सदोष माना जाता है (निरु० १०।१६)। सदोष पुनरुक्ति के लिए प्राचीन अचार्यों ने 'जामि' शब्द का प्रयोग किया है। जैसे—जामि वा एतद् यज्ञे क्रियते (मै० सं० ४।६।७); तज्जामि भवति (निरु० १०।१६)। वेद में समान शब्दार्थविषयक पुनरुक्ति का समाधान यास्क ने—अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते (निरु०१०।

अप्रसिद्धःप्रसिद्धश्च संगच्छेते यदि क्वचित् ।
तत्राप्रसिद्धं निर्ब्रूयान्न प्रसिद्धमिति स्थितिः ।३॥

'जायते त्वष्टुरर्वाऽऽशुरश्वः' इत्यत्र सङ्गताः ।
अर्वन्तमाशु' निर्ब्रूयात् न त्वश्वं सार्वलौकिकम् ॥४॥

ऋचि 'विश्वस्य ही [हि' इ]त्यस्यां सूनरीत्यादिषु त्रिषु ।
उषसो नाम धेयेषु निर्ब्रुयादिच्छया बुधः ॥५॥

नापेक्षन्ते निर्वचनं भिन्नास्वृक्षु यथा नरः ।
तथैव पादभेदेऽपि केचिन्नेच्छन्ति निर्वचः ॥६॥

---

४२) कह कर किया है । असमानशब्द समानार्थविषयक पुनरुक्ति का समाधान यास्क के अनुसार है—यथाकथा च विशेषोऽजामि भवति (निरु० १०।१६) । यहां केवल एक ऋषि के द्वारा साक्षात्कृत ऋक् अथवा पाद में विद्यमान पुनरुक्ति पर ही विचार किया गया है। भिन्न भिन्न ऋषियों द्वारा साक्षात्कृत सूक्तों में भी पादों, अर्द्धचों तथा ऋचाओं की पुनरक्ति मिलती है । इस पर आठवें अध्याय में विचार किया जायेगा ।।२।।

यदि कहीं प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध पर्याय शब्द साथ-साथ प्रयुक्त हुए हों, वहां अप्रसिद्ध शब्द का निर्वचन करे, प्रसिद्ध का नहीं । यह सिद्धान्त है ।।३।।

'जायते त्वष्टुरर्वाऽऽशुरश्वः' इस सन्दर्भ में 'अर्वा', 'आशु' तथा 'अश्व' शब्द एक साथ प्रयुक्त हुए हैं । इन में से अप्रसिद्ध 'अर्वा' एवं 'आशु' शब्द का निर्वचन करना चाहिये, लोकप्रसिद्ध अश्व शब्द का नहीं ।

कारिका में उद्धृत सन्दर्भ आनुपूर्वीभेद से मिलता है—त्वष्टुरर्वा जायत आशुरश्वः (मा० सं० २९।९) ।।४।।

विश्वस्य हि (ऋ० १।४८।१०) इस ऋक् में 'सूनरि' इत्यादि तीनों उषा के पर्यायवाची शब्दों में से विद्वान् अपनी इच्छा से किसी का निर्वचन करे ।

प्रस्तुत ऋक् में उषा के पर्याय तीन सम्बोधन पद हैं— 'सूनरि', 'विभावरि' तथा 'चित्रामघे' ।।५।।

जिस प्रकार विद्वज्जन भिन्न ऋचाओं में प्रयुक्त समान पद के निर्वचन की अपेक्षा नहीं रखते, उसी प्रकार भिन्न पाद में भी कुछ विद्वान् निर्वचन करने की इच्छा नहीं करते हैं ।।६।।

नामाख्यातोपसर्गाणां निपातानां तथैव च ।
पारुच्छेपीषु दृश्यन्ते बहवः पादपूरणाः ॥७॥

'सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्' ।
नान्यस्तत्रोभयोरर्थो द्वयोर्ह्यर्थोऽत्र कीर्त्यते ॥८॥

जातप्रज्ञं विप्रमिव जातप्रज्ञमितीदृशी ।
वचनव्यक्तिरत्रास्ति तस्यान्यावप्यपेक्षितौ ॥९॥

नैतच्च युज्यते यस्मात् कवितात्र प्रतीयते ।
'यदिन्द्राग्नी अवमस्याम्', इत्यृचोः कविता यथा ॥१०॥

नामों आख्यातों उपसर्गों तथा निपातों में से बहुत से पद परुच्छेपदृष्ट ऋचाओं में पादपूरण के रूप में देखे जाते हैं ।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सूक्त १२७ से १३९ तक इन बारह सूक्तों का द्रष्टा परुच्छेप है । इन सूक्तों की ऋचाओं में सभी प्रकार के पदों की आवृत्ति (पुनरुक्ति) उपलब्ध होती है । परुच्छेप की इस विशेषता की ओर यास्क (निरु० १०।४२) ने भी सङ्केत किया है ॥७॥

सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् (ऋ० १।१२७।१) यहाँ दोनों 'जातवेदसम्' पदों के भिन्न-भिन्न अर्थ नहीं हैं । दोनों का अर्थ यहां कहा जा रहा है ॥८॥

'जातप्रज्ञं विप्रमिव जातप्रज्ञम्' (बुद्धिमान् ब्राह्मण के समान बुद्धिमान् को), ऐसा वाक्य का अभिप्राय यहां है । शङ्का हो सकती है—उस (जातवेदसम्) पद के दो भिन्न अर्थ भी माने जा सकते हैं ॥९॥

शङ्का का समाधान है— यह कथन युक्त नहीं है, क्यों कि यहां कवि के शील (स्वभाव) की प्रतीति होती है । जैसे—यदिन्द्राग्नी अवमस्याम् (ऋ० १।१०८।९) [तथा आगे की] इन दोनों ऋचाओं में कवि का शील प्रकट होता है ।

पूर्वोद्धृत ऋक् (ऋ० १।१२७।१) के भाष्य में भी माधव ने पुनरुक्त पदों को पादपूरण ही लिखा है—'अनूपात्तानि पदानि पूरणानि । यास्कस्त्वाह—अभ्यासे⋯शीलम् (निरु० १०।४२) इति ।' मुद्रितग्रन्थ में 'अनुपात्तानि' अपपाठ है । यदिन्द्राग्नी (ऋ० १।१०८।९,१०) इन दोनों ऋचाओं में सम्पूर्ण पद समान हैं, केवल 'अवमस्याम्' तथा 'परमस्याम्' पदों के क्रम में भेद है। दोनों के अर्थ में कोई भेद नहीं है । माधव ने दूसरी ऋक् (ऋ० १।१०८।१०) के भाष्य में लिखा है—प्रकारान्तरेण श्रद्धाप्रकाशनायाह्वानम् ॥१०॥

एवमत्रापि कविता विपर्यासात् प्रतीयते ।
ननु श्रद्धातिरेकोऽत्र पुनरुक्त्या प्रतीयते ॥११॥
'आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि [ही' इ]त्यादौ यथा तथा ।
सत्यर्थे कविता तस्मान् नासतीति विपश्चितः ॥१२॥
एवं च पूरणः पादो, 'नि स्थिराणि चिदोजसा' ।
अभ्यासान्ननु चात्रापि भूयानर्थः प्रतीयते ॥१३॥
नेति ब्रुवन्त्यप्रतीतेः पादोऽयं पूरणस्ततः ।
ऋषिप्रयुक्ता चावृत्तिर्नन्वन्यत्र च दृश्यते ॥१४॥
'अया रुचा हरिण्ये [एया' इ]ति तृचस्तत्र निदर्शनम् ।
परुच्छेपस्य तनयस्तमद्राक्षीदनानतः ॥१५॥

इस प्रकार यहां (ऋ०१।१७८।६,१०) भी क्रमभेदसे कवि-स्वभाव प्रतीत होता है । शङ्का है—यहां पुनरुक्ति के कारण श्रद्धा का आधिक्य प्रतीत होता है ? ॥११॥

जैसे—आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि (ऋ० २।१८।४) इत्यादि ऋचाओं में श्रद्धातिरेक है, उसी प्रकार पूर्वोक्त ऋक् में भी श्रद्धातिरेक क्यों न माना जाय ? उत्तर है—विद्वान् ऐसा मानते हैं कि अर्थ (प्रयोजन) के विद्यमान होने पर कविता (पुनरुक्ति) होती है, प्रयोजन के अभाव में नहीं ।

आ द्वाभ्याम् (ऋ० २।१८।४) में 'द्वाभ्याम्' 'चतुर्भिः' 'षड्भिः' पदों से श्रद्धा की अधिकता प्रतीत होती है ॥१२॥

इसी प्रकार—नि स्थिराणि चिदोजसा (१।१२७।४) यह सम्पूर्ण पाद पूरण है । शङ्का हो सकती है—यहां भी आवृत्ति होने के कारण अधिक अर्थ प्रतीन होता है ?

स्थिरा चिदन्ना नि रिणात्योजसा नि स्थिराणि चिदोजसा (ऋक्१।१२७।४) यहां स्पष्ट है कि अन्तिम चरण के चारों पद पूर्वचरण में विद्यमान हैं । माधव ने इस ऋ० के भाष्य में लिखा है—प्रकारान्तरेणाह नि स्थिराणीति ॥१३॥

शङ्का का समाधान है—वेदार्थज्ञ कहते हैं कि नहीं, यहां अधिक अर्थ की प्रतीति नहीं होती, अतः यह पाद पूरण है । पुनः शङ्का होती है—ऋषि के द्वारा प्रयुक्त आवृति अन्यत्र भी देखी जाती है ? जैसे— ॥१४॥

अया रुचा हरिण्या (ऋ० ९।१११।१) इत्यादि तीन ऋचाएं इस के उदाहरण हैं । इस शङ्का का उत्तर है—परुच्छेप के पुत्र अनानत ने उन तीन ऋचाओं का दर्शन किया था ।

ततः पितृवदभ्यासस्तत्सुतस्यात्र युज्यते ।
परुच्छेपोऽपि ननु च नावर्तयति तद्यथा ॥१६॥
'उभे पुनामि', 'रोदसी पिशङ्ग भृष्टिमम्भृणम्' ।
तस्माच्छन्दःस्वभावोऽयमिति वृद्धेभ्य आगमः ॥१७॥
ऊर्ध्वं जगत्याश्छन्दांसि पूर्यन्ते सदृशैः पदैः ।
तानि द्रष्टुमशक्यानि वृत्तदैर्घ्यात् भवन्त्यतः ॥१८॥
तैरेव शब्दैः पूर्यन्ते प्रायेणेति विनिश्चयः ।
वामदेवो मण्डलादावृचस्तिस्रो ददर्श ताः ॥१९॥

अनानत पारुच्छेपि दृष्ट सूक्त (ऋ० ६।१११) में तीन ऋचाएं हैं, जो अत्यष्टि छन्द में हैं । इन में परुच्छेप दृष्ट ऋचाओं के समान आवृति मिलती है ॥१५॥

इसलिए पिता (परुच्छेप) के समान उस के पुत्र का आवृति करना युक्त ही है । इस पर पुन: शङ्का होती है—स्वयं परुच्छेप भी कहीं कहीं पदों की आवृत्ति नहीं करता है । जैसे— ॥१६॥

उभे पुनामि रोदसी (ऋ० १।१३३।१) पिशङ्गभृष्टिमम्भृणम् (ऋ० १।१३३।५) इन ऋचाओं में आवृत्ति नहीं मिलती । शङ्का का समाधान यह है—वृद्ध आचार्यों से यह ज्ञान प्राप्त हुआ है कि आवृत्ति छन्दों का स्वभाव है ॥१७॥

जगती से अधिक अक्षरोंवाले छन्द समान पदों के द्वारा पूर्ण किये जाते है । वृत्त की दीर्घता के कारण उन का दर्शन असम्भव है ।

परुच्छेप-दृष्ट ऋचाओं में ४८ अक्षरों से अधिक अक्षरोंवाले (प्राय: अष्टि, अत्यष्टि) छन्दों में निरपवाद रूप से 'आवृत्ति' उपलब्ध होती है । तीनों अनुष्टुप, एक बृहती तथा तीन त्रिष्टुप् में 'आवृत्ति' विद्यमान है । सत्रहवीं कारिका में उदाहृत एक त्रिष्टुप् तथा एक गायत्री के अतिरिक्त दो त्रिष्टुप् हैं, जहां आवृत्ति नहीं है ॥१८॥

प्राय: उन्हीं पूर्वागत शब्दों से छन्दों की पूर्ति की जाती है, यह निश्चय है । वामदेव ने चतुर्थ मण्डल के आदि में वर्त्तमान तीन ऋचाओं का दर्शन किया था । उन ऋचाओं में अष्टि तथा अतिजगती को अर्थभेद से प्रयुक्त किया है । वहां पादपूरण की आशङ्का नहीं है । तब यह आवृतियों को पादपूरण सिद्ध करने का प्रयत्न क्यों ?

अष्टिं तथातिजगतीम् अर्थभेदात् प्रयुज्यते ।
न पादपूरणाशङ्का तत्र कोऽयं परिश्रमः ॥२०॥
पारुच्छेपीषु सर्वासु शक्यं द्वैरूप्यमञ्जसा ।
जातवेदः शब्द इव न प्रदर्शयितुं बुधैः ॥२१॥
यथाकथंचित् द्वैविध्यं प्रतिपादयितुं बुधाः ।
नेच्छन्ति तेन सर्वेऽमी भवन्ति पादपूरणाः ॥२२॥
तमेवार्थं ब्रुवाणानां वचनव्यक्तयः पृथक् ।
मन्त्रेषु केषुचित् सन्ति केषुचित्तु न सन्ति च ॥२३॥
इच्छन्ति काव्यवद् वृद्धा न वेदे बहुभाषणम् ।
तस्माच्छब्दस्य तस्यार्थं तमेवाहुर्विपश्चितः ॥२४॥
पारुच्छेपीर्ऋचः सर्वा यदा पश्यति पण्डितः ।
न तदा प्रतिपाद्योऽस्य सोऽयमर्थ इति स्थितिः ॥२५॥

वामदेवदृष्ट (ऋ० ४।१।१-३) आरम्भिक तीन ऋचाओं के छन्द क्रमशः अष्टि अति-जगती एवं धृति हैं, जिनमें पुनरुक्तियां वर्त्तमान हैं। शङ्काकार उन में अर्थभेद मानता है। वेङ्कट माधव ने वहां भी आवर्त्तमान पदों को पादपूरण माना है। उसका लेख है—पुनः न्येरिरे इत्याविकं पूरणं पारुच्छेपवदिति (ऋ०४।१।१ माधव भाष्य) ॥१९-२०॥

विद्वज्जन परुच्छेप द्वारा दृष्ट सभी ऋचाओं में 'जातवेदस्' शब्द के समान आवृत्त पदों के दो प्रकार के अर्थ सरलता से नहीं दिखा सकते ॥२१॥

विद्वान् लोग जैसे-तैसे (खींचतान करके) दो प्रकार के अर्थों का प्रतिपादन करना नहीं चाहते। इस लिए ये सब आवर्त्तमान पद पादपूरण होते हैं ॥२२॥

उसी (समान) अर्थ को कहनेवाले शब्दों की पुनः आवृतियां किन्हीं मन्त्रों में हैं और किन्हीं मन्त्रों में नहीं हैं ॥२३॥

काव्य के समान वेद में भी वृद्धजन एक ही बात को बहुत बार कहना पसन्द नहीं करते। इसलिए विद्वान् उस शब्द के उसी अर्थ को स्वीकार करते हैं ॥२४॥

परुच्छेप ऋषि के द्वारा दृष्ट समस्त ऋचाओं को जब पण्डित देखता है, तो उसे आवृत्त पदों का भिन्न अर्थ न करके वही अर्थ प्रतिपादित करना चाहिये, यह वस्तु स्थिति है ॥२५॥

वेदमुद्रामजानन्तः कुतर्कगतमानसाः ।
आपाततो भाषमाणास्ते हास्या वैदिकैरिह ॥२६॥
अभ्यासादाह भूयांसमर्थं यस्ककुलोद्भवः ।
अन्यानर्थान् न तु ब्रूते व्याख्यातारो वदन्ति यान् ॥२७॥
दर्शनीयो दर्शनीय इत्यभ्यासात् प्रतीयते ।
भूयानर्थोऽत्यन्तमिति निर्वाहोऽयं च केषुचित् ॥२८॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

—:o:—

द्वितीयोऽध्यायः

'महि महे तवसेऽ [से' अ]थ व्याचिख्यासति माधवः ।
समासविषये वाच्यम् आदितः सम्प्रदर्शयन् ॥१॥

वेद की रचना को न जाननेवाले, कुतर्क से युक्त मनवाले, गम्भीर विचार के विना ही बोलनेवाले पण्डित वेदविषय में वैदिक विद्वानों के उपहास के पात्र बनते हैं ॥२६॥

यस्क कुल में उत्पन्न यास्क अभ्यास (आवृत्ति) से अधिक अर्थ की प्रतीति को कहता है । वह आवृत्त पद के अन्य अर्थों को नहीं बताता, जिन को व्याख्याता बताते हैं । उदाहरणार्थ—'दर्शनीयः दर्शनीयः' इस प्रकार आवृत्ति करने से अधिक अर्थ प्रतीत होता है—अत्यधिक देखने योग्य । इस प्रकार किन्हीं स्थलों में निर्वाह हो सकता है, सर्वत्र नहीं ।

यास्क का कथन है—अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति । तत्परुच्छेपस्य शीलम् (निरु० १०।४२) ॥२७-२८॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

—:o:—

द्वितीयोऽध्यायः

आदि में समास के विषय में उल्लेखनीय बातों को दिखाता हुआ माधव 'महिं महे तवसे' (ऋ० ५।३३।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

समास उपसृष्टानां निवर्तन्ते विभक्तयः ।
विस्पष्टमभिधानाय निर्दिश्यन्ते पुनश्च ताः ॥२॥
'द्रविणोदा द्रविणसः', 'ता सोम' सोमपातमा' ।
'गवां गोपतिः' इत्येवं, न तु ते पादपूरणाः ॥३॥
उपादातुमशक्योऽयं प्रत्ययः प्रकृतिं विना ।
ततोऽन्येन गतार्थोऽपि प्रकृतिः सम्प्रयुज्यते ॥४॥
'वसोरिन्द्रं वसुपतिम्', 'पुरूतमं पुरूणाम्' च ।
'रथीतमं रथीनाम्' च, पादाश्चात्र निदर्शनम् ॥५॥
'वाजेभिर्वाजिनीवती', वाजेभिरिति पूरणम् ।
युक्तान्नैर्बहुभिः सेयं, 'यज्ञं वष्टु धियावसुः' ॥६॥

समास में सम्बद्ध पूर्व पदों की विभक्तियां हट जाती हैं, परन्तु स्पष्ट अभिधान के लिए उन विभक्तियों से युक्त पदों का पुनः निर्देश किया जाता है। जैसे—द्रविणोदा द्रविणसः (ऋ० १।१५।७); ता सोमं सोमपातमा (ऋ० १।२१।१); गवां गोपतिः (ऋ० १।१०१।४) इत्यादि। वे शब्द पादपूरण नहीं होते।

उपर्युक्त उदाहरणों में—द्रविणसः, सोमं, गवाम्—इन पदों का पृथक् विभक्त्यन्त प्रयोग स्पष्ट कथन के लिए हुआ है॥२-३॥

प्रकृति के विना केवल प्रत्यय का प्रयोग करना सम्भव नहीं है। इसलिए अन्य शब्द के प्रयोग से अर्थ की प्रतीति हो जाने पर भी प्रत्यय से युक्त प्रकृति का प्रयोग किया जाता है। वसोरिन्द्र वसुपतिम् (ऋ० १।९।९); पुरूतमं पुरूणाम् (ऋ० १।५।२); रथीतमं रथीनाम् ऋ० १।११।१) ये पाद यहां उदाहरण है।

उदाहरणों में क्रमशः वसु पुरू रथी पद आवर्तमान हैं। यहां भी पूर्ववत् प्रत्यय (षष्ठी) के अर्थ (सम्बन्ध) का स्पष्ट बोध कराने के लिए प्रकृतिसहित प्रत्ययान्त वसोः पुरूणाम् तथा रथीनाम् पदों की आवृत्ति हुई। माधव ने अपने भाष्य में भी कहा है—वसोर्वसुपतिमिति एकार्थ्याविश्रुता षष्ठी स्पष्टं निर्दिष्टा वसोरिति। एतेन गवामसि गोपतिरेक इन्द्र (ऋ० ७।९८।६) इत्यादयो व्याख्याताः (ऋ० १।१।९ बृहद् भाष्य) ॥४-५॥

वाजेभिर्वाजिनीवती (ऋ० १।३।१०) यहां 'वाजेभिः' शब्द पादपूरण है। इस ऋक् का भावार्थ है—बहुत से अन्नों से युक्त, कर्म से धनवाली यह (सरस्वती) यज्ञ की कामना करे।

'वाजिनीवती' शब्द में दोहरे मतुबर्थ प्रत्यय के सम्बन्ध में आगे सप्तम अध्याय में विचार किया गया है, उसे भी देखें ॥६॥

नन्वत्र विग्रहः सोऽयम् अस्त्यस्या वाजिनीति यः ।
तृतीयान्तस्य सम्बन्धः पुँल्लिङ्गस्य च तत्र कः ॥७॥

तस्मादन्नैरस्मदीयं हविर्भूतैः सरस्वती ।
वहतामिति मन्त्रार्थो नत्वन्नैरन्नवतीति ॥८॥

किमत्र तव वक्तव्यं, 'त्वं सोम क्रतुभिः' इति ।
किं वेह तव वाच्यं स्याद्, 'यज्ञेभिर्यज्ञवाहसम्' ॥६॥

तर्ह्येवं विग्रहः कार्यो वाजिनीभिः समन्विता ।
या सा वाजिनीवतीति तृतीयान्तस्तथान्वितः ॥१०॥

क्रतुभिर्युक्तः सुक्रतुः बहुव्रीहेश्च विग्रहः ।
नत्वस्य सन्ति क्रतवस्तृतीयाश्च तथान्विताः ॥११॥

शङ्का है—'वाजिनीवती' का विग्रह यह है— वाजिनी अस्ति अस्याः (वाजिनी जिस की है) । उसमें 'वाजेभिः' इस तृतीयान्त पुँल्लिङ्ग शब्द का क्या सम्बन्ध है ? इसलिए—हमारे हवि-रूप मंत्रों से सरस्वती यज्ञ को वहन करे— यह मन्त्रार्थ है, न कि 'अन्नैः अन्नवती' (अन्नों से अन्न वाली) इत्यादि ।

भाव यह है कि 'वाजेभिः' का अन्वय 'वाजिनीवती' के साथ नहीं है ॥७-८॥

त्वं सोम क्रतुभिः (ऋ०१।६१।२) इस ऋक् में आपको क्या कहना है ? अथवा—यज्ञेभिर्यज्ञवाहसम् (ऋ०८।१२।२०) इस ऋक् में आपका समाधान क्या है ?

पहली ऋक् में 'क्रतुभिः तृतीयान्त पद का 'सुक्रतुः के साथ'; दक्षैः' का 'सुदक्षः' के साथ; वृषत्वेभिः' का वृषा के साथ, एवं 'द्युम्नेभिः' का द्युम्नी के साथ और दूसरी ऋक् में यज्ञेभिः' तृतीयान्त पद का 'यज्ञवाहसम् के साथ अन्वय कैसे होता है ? ॥६॥

समाधान है—तो फिर इस प्रकार विग्रह करना चाहिये—'वाजिनीभिः समन्विता या सा वाजिनीवती' (जो वाजनियों से युक्त है,वह वाजिनीवती है)।इस प्रकार तृतीयान्त पद भी सङ्गत हो जाता है ।

अभिप्राय यह है कि युक्तार्थ में मतुप् है और 'वाज' तथा 'वाजिनी' पर्याय हैं ॥१०॥

'सुक्रतुः' का भावार्थ है— 'क्रतुभिः युक्तः' (क्रतुओं से युक्त) । बहुव्रीहि से विग्रह किया जाता है, परन्तु 'उसके क्रतु हैं' ऐसा अर्थ नहीं होता । इसलिए सब तृतीयान्त पद सङ्गत हो जाते हैं ॥११॥

'क्रतवो यस्य सन्तीति' योऽयं लौकिकविग्रहः ।
स विस्पष्टाभिधानाय सत्त्वमात्रं ह्यपेक्षितम् ॥१२॥
अन्वयो वाजशब्देन पुँल्लिङ्गेनापि सिध्यति ।
वाजेभिरिति पुँल्लिङ्गं तथा सति न दुष्यति ॥१३॥
यद्वाऽन्नवत्त्वं बहुभिः कृतमन्नैस्तथा सति ।
'वृषा वृषत्वेभिः' इति, समीचीनो भविष्यति ॥१४॥
'गोभिर्वपावान् मधुना', तत्र स्पष्टं प्रतीयते ।
कृतं गोभिर्वपावत्त्वं गोभिरेवान्नवानिति ॥१५॥
'यज्ञेभिर्यज्ञवाहसं सोमेभिः सोमपातमम्' ।
यज्ञैर्यज्ञस्य वोढा यो यज्ञवाहा भवेदिति ॥१६॥
'अश्विना यज्वरीः' अस्यां प्रत्ययार्थं विनिर्दिशन् ।
चनः शब्दमुपादत्ते सन्त्यन्येऽपि च तादृशाः ॥१७॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

'क्रतवः सन्ति यस्य' यह जो लौकिक विग्रह किया जाता है, वह स्पष्ट कथन के लिए होता है । वहां सत्तामात्र ही अभिप्रेत होती है ॥१२॥

इस प्रकार पुंल्लिङ्ग 'वाज' शब्द से भी अन्वय सिद्ध हो जाता है । ऐसा होने पर 'वाजेभिः' इस पुंल्लिङ्ग प्रयोग में कोई दोष नहीं आता ॥१३॥

अथवा— 'बहुभिः अन्नैः कृतम् अन्नवत्त्वम्' इस प्रकार विग्रह किया जाय । ऐसा मानने पर वृषा वृषत्वेभिः' (ऋ०१।९१।२) यहां भी ठीक अन्वय हो जायेगा ॥१४॥

गोभिर्वपावान् मधुना (मा० सं० २०।३७) इस मन्त्र में 'गौओं के द्वारा वपायुक्त किया जाना' स्पष्ट प्रतीत होता है, जिसका अभिप्राय है—'गौओं से प्राप्त अन्नवाला' ॥१५॥

यज्ञेभिर्यज्ञवाहसं सोमेभिः सोमपातमम् (ऋ०८।१२।२०) इस ऋक् में कथित 'यज्ञवाहस्' वही हो सकता है, जो 'यज्ञों के द्वारा यज्ञ का वहन करनेवाला' हो ॥१६॥

अश्विना यज्वरीः···चनस्यतम् (ऋ०१।३।१) इस ऋक् में प्रत्ययार्थ का निर्देश करता हुआ द्रष्टा 'चनस्' शब्द का पुनः ग्रहण करता है । ऐसे प्रयोग अन्य भी हैं ।

इस ऋक् का भावार्थ है—'हे अश्विवयो! अन्न की इच्छा करो ।' यहां 'इषः' अन्नवाची शब्द प्रयुक्त हुआ है, पुनः अन्नवाची 'चनस् शब्द से इच्छार्थक क्यच प्रत्यय करके 'चनस्यतम्' क्रिया-

तृतीयोऽध्यायः

'प्रयुञ्जती दिव एति', व्याचिख्यासति माधवः ।
द्विरुच्यमानशब्देषु वक्तव्यं संप्रदर्शयन् ॥१॥
पदद्विर्वचने वीप्सा नित्यता वा प्रतीयते ।
ततो द्वितीयं न पदं तत्र स्यात् पादपूरणम् ॥२॥

वाची पद का प्रयोग किया गया है । इस पुनरुक्ति का समाधान किया गया है—कर्म प्रत्ययार्थ की स्पष्ट प्रतीति कराने के लिए 'इषः' (द्वितीयान्त) पद का पृथक् निर्देश किया गया है । माधव ने इस ऋक् के भाष्य में भी कहा है—इह प्रत्ययार्थस्य कर्मण पदान्तरेण पृथङ् निर्देशः समानशब्दैरनेकत्र भवति । गवां गोपति, सोमं सोमपातमा, द्रविणोदा द्रविणस इति । इह तु समानार्थेन इषश्चनस्यतमिति ।

इति द्वितीयोध्यायः ॥२॥

—:o:—

तृतीयोऽध्यायः

दो बार कहे जानेवाले शब्दों के विषय में उल्लेख-योग्य बातों को दिखाता हुआ माधव 'प्रयुञ्जती दिव एति' (ऋ० ५।४७।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

पद के द्विर्वचन (दो बार बोलने) में वीप्सा अथवा नित्यता की प्रतीति होती है । अतः वहां द्वितीय (आवर्त्तमान) पद पादपूरण नहीं होता ।

पाणिनि ने भी अष्टाध्यायी (अ०८।१।१–१५) में पदद्विर्वचन का विधान किया है । वहां भी नित्यवीप्सयोः (अ०८।१।४) से नित्यता तथा वीप्सा अर्थ में द्विर्वचन विहित है । काशिकाकार ने नित्यता एवं वीप्सा की व्याख्या करते हुए लिखा है—'केषु नित्यता ? तिङ्क्षु नित्यता, अव्ययकृत्सु च । कुत एतत् ? आभीक्ष्ण्यमिह नित्यता, आभीक्ष्ण्यं च क्रियाधर्मः । यां क्रियां कर्त्ता प्राधान्येनानुपरमन् करोति तन्नित्यम् ।' 'अथ केषु वीप्सा ? सुप्सु वीप्सा । का पुनर्वीप्सा ? व्याप्तिविशेषविषया प्रयोक्तुरिच्छा वीप्सा । 'का पुनः सा ? नानावाचिनामधिकरणनां क्रियागुणाभ्यां युगपत् प्रयोक्तुर्व्याप्तुमिच्छा वीप्सा ।' अभिप्राय यह है—तिङन्त पदों तथा अव्यय कृत्प्रत्ययान्त शब्दों में नित्यता होती है, क्योंकि यह (नित्यता) क्रिया का धर्म है । क्रिया के नैरन्तर्य अथवा पुनः पुनः होने को नित्यता कहा जाता है । वीप्सा सुबन्त शब्दों में होती है । भिन्न-भिन्न पदार्थों को क्रिया अथवा गुण से एक साथ सम्बद्ध करने की वक्ता की इच्छा का नाम है वीप्सा ॥२॥

'पथस्पथः परिपतिं वचस्या', 'धीवतो धीवतः सखा'।
'शृण्वे वीर उग्रमुग्रम्', 'पन्यंपन्यमित् सोतारः' ॥३॥
'यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे'।
'विशोविशो वो अतिथिम्', वीप्सा सर्वेषु विद्यते ॥४॥
प्रायेण व्यक्तिभेदस्य वीप्सैकस्यामपि क्वचित्।
'अग्निमग्निं हवीमभिः', इति तत्र निदर्शनम् ॥५॥
'देवंदेवं वोऽवस इन्द्रमिन्द्रं गृणीषणि'।
'तंतमिद्राधसे महे', पादाश्चात्र निदर्शनम् ॥६॥
सुबन्तस्य द्विर्वचने तिङन्तस्यात्र नित्यता।
एवंविधेऽपि नित्यार्थे द्विरुक्तिरिति केचन ॥७॥
वदन्त्यन्ये कालभेदाद् अग्निरेकोऽपि भिद्यते।
विद्यते तत्र वीप्सेति देशभेदादथापरे ॥८॥

पथस्पथः परिपतिं वचस्या (ऋ०६।४९।८); धीवतो धीवतः सखा (ऋ०६।५५।३); शृण्वे वीर उग्रमुग्रम (ऋ०६।४७।१६); पन्यंपन्यमित् सोतारः (ऋ०८।२।२५); यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे (ऋ०६।४८।१); विशोविशो वो अतिथिम् (ऋ० ८।४।१) इन सब मन्त्रों में वीप्सा है ॥३-४॥

प्राय: भिन्न-भिन्न पदार्थों में वीप्सा होती है, परन्तु कहीं-कहीं एक पदार्थ में भी वीप्सा होती है। उसका उदाहरण है— अग्निमग्निं हवीमभिः (ऋ०१।१२।२)।

अग्नि एक पदार्थ है, अग्नि शब्द नानाभूतार्थवाची नहीं है, तो भी यहां वीप्सा है ॥५॥

देवंदेवं वोऽवस इन्द्रमिन्द्रं गृणीषणि (ऋ०८।१२।१९); तंतमिद्राधसे महे (ऋ० ८।६८।७) ये पाद भी वीप्सा के उदाहरण हैं।

इन ऋचाओं में भी 'इन्द्र' एक ही पदार्थ है ॥६॥

कुछ आचार्यों के मतानुसार यहां सुबन्त के द्विर्वचन से तिङन्त की नित्यता प्रतीत होती है, क्योंकि इस प्रकार के नित्यार्थ में भी द्विर्वचन होता है। दूसरे आचार्य कहते हैं कि कालभेद से एक अग्नि भी भिन्न-भिन्न अनेक अग्नि हो जाती है। अन्य आचार्यों का मत है—देशभेद के कारण वहां वीप्सा है।

उपर्युक्त तीन मतों में से माधव को कौनसा मत स्वीकार्य है, यह स्पष्ट नहीं है। 'अग्नि-

संप्रोपोदां द्विर्वचनं स्मर्यते पादपूरणे ।
'संसमिद्युवसे वृषन्', 'प्र प्र यज्ञं पृणीतन' ॥९॥
'उपोप मे परा मृश', 'किं नोदुदु हर्षसे' च ।
न पादपूरणा अन्ये परापाभीति ते त्रयः ॥१०॥
'अपाप शक्रोऽ[क्रः'अ]भ्यभि हिं', 'मो षु णः परापरा' ।
वीप्साविशेष एतेषु द्विरुक्तेरवगम्यते ॥११॥

मग्निम्' (ऋ० १।१२।२) के वृहद्भाष्य में उसने कहा है—एकोऽप्यग्निः [व्यक्ति]भेदाद् अनेक इव भव[ति] । देशभेदादित्यपरे । तन्न समञ्जसम् । अग्निमेव भूयो हवीम ·। यहां 'भूयः' पद से नित्यता का संकेत मिलता है ? अन्य उदाहृत स्थलों पर उसने कोई सङ्केत नहीं दिया—सर्वदेवेन्द्रमेव देवम् (ऋ०८।१२।१९ लघु०) ; तमेव सर्वदा महते धनायेन्द्रम् (ऋ०८।६८।७ लघु-भाष्य) । अन्य भाष्यकारों ने भी इन स्थलों पर भेद स्वीकार करके वीप्सा में द्विर्वचन माना है । जैसे—अग्निमग्निम् यावान् कश्चिदग्निः सर्वम् (ऋ०१।१२।२ स्कन्द०) । अग्निमग्निम् आहवनी-यादिभेदेन वीप्सा (१।१२।२ मुद्गल०) । यद्यप्यग्निः स्वरूपेणैक एव तथापि प्रयोगभेदाद् आह-वनीयादिस्थानभेदात् पावकादिविशेषणभेदाद्वा बहुविधत्वमभिप्रेत्य अग्निमग्निमिति वीप्सा (ऋ० १।१२।२ सायण०) । सायण ने दूसरे स्थल पर लिखा है—इन्द्रो बहुषु देशेषु युगपत् प्रवृत्तेषु यागेषु तत्र तत्र हविःस्वीकरणाय बहूनि शरीराण्याददानः स्वयमेकोऽप्यनेकः संस्तत्र तत्र संनिधत्ते । तथा च निगमान्तरम् —इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते (ऋ० ६।४७।१८) इति । तदपेक्षयेयं वीप्सा (ऋ०८।१२।१९ सायण०) । तीसरे स्थल पर सायण का लेख है—सर्वेष्वपि यागेषु तमेवेन्द्रम् (ऋ०८।६८।७ सायण०) । स्वामी दयानन्द ने अग्निमग्निम् (ऋ० १।१२।२) मन्त्र के भाष्य में लिखा है—'अग्निम् परमेश्वरम् । अग्निम् विद्युद्रूपम् ।' स्पष्ट है, यहां वीप्सा नहीं है, न ही आवृत्ति है, तब स्वरोपपत्ति कैसे होगी ? ॥७-८॥

सम्, प्र, उप, उद् इन शब्दों के द्विर्वचन का विधान पादपूरण के लिए किया गया है । जैसे—संसमिद्युवसे वृषन् (ऋ०१०।१९१।१) ; प्र प्र यज्ञं पृणीतन (ऋ०५।५।५) ; उपोप मे परा मृश (ऋ०१।१२६।७) ; किं नोदुदु हर्षसे (ऋ० ४।२१।९) । परा, अप, अभि इन तीन उपसर्गों का द्विर्वचन होता है, परन्तु ये पादपूरण नहीं होते हैं ।

पाणिनि ने प्रसमुपोदः पादपूरणे (अ० ८।१।६) सूत्र से प्र, सम्, उप, उद् शब्दों का द्विर्व-चन पादपूरण में विहित किया है ॥९-१०॥

अपाप शक्रः (ऋ०५।३४।३) ; अभ्यभि हि (ऋ०९।११०।५) ; मो षु णः परापरा (ऋ० १।३८।६) इन मन्त्रों में द्विर्वचन से ही विशेष वीप्सा अवगत होती है ॥११॥

अधोऽधो निर्ऋतिर्माऽस्मान् सर्वथा दुर्हणा वधीत् ।
एवम् 'अभ्यभि ही [हि' इ]त्यत्र पुनः पुनरभिक्रमः ॥१२॥
योऽलंकरिष्णुः पुरुषः ततनुष्टिः स उच्यते ।
मघवाऽयजमानं तं पुनः पुनरपोहति ॥१३॥
'इन्द्रावरुण नू नु वाम्', इति नुः पूरणो यथा ।
तद्वत् सर्वानिमानाहुरपरे पादपूरणान् ॥१४॥

मो षु णः परापरा···वधीत् (१।३८।६) ऋक् का अभिप्राय है—'सर्वथा दुःख से नाश होने योग्य निर्ऋति(दरिद्रता)हमें नीचे ही नीचे न मारे ।'इसी प्रकार अभ्यभि हि (ऋ०९।११०।५) इस ऋक् में क्रिया का पुनः आरम्भ प्रतीत होता है । जो मनुष्य अपने को अलङ्कृत करनेवाला है, उसे 'ततनुष्टि' कहा जाता है । इस प्रकार अपाप शक्रस्ततनुष्टिम् (ऋ०५।३४।३) ऋक् का भाव है—मघवा (इन्द्र) उस यज्ञ न करनेवाले ततनुष्टि (अलङ्कारप्रिय) मनुष्य को पुनः पुनः दूर हटाता है ।'

तीनों ऋगंशों के भावार्थ दर्शाकर माधव ने परा, अभि, अप उपसर्गों के दो बार प्रयोग से वीप्सा के विशेष प्रकार को स्पष्ट किया है । बारहवीं कारिका में मद्रास संस्करण में 'दुह्र्णा' पाठ दिया गया है ,परन्तु ऋग्वेद में 'दुर्हणा' पाठ उपलब्ध होता है, अतः होशियारपुर संस्करण में 'दुर्हणा'पाठ को ही स्वीकार किया गया है । तेरहवीं कारिका में उपर्युक्त दोनों संस्करणों में'मघवा यजमानं' पाठ मिलता है । माधव भाष्य के अनुसार'मघवाऽयजमानं' पाठ युक्त है ॥१२-१३॥

इन्द्रावरुण नू नु वाम् (ऋ०१।१७।८) इस ऋक् में जिस प्रकार 'नु' पादपूरण है, उसी प्रकार इन सब आवृत्त प्रयोगों को दूसरे विद्वान् पादपूरण बताते हैं ।

प्रकृत ऋक् के भाष्य में स्कन्द तथा वेङ्कट माधव ने पहले 'नु' को क्षिप्र अर्थ में एवं दूसरे 'नु' को पादपूरण माना है । मुद्गल तथा सायण ने 'नू नु' का अर्थ लिखा है—अतिशयेन क्षिप्रम् । सायण ने हेतु दिया है—द्विरावृत्तिबलादतिशयो लभ्यते । दयानन्द ने अर्थ किया है—'नू क्षिप्रम्' नु हेत्वपदेशे' । पदपाठकार यहां द्विरुक्ति नहीं मानता । यह है भी युक्त, क्योंकि द्विरुक्तियों में आम्रेडित (अ०८।१।२) का निघात (अ०८।१।३) होता है, जो यहां नहीं उपलब्ध होता । अतः 'अप, अभि, परा' को पादपूरण मानने में 'नु' के सादृश्य को दर्शाना ठीक नहीं । मो षु णः (ऋ० १।३८।६)के भाष्य में माधव ने 'परापरा का अधोऽधः'; स्कन्द ने 'अत्यन्तपरा, मुद्गल तथा सायण ने 'उत्कृष्टादप्युत्कृष्टा, अतिबला' अर्थ दिया है । दयानन्द कृत अर्थ है—या परोत्कृष्टा चासावपराऽनुत्कृष्टा च सा । पदपाठकार के प्रतिकूल यहां दो पद माने गये हैं और स्वरोपपत्ति छान्दस स्वीकार की गई प्रतीत होती है ॥१४॥

उदाहरणबाहुल्यात् प्रादीनामेव पाणिनिः ।
अनुशास्ति द्विर्वचनमिति केचिदवस्थिताः ॥१५॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

—:o:—

चतुर्थोऽध्यायः

'ऋतस्य गोपाव [पौ', अ]ध्यायं व्याचिख्यासति माधवः ।
पूरणत्वापूरणत्वे वाच्यमेव प्रदर्शयन् ॥१॥
अवान्तरेषु वाक्येषु बहुष्वावर्तते क्रिया ।
'अश्याम तं काममग्ने', इत्याद्यत्र निदर्शनम् ॥२॥

कुछ विद्वानों का मत है कि उदाहरणों के आधिक्य के कारण पाणिनि ने केवल 'प्र' आदि के द्विर्वचन का ही विधान किया है ।

पाणिनि ने प्रसमुपोदः पादपूरणे (अ० ८।१।६)से प्र, सम्, उप, उद् इन उपसर्गों के द्विर्वचन का विधान किया है । यह अन्य उपसर्गों के द्विर्वचन का उपलक्षण है । पाणिनीय शास्त्र में पद का द्विर्वचन अष्टम अध्याय के प्रथम पाद (सूत्र १—१५) में मिलता है । महाभाष्य में भी इसी प्रकरण में द्विर्वचन सम्बन्धी अनेक वार्त्तिक मिलते हैं ॥१५॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

—:o:—

चतुर्थोऽध्यायः

पूरणत्व एवं अपूरणत्व के विषय में कथन को प्रदर्शित करता हुआ माधव 'ऋतस्य गोपावधि' (ऋ० ५।६३।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

अनेक अवान्तर वाक्यों में क्रियावाची पद दोहराया जाता है । इस के उदाहरण हैं—अश्याम् तं काममग्ने (ऋ०६।५।७) इत्यादि ऋचाएं ।

इस ऋक् में चारों अवान्तर वाक्यों में 'अश्याम' पद का प्रयोग है ॥२॥

'येनाव तुर्वशं यदुं येन कण्वं धनस्पृतम्' ।
एवंविधेऽनुषङ्गेण वाक्यार्थस्य प्रदर्शनम् ॥३॥
अनुषङ्गाय येनेति पुनरावर्तते पदम् ।
अतो न तादृशेष्वस्ति पूरणत्वमिति स्थितिः ॥४॥
'नहि ते क्षत्रं न सहः', 'न जातो न जनिष्यते' ।
एवं 'अन्वह मासाः' च, तादृशाश्च न पूरणाः ॥५॥
'भवन्तु नः सुत्रात्रासः सुगोपाः' इति दृश्यते ।
त्राणगोपनयोर्भेदाद् न गोपा इति पूरणः ॥६॥
'समानो वां जनिते [ता' इ]ति, ततश्च 'भ्रातरा युवम्' ।
इत्यर्थो भ्रातरेत्येतत्ततश्चात्र न पूरणम् ॥७॥

येनाव तुर्वशं यदुं येन कण्वं धनस्पृतम् (ऋ०८।७।१८) इस प्रकार के स्थलों में अनुषङ्ग (सम्बन्ध) से वाक्य के अर्थ को दिखाया जाता है। अनुषङ्ग के लिए प्रकृत उदाहरण में 'येन' पद को दोहराया गया है। अतः ऐसे स्थलों में पूरणत्व नहीं होता, यह निश्चय है ॥३-४॥

नहि ते क्षत्रं न सहः (ऋ०१।२४।६); न जातो न जनिष्यते (ऋ०१।८१।५); अन्वह मासा अन्विद् (ऋ०१०।८९।१३) इन ऋचाओं में 'न' 'अनु' जैसे आवर्त्तमान पद पूरण नहीं हैं।

पहली दो ऋचाओं में 'न' और तीसरी ऋक् में 'अनु' पद की आवृत्ति है। 'नहि' में दो पद के समान व्यवहार होता है, यह 'निपातानुक्रमणी' (२।७) में कहा जा चुका है ॥५॥

भवन्तु नः सुत्रात्रासः सुगोपाः (ऋ०६।५१।११) यहां पुनरुक्ति दीखती है, परन्तु त्राण तथा गोपन में भेद होने के कारण 'सुगोपाः' पद पूरण नहीं है।

त्राण तथा गोपन के भेद को माधव ने न तो यहां, न ही प्रकृत ऋक् के भाष्य में स्पष्ट किया है। सायण ने इस ऋक् के भाष्य में दोनों के भेद को स्पष्ट किया है—उपस्थितेभ्यः शत्रुभ्यो रक्षणं त्राणम्, तेषामुत्पत्ति-निरोधेन रक्षणं गोपनम् (उपस्थित शत्रुओं से रक्षा 'त्राण' है और शत्रुओं को उत्पन्न न होने देनारूप रक्षण गोपन है) ॥६॥

समानो वां जनिता भ्रातरा युवम् (ऋ०६।५९।२) इसका अर्थ है—तुम दोनों (इन्द्र, अग्नि) का जनक एक (प्रजापति) ही है, इसलिए तुम दोनों भाई हो। अतः 'भ्रातरा' पद पूरण नहीं है।

आशय यह है कि कारण-कार्य निर्देश होने के कारण 'भ्रातरा' में पुनरुक्ति नहीं है ॥ . ॥

सूर्याश्वानामियं संज्ञा, या 'भद्रा अश्वा हरितः' ।
हरिन्नामधेया अश्वा अस्येत्यर्थं प्रदर्शयेत् ॥८॥
एवंविधेषु नैकस्य प्राज्ञा इच्छन्ति निर्वचः ।
'तूयं श्येनेभिराशुभिः', निर्ब्रूयात्तादृशानिति ॥९॥
'पशुं न नष्टमिव', दृश्येते नञिवौ सह ।
विशेषणे विशेष्ये च पशुमिव नष्टमिव ॥१०॥
तत्रैकं पूरणं केचिदिच्छन्त्यन्ये तु मन्वते ।
ऋषिस्वभावाद् दृश्येते विशेषणविशेष्ययोः ॥११॥
'अर्चन्तस्त्वा हवामहेऽर्चन्तः समिधीमहि' ।
तृतीयोऽर्चन्त इत्येषः केषांचित् पूरणो मतः ॥१२॥

भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य (ऋ० १।११५।३) इस ऋक् में प्रयुक्त 'हरित्' सूर्य के घोड़ों का नाम है। 'सूर्य के हरित् नामक अश्व' ऐसा अर्थ दिखावे।

तात्पर्य यह है कि 'हरित्' की पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि 'हरित्' अश्व का पर्याय नहीं है, अपि तु विशिष्ट संज्ञा है ॥८॥

इस प्रकार के स्थलों में विद्वान् लोग (पर्यायवाची होने पर भी) अनेक शब्दों का निर्वचन करना चाहते हैं। जैसे—तूयं श्येनेभिराशुभिः (ऋ० ८।५।७) इस ऋक् में वैसे सभी शब्दों का निर्वचन करे।

उदाहृत ऋक् में 'श्येनेभिः' 'आशुभिः' 'अश्वेभिः' पर्यायवाची पद हैं, उन सब का निर्वचन अभीष्ट है ॥९॥

पशुं न नष्टमिव (ऋ० १।११६।२३) इस ऋक् में उपमार्थक 'नञ्' तथा 'इव' साथ-साथ दिखाई देते हैं। विशेषण और विशेष्य के साथ अन्वित होकर—'पशुमिव नष्टमिव' अर्थ प्रतीत होता है। कुछ आचार्य इन में से एक को पूरण मानते हैं। दूसरे आचार्यों का मत है कि ऋषि के स्वभाव के कारण विशेषण एवं विशेष्य दोनों के साथ यहां उपमार्थक शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

वेङ्कट माधव ने इस ऋक् के भाष्य में भी लिखा है—इवेति पूरणो नेत्यनेन पौनरुक्त्यादिति। इसी प्रकार स्कन्द का कथन है—इव शब्दोऽत्र नेत्यनेन पौनरुक्त्याद् 'अस्त्युपमार्थस्य सम्प्रत्यर्थे प्रयोगः' (निरु० ७।३१) इति पदपूरणः।' मुद्गल और सायण ने भी—एक उपमार्थीय पूरकः—लिखा है ॥१०-११॥

अर्चन्तस्त्वा हवामहेऽर्चन्तः समिधिमहि। अग्ने अर्चन्त ऊतये ॥ (ऋ० ५।१३।१) इस ऋक्

ह्वानं समिन्धनं चैव कुर्महेऽर्चनपूर्वकम् ।
रक्षणायेति मन्त्रार्थः तत्रैकमतिरिच्यते ॥१३॥
'न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः' ।
पादस्य प्रथमस्यात्र प्रपञ्चस्तदनन्तरः ॥१४॥
एवं पादो द्वितीयोऽत्र न पूरण इति स्थितिः ।
देवशब्दस्य पादेन मुख्येनैकेऽन्वयं विदुः ॥१५॥
'शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे' ।
दद्यामपि च दित्सेयमेवं चात्र न पूरणम् ॥१६॥
'विश्वे गन्त मरुतो विश्वे', 'विश्वे अद्य मरुतः' ।
आवर्तते विश्वशब्दस्तं चेच्छति न पूरणम् ॥१७।

में तीसरा 'अर्चन्तः' पद किन्हीं आचार्यों के मत से पूरण है । 'रक्षा के लिए हम अर्चनपूर्वक आह्वान एवं समिन्धन कर रहे हैं, यह मन्त्र का अर्थ है ।' इसमें एक 'अर्चन्तः' पद अधिक हो जाता है ।

माधव ने उदाहृत ऋक् के भाष्य में इस का सङ्केत नहीं किया । मुद्गल तथा सायण का कथन है—अर्चन्त इति तृतीयं पदमादरातिशयार्थम् ॥१२-१३॥

न ते॑ व॒र्तास्ति॒ राध॑स॒ इन्द्र॑ दे॒वो न मर्त्यः॑ (ऋ० ८।१४।४) इस ऋक् में प्रथम पाद के आशय को उस के अनन्तर विस्तार से कहा गया है । इस प्रकार यहां दूसरा पाद पूरण नहीं है । कुछ विद्वान् मानते हैं कि देव शब्द का अन्वय मुख्य प्रथम पाद के साथ है ।

न ते॑ व॒र्तास्ति॒ राध॑स॒ इन्द्र॑ दे॒वो न मर्त्यः॑ । यद् दित्स॑सि स्तु॒तो म॒घम् ॥ (ऋ० ८।१४।४) इस ऋक् का भावार्थ है—'हे इन्द्र ! यदि तू स्तुत होकर धन देना चाहता है, तो तेरे धन का निवारक न देव है न मनुष्य ।' इस प्रकार यहाँ सम्भावित निवारकों का ग्रहण दूसरे पाद में किया गया है, अतः वह पूरण नहीं है ॥१४-१५॥

शिक्षे॑यमस्मै॒ दित्से॑यं॒ शची॑पते मनी॒षिणे॑ (ऋ० ८।१४।२) इस ऋक् में—'दान दूं और आगे भी दान देने की इच्छा करूं'—यह अर्थ अभिप्रेत है । अतः यहां पद पूरण नहीं है ।

उदाहृत ऋक् में 'शिक्ष' तथा दित्स' समानार्थक दो धातुओं के प्रयोग के कारण पदपूरण होने की शङ्का का निवारण अर्थभेद दर्शा कर किया गया है ॥१६॥

विश्वे॑ गन्त मरु॒तो विश्वे॑ (ऋ०५।४३।१०) ; विश्वे॑ अ॒द्य म॒रुतो॒ विश्वे॑ (ऋ०१०।३५।१३) इन ऋचाओं में 'विश्व' शब्द की आवृत्ति हुई है, परन्तु उसको कोई भी आचार्य पूरण नहीं

गमने रक्षणे चैव सर्वेषां ह्यन्वयो मतः ।
व्युत्पत्त्यर्थमृचोऽस्माभिरित्थं बह्व्यः प्रदर्शिताः ॥१८॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

—:०:—

पञ्चमोऽध्यायः

'त्वं हि क्षैतवद्यशो'ऽथ, व्याचिख्यासति माधवः
पादभेदे पूरणेषु वक्तव्यं संप्रदर्शयन् ॥१॥
अवान्तराः केचिदर्था ऋक्पादेषु व्यवस्थिताः ।
समुदायस्तु तेषां यः स वाक्यार्थ इति स्थितिः ॥२॥
क्रियापदान्वयः पादे यावताऽपीह सिध्यति ।
अवान्तरार्थं तं प्राहुः, 'अग्निमीळे पुरोहितम्' ॥३॥

मानता, क्योंकि सब 'विश्व' पदों का अन्वय गमन एवं रक्षण के साथ माना गया है । इस प्रकार विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति के लिए हम ने बहुत सी ऋचाएं दिखाई हैं ॥१७-१८॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

—:०:—

पञ्चमोऽध्यायः

भिन्न-भिन्न पादों में पूरण पदों के विषय में वक्तव्य को प्रदर्शित करता हुआ माधव 'त्वं हि क्षैतवद् यशो' (ऋ० ६।२।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

ऋचाओं के पादों में कुछ अवान्तर अर्थ विद्यमान होते हैं । परन्तु उनका जो समुदाय होता है, वही पूर्ण वाक्यार्थ होता है यह सिद्धान्त है ॥२॥

पाद में जितने अंश से क्रियावाची पद का अन्वय सिद्ध हो जाय, उस को अवान्तर अर्थ कहते हैं ।जैसे—अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ० १।१।१) ॥३॥

अपेक्षा जायते पादे, 'यज्ञस्य देवमृत्विजम्' ।
कं किञ्च तस्य कर्तव्यं तत्रैतदुपतिष्ठति ॥४॥
पुरोहितेन रहितम् अग्निमीळे पदद्वयम् ।
पश्येत्तयोरन्यतरत् पादेऽन्यस्मिन्नवस्थितम् ॥५॥
नोपेक्षते पदं पूर्वं नतरामुभयं यदि ।
तस्मात् पादान्तरेणैतद् उभयं पूरणं विदुः ॥६॥
'ता मित्रस्य प्रशस्तय इन्द्राग्नी ता हवामहे' ।
न पूरणोऽत्र तच्छब्दः पादे यस्मिन् व्यवस्थितः ॥७॥

यज्ञस्य देवमृत्विजम् (ऋ०१।१।१) इस पाद में अपेक्षा उत्पन्न होती है—'किस को ? और उसके प्रति क्या करना चाहिये ?' वहां 'पुरोहितम्' पद से रहित 'अग्निम् ईळे' ये दो पद उपस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार इन दोंनो पदों में से एक को अन्य पाद में अवस्थित समझें।

इस ऋक् के द्वितीय एवं तृतीय पाद साकाङ्क्ष हैं। उनमें आकाङ्क्षा होती है—किस देव को ? क्या करें ? प्रथम पाद में आये—अग्निम् ईळे—पदों से आकाङ्क्षा की पूर्ति होती है—'अग्नि की स्तुति करें' ॥४-५॥

यतः पूर्व पद 'अग्निम्' किसी की अपेक्षा नहीं रखता और 'अग्निम् ईळे' दोनों पद तो अन्य की अपेक्षा बिलकुल नहीं रखते, अतः अन्य पादों से ये दोनों पूरण माने जाते हैं (अर्थात् ऋक् के दोनों पादों में अन्वित होकर ये वाक्यार्थ को पूर्ण करते हैं) ॥६॥

ता मित्रस्य प्रशस्तय इन्द्राग्नी ता हवामहे (ऋ०१।२१।३) यहां 'तत्' शब्द जिस पाद में विद्यमान है, वहां पूरण नहीं है।

यहां दोनों पादों में 'तत्' (ता=तौ) शब्द का प्रयोग हुआ है। दूसरे पाद में आवृत्ति है, अतः 'ता' पूरण होना चाहिये। परन्तु 'प्रशस्ति के लिए' एवं 'सोमपान के लिए'— दो भिन्न कर्मों के लिए आह्वान होने से दोनों पादों में 'तत्' शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः 'ता' पूरण नहीं है। वस्तुतः यहां 'इन्द्राग्नी ता हवामहे' की आवृत्ति है। यह पाद—या पूर्तनासु दुष्टरा (ऋ० ५।८६।२) ऋक् (तथा ६।६०।१४) का अन्तिम चरण है। वहां प्रथम तीन पादों में 'या' (यो) पद प्रयुक्त हुआ है, चतुर्थ पाद में 'ता' पद प्रयोग समीचीन ही है। सम्भवतः माधव ने 'यस्मिन् पादे' से उसी का संकेत किया है। माधव के बृहद् भाष्य में इस का अस्पष्ट संकेत मिलता है ॥७॥

'अस्माकमद्य वामयं स्तोमो वाहिष्ठो अन्तमः' ।
पुनर् 'युवाभ्याम्' इत्युक्तम्, न तदिच्छन्ति पूरणम् ॥८॥
'यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे' ।
आवर्तते पदं तेऽत्र नोभयोः पूरणे पदे ॥९॥
'वेत्था हि वेधो अध्वनः पथश्च देवाञ्जसा' इति ।
पथोऽध्वनश्च भेदश्च चकारेण प्रतीयते ॥१०॥
'प्रोतये वरुणं मित्रमिन्द्रं', 'कृष्ण्वावसे' इति ।
पुनः प्रयुज्यते तत्र भेदः सूक्ष्मोऽति कश्चन ॥११॥

अस्माकमद्य वामयं स्तोमो वाहिष्ठो अन्तमः । युवाभ्यां भूत्वश्विना ॥ (ऋ० ८।५।१८) इस ऋक् में पुनः 'युवाभ्याम्' पद प्रयुक्त हुआ है । विद्वान् लोग उसको पूरण नहीं मानते ।

उदाहृत ऋक् में प्रथम चरण में 'वाम्' एवं तृतीय चरण में युवाभ्याम्'समानार्थक पदों का प्रयोग हुआ है । 'वाम्' का अन्वय 'वाहिष्ठः स्तोम 'के साथ और 'युवाभ्याम्' का अन्वय 'अन्तमः' के साथ होता है । अतः 'युवाभ्याम्' को पूरण नहीं माना जाता ॥८॥

यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे (ऋ०८।१२।२९) इस ऋक् में 'ते' पद की आवृत्ति है । परन्तु दोनों पादों में पूरण पद नहीं हैं ।

प्रकृत ऋक् में तीनों पादों में क्रमशः 'ते' 'तुभ्यम्' 'ते' पद प्रयुक्त हुए हैं । इन में पहले पाद में वर्तमान 'ते' षष्ठ्यन्त है और 'तुभ्यम्' एवं 'ते' चतुर्थ्यन्त हैं । ये दोनों भिन्न-भिन्न वाक्यों में अन्वित होते हैं, अतः पूरण नहीं हैं ॥९॥

वेत्था हि वेधो अध्वनः पथश्च देवाञ्जसा (ऋ० ६।१६।३) इस ऋक् में 'अध्वनः' तथा 'पथः'दो पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त हुए हैं ।'अध्वनः'और'पथः'का भेद चकार से प्रतीत होता है ।

प्रस्तुत ऋक् में 'च' पद से अध्वा तथा पन्था का समुच्चय द्योतित होता है, अतः दोनों के अर्थों में कुछ भेद अवश्य है । माधव ने प्रकृत ऋक् के भाष्य में केवल यह कहा है— अल्पोऽनयोर्भेदः । इससे भेद स्पष्ट नहीं होता । सायण का कथन है—अध्वनः महामार्गान् पथश्च क्षुद्रमार्गांश्च (बड़े तथा छोटे मार्ग) ॥१०॥

प्रोतये वरुणं मित्रमिन्द्रं मरुतः कृष्वावसे०, (ऋ०६।२१।९) इस ऋक् में 'ऊतये' पद के बाद'अवसे'पद का पुनः प्रयोग किया गया है। इन दोनों पदों के अर्थों में कुछ सूक्ष्म भेद है ।

'ऊति' तथा 'अवस्' दोनों पद 'अव' धातु से निष्पन्न हैं, अतः समानार्थक होने के कारण यहां पुनरुक्ति प्रतीत होती है । प्रकृत कारिका में दोनों पदों के अर्थों में सूक्ष्मभेद मानकर पुनरुक्ति

'स नो नियुद्भिरा पृण कामं वाजेभिरश्विभिः'।
स्त्रीपुंविभेदादत्रापि नास्ति कश्चन पूरणः ॥१२॥
'पुरूण्यग्ने पुरुधे [धा' इ]ति, मन्त्रान्ते श्रूयते पदम्।
त्वे इत्येतत् पादभेदाद् बहवः सन्ति तादृशाः ॥१३॥
'वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्'।
आवर्तते वयमिति सन्ति चान्येऽपि तादृशाः ॥१४॥

का निवारण किया गया है। परन्तु इस ऋक् के भाष्य में वेङ्कट माधव का कथन है—'पुनः अवसे इति पूरणम्'। सायण ने 'ऊति' का अर्थ तर्पण और 'अवस्' का अर्थ रक्षण किया है। इस प्रकार अर्थ भेद होने से यहां पुनरुक्ति नहीं है ॥११॥

स नो नियुद्भिरा पृण कामं वाजेभिरश्विभिः (ऋ० ६।४५।२१) इस ऋक् में भी स्त्रीलिङ्ग एवं पुंल्लिङ्ग के भेद के कारण कोई पूरण नहीं है।

उदाहृत ऋक् में 'नियुद्भिः' (घोड़ी) और 'अश्विभिः' (घोड़ों से युक्त) पद प्रयुक्त हुए हैं। नियुत् (घोड़ी) स्त्रीलिङ्ग तथा अश्व (घोड़ा) पुंल्लिङ्ग है, अतः कोई पूरण नहीं है ॥१२॥

पुरूण्यग्ने पुरुधा...त्वे (ऋ० ६।१।१३) इस मन्त्र के अन्त में 'त्वे' पद श्रूयमाण है, जो भिन्न पाद में स्थित होने के कारण पूरण नहीं है। ऐसे उदाहरण बहुत हैं।

इस ऋक् के तीसरे एवं चौथे पाद में 'त्वे' शब्द का प्रयोग हुआ है। पादभेद होने से अवान्तर वाक्यों में अन्वित हो जाने पर 'त्वे' को पूरण मानने की आवश्यकता नहीं। मुद्गल तथा सायण ने 'त्वयि' एवं 'त्वाम्' अर्थ दर्शाकर 'त्वे' के पूरणत्व का निवारण करने का यत्न किया है, जो क्लिष्ट प्रतीत होता है। वेङ्कट माधव ने भाष्य में—'पुनः त्वे इति पूरणम्' कहकर 'त्वे' को पूरण मान लिया है ॥१३॥

वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्। सासह्याम पृतन्यतः॥ (ऋ० १।८।४) इस ऋक् में 'वयम्' पद की आवृत्ति की गई है। ऐसे उदाहरण अन्य भी हैं।

प्रकृत ऋक् के तीसरे चरण में श्रुत 'सासह्याम' क्रिया के साथ कर्त्ता के रूप में अन्वित होने के कारण प्रथम चरण श्रुत 'वयम्' पद ही अपेक्षित है, अतः द्वितीय 'वयम्' पद पूरण है। माधव ने इस ऋक् के भाष्य में—पुनः वयम् इति पूरणम्—लिखकर इस तथ्य को स्वीकार किया है। यदि पादभेद हेतु माना जाय, तो यहां भी सायण-मुद्गल के समान प्रथम पादस्थ 'वयम्' का अन्वय अध्याहृत 'संयुज्येमहि' के साथ और द्वितीयपादस्थ 'वयम्' का अन्वय यथाश्रुत 'सासह्याम' के साथ करके पूरणत्व का निराकरण किया जा सकता है। स्कन्द ने व्यत्यय मानकर—अस्माभिः सह पृतन्यतः—लिखकर पूरणत्व क कया है ॥१४॥

इत्थं व्युत्पत्तिसिद्ध्यर्थमृचोऽस्माभिरुदाहृताः ।
तासामाकृतिविद् विप्रो न मन्त्रार्थेषु मुह्यति ॥१५॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

—:०:—

षष्ठोऽध्यायः

अथ 'पिबा सोममभि', व्याचिख्यासति माधवः ।
पादे समाने वक्तव्यं पूरणेषु प्रदर्शयन् ॥१॥
तस्मिन् पादे यदा पश्येत् तमेवाविकृतं पुनः ।
तं पादपूरणं ब्रूयादिति वृद्धेभ्य आगमः ॥२॥
किमुदाहरणं तत्र, न 'याति देवः प्रवता' ।
नापि 'ये चाकनन्ते [न्त' इ]ति, भिन्ने वाक्ये यतस्तयोः ॥३॥

इस प्रकार विशेष योग्यता की सिद्धि के लिए हमने अनेक ऋचाएं उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की हैं। उनके प्रकार को जाननेवाला विद्वान् मन्त्रों के अर्थों में भ्रम में नहीं पड़ता ॥१५॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

—:०:—

षष्ठोऽध्यायः

समान पाद में पूरणों के विषय में वक्तव्य को प्रकट करता हुआ माधव 'पिबा सोममभि' (ऋ० ६।१७।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

उस पाद में जब उसी शब्द को अविकृतरूप में पुनः देखे, तो उसे 'पादपूरण' बतावे। यह वृद्ध जनों से प्राप्त आगम=उपदेश है ॥२॥

इसका उदाहरण क्या है ? याति देवः प्रवता (ऋ० १।३५।३) यह उदाहरण नहीं और

'आ याहि पूर्वीरती [ति'इ]ति, पादो नात्र निदर्शनम् ।
दृश्यते पूरणो ह्येष आकारः केवलोऽपि सन् ॥४॥
'त्वमग्ने व्रतपा असि', मन्त्रस्तत्र निदर्शनम् ।
तत्र प्रथम आकारो निरर्थक इति स्थितिः ॥५॥
ननु देवस्त्वमागत्य मर्त्येष्वपि च वर्तसे ।
इति सार्थोऽत्र आकार इदं तस्मिन्निदर्शनम् ॥६॥
'अयं ते अस्तु हर्यतः', 'को वो वर्षिष्ठ आ नरः' ।
निपातव्यतिरेकेण तस्माद् द्वौ च निदर्शनम् ॥७॥

न ही ये चाकनंन्त (ऋ० ५।३१।१३) यह उदाहरण हो सकता है, क्योंकि उन दोनों के वाक्य भिन्न हैं ।

याति दे॒वः प्र॒वता॒ यात्यु॒द्वता॒ (ऋ० १।३५।३) इस ऋक्-पाद में 'याति' पद की आवृत्ति है । इसी प्रकार—ये चा॒कनंन्त चा॒कनंन्त॒ नू ते (ऋ० ५।३१।१३) इस ऋक्पाद में 'चाकनन्त' की पुनरुक्ति है । दोनों स्थलों में भिन्न-भिन्न वाक्यों में ये पद प्रयुक्त हुए हैं, अतः 'याति' एवं 'चाकनन्त' पूरण नहीं हैं ॥३॥

आ याहि पू॒र्वीरति॑ (ऋ० ३।४३।२) यह पाद भी उदाहरण नहीं है, क्योंकि यह 'आकार' अकेला भी पूरण देखा जाता है ।

आ याहि पू॒र्वीरति॑ चर्ष॒णीरा (ऋ० ३।४३।२) इस पाद में पुनरुक्त 'आ' निपात है, परन्तु केवल 'आ' निपात के पूरणत्व के विषय में पूर्व (निपातानुक्रमणी अ० ८।५) कहा जा चुका है । अतः यहां उसे उदाहरण के रूप में नहीं रक्खा जा सकता ॥४॥

त्वमंग्ने व्र॒तपा॒ असि (ऋ० ८।११।१) यह मन्त्र यहां उदाहरण है । वहां प्रथम 'आकार' निरर्थक है, यह निश्चय है ।

प्रस्तुत ऋक् के द्वितीय पाद—दे॒व आ मर्त्ये॒ष्वा—में 'आ' की आवृत्ति है । माधव ने यहां पहले 'आ' को पूरण माना है । इस ऋक् के भाष्य में भी—'देवः सन् मर्त्येषु आगत्य वर्त्तसे'—लिखकर प्रथम 'आ' का पूरणत्व बताया है । परन्तु सायण ने दोनों 'आ' समुच्चयार्थक माने हैं ॥५॥

शङ्का यह है कि प्रकृत पाद का अर्थ यह हो सकता है—'देव तू आकर मनुष्यों में भी वर्त्तमान है ।' इस प्रकार 'आ' सार्थक हो सकता है ? उत्तर है—तब उदाहरण यह है ॥६॥

अ॒यं ते॑ अस्तु हर्य॒तः (ऋ० ३।४४।१); को वो॒ वर्षि॑ष्ठ॒ आ नरः (ऋ० १।३७।६) यहां निपात के विना ही चरण के अर्थ की पूर्ति हो जाती है । अतः ये दोनों उदाहरण हैं ।

'स यन्ता विप्र एषां स यज्ञानामथा हि षः' ।
पादे द्वितीये तच्छब्द एकस्तत्रैस्तु पूरणः ॥८॥
'अस्मा एतन्मह्याङ्गूषम्', एकोऽस्मा इति पूरणः ।
सर्वनामानि पादेषु समानेष्विति पूरणम् ॥९॥
नास्ति निर्वचनं येषां रूपभेदेऽपि तान् विदुः ।
पूरणानेव कवयः, 'एमेनं सृजता सुते' ॥१०॥
'स यजात् सेदु होते[ता' इ]ति, समानार्थाविदू श्रुतौ ।
तत्रैकं पूरणं विद्याद् बहवः सन्ति तादृशाः ॥११॥

उदाहृत प्रथम ऋक् के दूसरे चरण—सोम आ हरिभिः सुतः—में और दूसरी ऋक् के प्रथम चरण में 'आ' निपात वाक्यार्थ में अन्वित न होने के कारण पूरण है। माधव ने भाष्य में दोनों स्थलों में 'आकारः पूरणः' लिखा है। सायण ने दोनों स्थलों में 'आ' के अर्थ क्रमशः 'सर्वतः' एवं 'समन्तात्' लिखे हैं ॥७॥

स यन्ता विप्र एषां स यज्ञानामथा हि षः (ऋ० ३।१३।३) इस ऋक् के द्वितीय पाद में 'तत्' शब्द की आवृत्ति है। अतः एक 'सः' पूरण हो सकता है।

वेङ्कट माधव ने भाष्य में भी द्वितीय पाद के अन्तिम 'सः' को—'पुनः स इति पूरणम्'—पूरण लिखा है। सायण ने पूरण नहीं माना ॥८॥

अस्मा एतन् मह्याङ्गूषमस्मा (ऋ० ६।३४।५) इस ऋक्पाद में एक 'अस्मा' शब्द पूरण है। समान पादों में आवर्त्तमान सर्वनाम पूरण होते हैं।

अस्मा एतन् मह्याङ्गूषमस्मा—इस चरण में दो वार 'अस्मै' पद का प्रयोग हुआ है। माधव ने भाष्य में भी—'पुनः अस्मै इति पूरणम्' ऐसा लिखा है। सायण ने—पुनरुक्तिरादरार्था (पुनरुक्ति आदरार्थ है)—यह लिखा है ॥९॥

जिन शब्दों का निर्वचन नही होता, रूपभेद होने पर भी उनको विद्वान् लोग पूरण ही समझते हैं। जैसे—एमेनं सृजता सुते (ऋ० १।९।२)।

उदाहृत चरण में 'ईम्' तथा 'एनम्' भिन्न रूपवाले समानार्थक (निपातानु० अ०१।२७) पद प्रयुक्त हुए हैं। 'ईम' का निर्वचन नहीं होता, अतः यह पूरण है। भाष्यकारों ने भी इसे पूरण माना है ॥१०॥

स यजात् सेदु होता (ऋ० १०।२।३) इस ऋक्पाद में 'इत्' तथा 'उ' समानार्थक निपात हैं। उन में से एक को पूरण समझना चाहिये। ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

अद्धेत्थेति द्वौ पठितौ सत्यनामसु वैदिकैः ।
न तावत्यन्तपर्यायौ सत्येनेति विपश्चितः ॥१२॥

'सत्यमद्धा नकिरन्यः', 'सत्यमित्था वृषेदसि' ।
सत्यं तथा, सत्यमित्थमित्यर्थस्तत्र दर्शितः ॥१३॥

'पुत्रिणा ता कुमारिणा', कुमारा अर्भका इति ।
न पौनरुक्त्यमत्रास्ति तेनैको नात्र पूरणः ॥१४॥

माधव ने प्रस्तुत ऋक् के भाष्य में 'इत्' तथा 'उ' को एवार्थक मानकर इन में से एक को पूरण स्वीकार किया है । परन्तु सायण ने 'एव खलु' लिखकर दोनों को समानार्थक नहीं माना है ॥११॥

वैदिकों ने 'अद्धा' तथा 'इत्था' दोनों शब्द सत्य के नामों में पढ़े हैं । विद्वानों का मत है कि ये दोनों सत्य के अत्यन्त (पूर्णतः) पर्यायवाची शब्द नहीं हैं ।

निघण्टु (३।१०) में 'अद्धा' तथा 'इत्था' पद सत्यनामों में पढ़े गये हैं ॥१२॥

स॒त्यम॒द्धा नकि॑र॒न्यः (ऋ० १।५२।१३); स॒त्यमि॒त्था वृषेद॑सि (ऋ० ८।३३।१०) इन ऋचाओं के भाष्य में 'सत्यं तथा' और 'सत्यम् इत्थम्' ये अर्थ दर्शाये गये हैं ।

वेङ्कट माधव ने इन ऋचाओं के भाष्य में यहां निर्दिष्ट अर्थ ही दिखाये हैं । स्कन्द के मत में 'सत्यमद्धा' में आवृत्ति के कारण अधिक अर्थ की प्रतीत होती है । अतः अर्थ है—'अत्यन्त सत्य'। सायण, मुद्गल तथा दयानन्द ने 'सत्यम्' एवं 'अद्धा' को पृथक् वाक्यों में अन्वित किया है । सायण-मुद्गल के अनुसार 'सत्यम्' का अर्थ है—'निश्चयेन' और अद्धा का अर्थ है—'सत्यम्'। दयानन्द के मत से 'सत्यम्' का अर्थ है—'सत्यम् अव्यभिचारि सुपरीक्षितं वेदचतुष्टयजन्यम्' और 'अद्धा' का अर्थ है—'साक्षात्'। सायण ने भी 'इत्था' का अर्थ 'इत्थम्' ही किया है ॥१३॥

पु॒त्रिणा॑ ता कु॑मा॒रिणा॑ (ऋ० ८।३१।८) इस ऋक्पाद में पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि 'कुमार' का अर्थ होता है—'अल्पवयस्क बालक'। इसलिए यहां कोई पूरण नहीं है ।

उदाहृत पाद में 'पु॒त्रिणा॑' और 'कु॒मा॒रिणा॑' दोनों पद समानार्थक प्रतीत होते हैं, अतः इन में से एक को पूरण माना जाय ? इस शङ्का के उत्तर में कहा गया है—'कुमार छोटी अवस्थावाले बालक को कहा जाता है । अतः पाद का अर्थ है—'पुत्रवाले और उन में भी कुमारवाले पतिपत्नी'। यही अर्थ माधव एवं सायण ने प्रस्तुत ऋक् के भाष्य में दिया है ॥१४॥

उदाहरणविद् विप्रः परिषत्सु न सीदति ।
प्रदर्शितास्ततोऽस्माभिरित्थं नानाविधा ऋचः ॥१५॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

—:०:—

सप्तमोऽध्यायः

'इन्द्रं वो नरः सख्याय', व्याचिख्यासति माधवः ।
मत्वर्थीयेषु वक्तव्यं पूरणेषु प्रदर्शयन् ॥१॥
मत्वर्थीयान्मत्वर्थीयो न तु लोके प्रदृश्यते ।
प्रयुज्यते स वेदे तु पादं पूरयितुं पुनः ॥२॥
'वाजेभिर्वाजिनीवती', 'रक्षोहत्याय वज्रिवः' ।
'मा यातुर्यातुमावताम्', इति पादा निदर्शनम् ॥३॥

उदाहरणों को जाननेवाला विद्वान् विद्वत्सभाओं में दुःखी नहीं होता । इस लिए हम ने अनेक प्रकार की ऋचाओं को यहां दिखाया है ॥१५॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

—:०:—

सप्तमोऽध्यायः

मत्वर्थीय पूरणों के विषय में कहने योग्य बातों को दिखाता हुआ माधव 'इन्द्रं वो नरः सख्याय' (ऋ० ६।२९।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

लोक में मत्वर्थीय प्रत्ययान्त शब्द से पुनः मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं दिखाई देता । वेद में पाद की पूर्ति के लिए पुनः मत्वर्थीय प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है ।

महाभाष्यकार ने समानवृत्ति में सरूप मत्वर्थीय प्रत्यय का निषेध (महा० ५।२।९४) किया है । माधव का संकेत उसी की ओर है ॥२॥

वाजेभिर्वाजिनीवती (ऋ० १।३।१०); रक्षोहत्याय वज्रिवः (ऋ० ६।४५।१८); मा यातुर्यातुमावताम् (ऋ० ८।६०।२०) ये ऋक्पाद उदाहरण हैं ।

मत्वर्थीयो बहुव्रीहेर्नेष्यते शाब्दिकैरिह ।
'अर्यमा सुदानवः' इति, दृष्टो वेदेषु तादृशः ॥४॥

वेङ्कट माधव ने 'वाजिनीवती', 'वज्रिवः' तथा 'यातुमावताम्' पदों में 'मतुप्' प्रत्यय को स्वार्थिक माना है, अतः यह पादपूरण है। भाष्य में माधव ने इन पदों के अर्थ दिये हैं—'अन्नैः अन्नवती' (ऋ० १।३।१०); 'वाजिन्, मत्वर्थीया वृत्तिरन्यत्रापि दृष्टा' (ऋ० ६।४५।१८); हिंसावतां यातुधानानाम् (ऋ० ८।६०।२०)। स्कन्द ने 'वाजिनीवती' पद की व्युत्पत्तियां अनेक प्रकार से दर्शाई हैं, जिनमें मत्वर्थीय प्रत्यय स्वार्थिक नहीं है। परन्तु उसने 'वाज इत्यन्ननाम। वाजिनीशब्दोऽपि तस्यैव पर्यायान्तरं द्रष्टव्यम्। यजमानेभ्यो यानि ददाति तैः, हविर्लक्षणैश्चान्नै-रन्नवती' (ऋ० १।३।१०) यहां प्रकारान्तर से एक मत्वर्थ प्रत्यय को स्वार्थिक मान लिया है। 'वाजमन्नम्, तद्वती वाजिनी अन्नसंहतिः, तद्वती वाजिनीवती। अन्नसमूहवतीत्यर्थः। स्वार्थिको वा मत्वर्थीयः, अन्नवति इत्यर्थः' (ऋ० १।९२।१३) यहां स्कन्द ने स्पष्ट ही मत्वर्थीय प्रत्यय को स्वार्थिक कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र (ऋ० १।१२०।१०) भी स्कन्द ने मत्वर्थीय को स्वार्थिक कहा है। सायण ने भी 'वाजिनीवती' शब्द की अनेक व्युत्पत्तियां विभिन्न स्थलों में दर्शाई हैं, जिन में मत्वर्थीय प्रत्यय को स्वार्थिक नहीं माना है। परन्तु 'वाजिनीवान् वाजोऽन्नं तद्वती क्रिया वाजिनी तया तद्वान् भवति। यद्वा एको मत्वर्थीयप्रत्ययश्छान्दसः' (ऋ० १।१२२।८) यहां मत्वर्थीय प्रत्यय का छान्दसत्व मानना उसके पूरणत्व को द्योतित करता है। 'वज्रिवः' तथा 'यातुमावताम्' पदों में स्कन्द सायण आदि ने मत्वर्थीय को स्वार्थिक नहीं माना है। दयानन्द ने मत्वर्थीय प्रत्यय का पादपूरणत्व कहीं भी स्वीकार नहीं किया ॥३॥

बहुव्रीहि समास से मत्वर्थीय प्रत्यय का विधान वैयाकरणों को इष्ट नहीं है। परन्तु वेदों में वैसा देखा जाता है। जैसे—अर्यमा सुदानवः (ऋ० १।१४१।९)।

वैयाकरणों का मत है कि मत्वर्थ में बहुव्रीहि होता है, अतः अर्थ के उक्त हो जाने से पुनः मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं होता। माधव के अनुसार 'सुदानवः' पद 'अर्यमा' का विशेषण है। इसका विग्रह है—शोभनं दानं यस्य। इस प्रकार यह बहुव्रीहि है और मत्वर्थीय 'व'प्रत्ययान्त (महा० ५।२।१०९) है। यहां मत्वर्थीय 'व' पादपूरण है। सायण के मतानुसार 'सुदानवः' का विग्रह है—शोभनः दानुः येषाम्। अर्यमा का विशेषण मानने पर यहां व्यत्यय से बहुवचन है। प्रकृत ऋक् के भाष्य में सायण का कथन है—'अर्यमा सुदानवः शोभनदानो भवति। व्यत्ययेन बहुवचनम्। यद्वा एते वरुणादयः सुदानवः शोभनदानाः'। माधव के पक्ष में सति शिष्ट स्वर (महा० ६।१।१५८) के कारण अन्तोदात्त स्वर प्राप्त होता है, जबकि अन्य पक्ष में आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि (अ० ६।२।११९) से यथेष्ट स्वर सिद्ध हो जाता है। अतः माधव का पक्ष समीचीन नहीं है ॥४॥

'दस्रा दंसिष्ठे [ष्ठा'इ]ति पदे, तथा 'रथ्या रथीतमा'।
दस्रा रथ्येति तत्राहुः पूरणे नेति माधवः ॥५॥
स्तुतिर्विरम्याभिधानाद् अर्थाभेदेऽपि गम्यते।
दर्शनीयाविमौ देवावित्युक्त्वा भाषते पुनः ॥६॥
न दर्शनीयावपि तु दर्शनीयतमाविति।
तथा न रथ्यावपि तु रथनेतृतमाविति ॥७॥
दूरप्रयुक्तोपसर्गस्मरणार्थं पुनः क्वचित्।
उपसर्गाः प्रयुज्यन्ते न ते केवलपूरणाः ॥८॥
'आ वामश्वासः शुचयः', 'आ भारती भारतीभिः'।
पादे चतुर्थ आकारः प्रयुक्त उभयोरपि ॥९॥
'अभि त्वा गोतमा गिरा', बहवः सन्ति तादृशाः।
प्रागाख्यातात् प्रयुज्यन्ते ततः प्रागपि केचन ॥१०॥

दस्रा दंसिष्ठा (ऋ० १।१८२।२) ये दोनों पद तथा रथ्या रथीतमा (ऋ० १।१८२।२) ये दो पद समानार्थक हैं। अतः 'दस्रा' तथा 'रथ्या' पदों को कुछ विद्वान् पूरण समझते हैं। परन्तु माधव ऐसा नहीं मानता ॥५॥

अर्थभेद न होने पर भी, रुककर पुनः कथन के कारण स्तुति प्रतीत होती है। पहले उदाहरण में 'ये दोनों देव (अश्वी) दर्शनीय हैं' यह कहकर पुनः कहता है—'दर्शनीय ही नहीं, अपि तु दर्शनीयतम हैं'। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में भी—'रथी ही नहीं, अपितु रथीतम हैं'—यह भाव है ॥६-७॥

कहीं-कहीं दूर-प्रयुक्त उपसर्गों के स्मरण के लिए पुनः उपसर्गों का प्रयोग किया जाता है, वे केवल पादपूरण ही नहीं होते। जैसे—आ वामश्वासः शुचयः…एह० (ऋ० १।१८१।२); आ भारती भारतीभिः…रेदं सदन्तु॥ (ऋ० ३।४।८) इन दोनों ऋचाओं में पुनः चतुर्थ पाद में 'आ' का प्रयोग किया गया है।

इन ऋचाओं में क्रियावाचीपद क्रमशः 'वहन्तु' तथा 'सदन्तु' है, जो ऋक् के अन्त में प्रयुक्त हुआ है। अतः चतुर्थ चरण में पुनः 'आ' का स्मरण कराया गया है ॥८-९॥

अभि त्वा गोतमा गिरा (ऋ० १।७८।१) इस ऋक् में 'अभि' उपसर्ग तृतीय चरण में पुनः प्रयुक्त हुआ है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। उपसर्ग क्रियावाची पद से पूर्व प्रयुक्त होते हैं और

'त्वं नो अग्ने तव देव', 'मरुतो मारुतस्य नः' ।
एवंविधेषु मन्त्रेषु पूरणत्वं न विद्यते ॥११॥

इति सप्तमोऽध्यायः॥७॥

—:०.—

अष्टमोऽध्यायः

'यज्ञायज्ञा वो अग्नये', व्याचिख्यासति माधवः ।
आवृत्तेषु वदन् वाच्यम्, ऋगर्धर्चपदेष्वथ ॥१॥

कुछ उपसर्ग उससे भी पूर्व प्रयुक्त होते हैं ।

प्रस्तुत ऋक् में 'अभि' उपसर्ग आरम्भ में प्रयुक्त होने के पश्चात् अन्तिम चरण में पुनः प्रयुक्त हुआ है—द्युम्नैर॒भि प्र णो॑नुमः, क्योंकि यहां भी ऋक् के अन्त में क्रियावाची पद है । यहां आख्यात 'नोनुमः' से पूर्व 'प्र' उपसर्ग है, उससे भी पूर्व 'अभि' उपसर्ग है ॥१०॥

त्वं नो॑ अग्ने॒ तवं देव पा॒युभि॑र्म॒घोनो॑ रक्ष त॒न्व॑श्च० (ऋ० १।३१।१२); मरु॑तो॒ मार्ु॑तस्य न॒ आ भे॑षजस्य॑० (ऋ० ८।२०।२३) इस प्रकार के मन्त्रों में पूरणत्व नहीं है ।

पहली ऋक् में 'नः रक्ष' के पश्चात् 'तन्वः च रक्ष' ये दोनों वाक्य समानार्थक प्रतीत होते हैं । परन्तु सामर्थ्य से पुत्रादि के शरीर की रक्षा के लिए दूसरा वाक्य है, अतः पूरण नहीं है । दूसरी ऋक् में 'मरुतः' के कारण 'मारुतस्य' पद गतार्थ होने से पूरणत्व की शङ्का को उत्पन्न करता है । परन्तु अर्थ को स्पष्ट करने के लिए भेषज का विशेषण 'मारुत' शब्द प्रयुक्त हुआ है, अतः पूरण नहीं है ॥११॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

—:०:—

अष्टमोऽध्यायः

दोहराये गये ऋक्, अर्द्धर्च तथा पादों के विषय में उल्लेखनीय बातों को बताता हुआ माधव 'य॒ज्ञाय॑ज्ञा वो अ॒ग्नये॑' (६।४८।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

ऋचोऽर्द्धर्चाश्च पादाश्च सूक्तान्तेषु पुनः पुनः ।
आवर्तमाना दृश्यन्ते सूक्तमध्येष्वपि क्वचित् ॥२॥
'ये स्तोतृभ्यः', 'नू ष्टुतः' चा[च, 'अ]स्मभ्यं तद्वसो दानाय' ।
'ब्रह्मणस्पते त्वमस्य', चतस्रश्च निदर्शनम् ॥३॥
अथार्धर्चः 'तन्नो मित्रः', सन्त्यन्येऽपि च तादृशाः ।
'प्रातर्मक्षू' इति पादः स्यात्, सन्त्यन्येऽपि च तादृशाः ॥४॥
स्तुत्वाऽन्यमन्यदेवानां तत्तदाशासते पुनः ।
ऋषयो यद्यदिच्छन्ति तदर्थास्ते न पूरणाः ॥५॥

सम्पूर्ण ऋक्, अर्द्धर्च (आधी ऋक्) और ऋक्पाद सूक्तों के अन्त में आवर्त्तमान दिखाई देते हैं । कहीं-कहीं सूक्त के मध्य में भी दोहराये गये हैं । उदाहरणार्थ चार ऋचाएं हैं—ये स्तोतृभ्यः (ऋ० २।१।१६); नू ष्टुतः (ऋ० ४।१६।२१); अस्मभ्यं तद्वसो दानाय (ऋ०२।१३।१३); ब्रह्मणस्पते त्वमस्य (२।२३।१९) ।

'ये स्तोतृभ्यः' (गृत्समद, अग्नि) ऋक् की आवृत्ति ऋ० २।२।१३ में सूक्त के अन्त में हुई है । ऋषि-देवता समान हैं । 'नू ष्टुतः' (वामदेव, इन्द्र) ऋक् की आवृत्ति ऋ० ४।१७, १९-२४ सूक्तों के अन्त में हुई है । ऋषि-देवता समान हैं । 'अस्मभ्यं तद्वसो' (गृत्समद, इन्द्र) ऋक् ऋ० २।१४ सूक्त के अन्त में पुनः श्रुत है । ऋषि-देवता समान हैं 'ब्रह्मणस्पते' (गृत्समद, ब्रह्मणस्पति ऋक् की आवृत्ति ऋ०२।२४ सूक्त के अन्त में हुई है । ऋषि देवता समान हैं । भाष्यकारों ने आवृत्त ऋचाओं की पुनः व्याख्या नहीं की ॥२-३॥

तन्नो मित्रः (ऋ० १।९४।१६) यह अर्द्धर्च आवृत्त अर्द्धर्चों का उदाहरण है । ऐसे उदाहरण अन्य भी हैं । प्रातर्मक्षू (ऋ० १।५८।९) यह पाद आवर्त्तमान पादों का उदाहरण है । इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं ।

'तन्नो मित्रः' (कुत्स आङ्गिरस, अग्नि) इस अर्द्धर्च की आवृत्ति ऋ० १।९५,९६,९८, १००—१०३, १०५—११५ सूक्तों तथा ऋ० ९।९७।५८ में हुई है । सर्वत्र सूक्त के अन्त में है और ऋषि-देवता समान (अन्तिम की देवता पवमान सोम) हैं । 'प्रातर्मक्षू'(नोधा गौतम, अग्नि-इन्द्र-मरुत्) इस पाद की आवृत्ति ऋ० १।६०-६४ सूक्तों; ८।८०।१० तथा ९।९३।५ के अन्त में हुई है । ऋषि समान है ॥४॥

अन्य देव की स्तुति करके पुनः अन्य देवों से ऋषि उस-उस वस्तु की आकाङ्क्षा करते हैं । ऋषि जिस-जिस वस्तु की कामना करते हैं, उसके लिए ऋक्, अर्द्धर्च तथा पाद की आवृत्ति की जाती है । अतः वे ऋक्, अर्द्धर्च एवं पाद पूरण नहीं होते ॥५॥

आवर्तयन्ति सूक्तीश्च यथा, [था'अ]र्चन्ननु स्वराज्यम्' ।
आवर्तन्ते विधेयाश्च, 'मरुद्भिरग्न आ गहि' ॥६॥
सकृत्प्रदर्शितपदान् मन्त्रान्नाधीयते पुनः ।
अधीयते पुनः कांश्चित् किं नु स्यात् तत्र कारणम् ॥७॥
'नू मे ब्रह्माण्यग्ने' इति, पुनश्चाधीयते पदम् ।
'यज्ञेन यज्ञम्' इति च, दशमे मण्डले पुनः ॥८॥
अत्राहुः कारणं वृद्धा तस्मिन्नेव पुनः श्रुता ।
'नू मे' इत्यृगियं सूक्ते नैवमन्यत्र दृश्यते ॥९॥
एवंविधाया आवृत्तेरन्वेष्टव्यं प्रयोजनम् ।
इति वक्तुं पदावृत्तिः काकुर्ह्यावृत्तितो भवेत् ॥१०॥

ऋषि सूक्तियों की भी आवृत्ति करते हैं, जैसे—अर्च॒न्ननु॒ स्व॒राज्य॑म्(ऋ० १।८०।१-१६)। विधेय वाक्यार्थों की भी आवृत्ति होती है जैसे—म॒रुद्भि॑रग्न॒ आ ग॑हि (ऋ० १।१९।१-९) ।

सूक्ति तथा विधेयरूप से उदाहृत चरण उन सूक्तों की प्रत्येक ऋक् के अन्त में 'टेक' के रूप में दोहराये गये हैं ।।६।।

प्रश्न यह है—जिन मन्त्रों के पदों को एक बार प्रदर्शित कर दिया गया, उन को ऋषि पुनः नहीं पढ़ते । किन्हीं मन्त्रों को पुन: पढ़ते हैं । इसका कारण क्या है ? जैसे—नू मे॒ ब्रह्मा॑ण्यग्ने (ऋ० ७।१।२०)यह ऋक् पुन: (ऋ० ७।१।२५) प्रतिपद पढ़ी गई है और—य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम्॑(ऋ० १।१६४।५०) यह ऋक् पुनः दशवें मण्डल (ऋ० १०।९०।१६) में पठित है ।

'नू मे॒ ब्रह्मा॑ण्यग्ने' इस ऋक् का द्रष्टा वसिष्ठ मैत्रावरुणि और देवता अग्नि है । केवल चार ऋचाओं के पश्चात् उसी सूक्त के अन्त में इसका पुनः पाठ है । 'य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम्' इस ऋक् के ऋषि देवता प्रथम मण्डल में हैं—दीर्घतमा औचथ्य, साध्याः—और दशम मण्डल में हैं—नारायण, पुरुष । यह प्रसिद्ध पुरुष सूक्त की अन्तिम ऋक् है ।।७-८।।

वृद्ध विद्वान् इसका कारण यह बताते हैं कि उसी सूक्त में पुनः श्रुत यह 'नू मे' ऋक् एक ही है, ऐसा अन्यत्र नहीं देखा जाता । इस प्रकार की आवृत्ति के प्रयोजन को खोजना चाहिए कि अमुक भाव को प्रकट करने के लिए पदों की आवृत्ति की गई है, क्योंकि आवृत्ति से काकु (विशेष अभिप्राय)की प्रतीति होती है ।

माधव ने आवृत्ति से ध्वनित होनेवाले काकु को स्वीकार करके भी, यहां उसे प्रकट नहीं किया । इस ऋक् (ऋ० ७।१।२५) के भाष्य में माधव का लेख है—'सेयमेकस्मिन्नपि सूक्ते द्विः

'यज्ञेन यज्ञम्' इत्यस्याः, पुत्रमेव च तादृशम् ।
तादृशं पुरुषं प्राह भेदोऽयं ज्ञाप्यते पदात् ॥११॥
तिलमात्रे भिद्यमाने पुनश्चाधीयते पदम् ।
स सूक्ष्मः शक्यते ज्ञातुं नाप्रज्ञैरिति निर्णयः ॥१२॥
'पुनान इन्दवा भर सोम द्विबर्हसं रयिम्' ।
पुनरागतमर्धर्चं पुनश्चाधीयते पदम् ॥१३॥
आवेष्टय योजना कार्या, 'त्वं वसूनि पुष्यसि' ।
द्विबर्हसं रयिं तस्मात् पुनानोऽस्मभ्यमाभर ॥१४॥

पठिता विराट् । द्विः अग्निं स्तुत्वा सकृदुपसंहृत्य पुनरप्यन्यैश्च नौति स्तुत्वोपसंहार इति ।' इसका आशय यह प्रतीत होता है—'अग्नि की स्तुति 'नू मे' (ऋ० ७।१।२०) पर समाप्त हो रही थी, पुनः चार ऋचाओं से स्तुति करके, इसी ऋक् (ऋ० ७।१।२५) से उपसंहार किया गया । मो० ब्लूमफील्ड ने भी यही निष्कर्ष निकाला है (ऋग्वेद-रेपिटीशन्स, द्वितीय खण्ड, पृ० ४६४) । सायण ने पुनःश्रुत ऋचाओं की व्याख्या नहीं की, न ही पुनः श्रुति के कारण का उल्लेख किया । दयानन्द ने प्रस्तुत ऋक् की व्याख्या दोनों स्थलों पर की है ॥९-१०॥

यज्ञेन यज्ञम् (ऋ० १०।९०।१६) इस ऋक् के पदों की पुनरुक्ति से यह भेद (प्राकरणिक भाव) द्योतित होता है—इस (=पृथिवी) के पुत्र (=यज्ञ) को वैसा-वैसा पुरुष कहा गया है ।

माधव ने प्रथम मण्डलस्थ प्रकृत ऋक् की व्याख्या—'अग्निः पशुरासीत् । तमालभन्त । तेनायजन्त ।' इस ब्राह्मण (तै० ५।७।२६।१) के आधार पर की है और दशम मण्डलस्थ इस ऋक् की व्याख्या माध्यन्दिन शतपथ (१०।२।२।२) के आधार पर की है । दोनों में सूक्ष्म अन्तर है । सम्भवतः इस कारिका में माध्यन्दिन शतपथ के इस वचन की ओर सङ्केत है—'एषा वै सा विराडेतस्या एवैतद्विराजो यज्ञं पुरुषं जनयति'। सायण ने भी सूक्ष्मभेद मानते हुए इस ऋक् की पुनः प्राकरणिक व्याख्या की है ॥११॥

तिलमात्र का भेद होने पर मन्त्रस्थ पदों को पुनः पढ़ दिया जाता है । यह निश्चय है कि वह सूक्ष्म भेद साधारण ज्ञानवाले व्यक्ति के द्वारा नहीं जाना जा सकता ॥१२॥

पुनान इन्दवा भर सोम द्विबर्हसं रयिम् (ऋ० ९।४०।६) यह अर्द्धर्च पुनः (ऋ० ९।१००।२) आया है और 'पुनान इन्दवा भर' यह पाद पुनः(ऋ०९।५७।४; ९।६४।२६) पठित है एवं 'सोम द्विबर्हसं रयिम्' यह पाद पुनः (ऋ० ९।४।७) पठित है ॥१३॥

उदाहृत आवृत्तियुक्त ऋक्(ऋ० ९।१००।२) में क्रम को उलट कर पदों का अन्वय करना

जिघृक्षितो यथाऽन्तः स्याद् बको विक्षिप्तमानसः ।
सन्दिग्धे च यथा काकः शाकल्योऽवहितस्तथा ॥१५॥
पूरणेष्विति वक्तव्यम् अध्यायादिषु दर्शितम् ।
व्युत्पत्त्यर्थं बह्वृचानां चतुर्थेऽस्माभिरष्टके ॥१६॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इति चतुर्थोऽष्टकः ॥४॥

चाहिए। तब अर्थ होगा—'तू ऐश्वर्यों को बढ़ाता है, धन को दुगुना करता है, अतः पवित्र होता हुआ हमारे लिये ला'।

माधव ने सूक्ष्म भेद को दर्शाने के लिये यह उदाहरण उपस्थित किया है। प्रथम बार प्रयुक्त उदाहृत अर्द्धर्च पुनानः (ऋ० ९।४०।६) के साथ हेतु का प्रयोग नहीं है। परन्तु दूसरी बार आवृत्त (ऋ० ९।१००।२) अर्द्धर्च के साथ इस का हेतु विद्यमान है, जिस को पदों के क्रम-परिवर्त्तन से प्रकट किया गया है ॥१४॥

जिस प्रकार मत्स्य आदि भक्ष्य पदार्थ को पकड़कर जल से बाहर निकालने का इच्छुक, चञ्चल चित्तवाला बगुला अन्दर ही रह जाता है और जिस प्रकार सन्देह होने पर कौआ भ्रम में पड़ जाता है, उसी प्रकार शाकल्य भी भ्रम-गर्त्त में गिर गया है।

प्रस्तुत कारिका में माधव ने शाकल्य के पुनान इन्दवा (ऋ० ९।१००।२) ऋक् के पद-पाठ सम्बन्धी संशय की ओर संकेत किया है। शाकल्य ने पदपाठ-ग्रन्थ में पुनरुक्त पदों, पादों अर्द्धर्चों तथा ऋचाओं (गलित) का पुनः पाठ नहीं किया है। परन्तु प्रस्तुत ऋक् के पादों एवं अर्द्धर्चों की आवृत्ति होने पर भी उन का पुनः पाठ किया है। इसी प्रकार यास्क ने भी शाकल्य के एक स्खलन का निर्देश करते हुए कहा है—'वेति च य इति च चकार शाकल्यः। उदात्तं त्वेवम् आख्यातम् अभविष्यद् असुसमाप्तश्चार्थः'। (निरु० ६।२८) ॥१५॥

ऋग्वेद के अध्येताओं के विशेष ज्ञान के लिये हम ने चतुर्थ अष्टक के अध्यायों के आदि में 'पूरणों' के विषय में उल्लेखनीय तथ्यों को प्रदर्शित किया है।

पाद, अर्द्धर्च एवं पूर्ण ऋक् की पुनरुक्ति के सम्बन्ध में माधव ने दिङ्निर्देशमात्र किया है। माधव ऋचाओं को ऋषियों की रचना मानता है। फिर भी उसने यह शङ्का नहीं उठाई कि कोई ऋषि अन्य ऋषि की रचना को पुनः अन्य देवता के विषय में अपनी रचना के रूप में क्यों प्रस्तुत करता है? विश्वामित्र तथा वसिष्ठकुलों का पारस्परिक द्वेष प्रसिद्ध है, यहां तक कि तृतीय

मण्डल (विश्वामित्र कुल) की कुछ ऋचाएं 'वसिष्ठद्वेषिण्यः' (बृहद्देवता ४।११७) कही जाती हैं। फिर भी दोनों के आप्रीसूक्त (ऋ० ३।४।८—११=ऋ० ७।२।८—११) समान क्यों है? माधव ने सिद्धान्त के रूप में यह स्वीकार किया है कि आवृत्ति का कारण काकु है, जिस का अन्वेषण व्याख्याकार को करना चाहिए। आवृत्ति के विषयों की ओर भी माधव ने संकेत किया है। वे विषय हैं—स्तुति के अनन्तर पूर्वयाचित वस्तु की पुनः कामना (कारिका सं० ५), सूक्तियां (कारिका सं० ६), विधेय पदार्थ (कारिका सं० ६) और सूक्ष्म भेद (हेतुनिर्देश आदि)।

इस विषय का विशद विवेचन मोरिस ब्लूमफील्ड ने अपने 'ऋग्वेद-रेपिटीशन्स' नामक ग्रन्थ में किया है। इस ग्रन्थ के दो खण्ड हैं। पहले खण्ड में भूमिका तथा ऋग्वेद के क्रम से सम्पूर्ण पुनरुक्तियां टिप्पणियों सहित प्रस्तुत की गई हैं। दूसरे खण्ड में वर्गीकरण, विवेचन एवं सूचियां समाविष्ट की गई हैं। उक्त ग्रन्थ का सारांश यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

वेदों में, विशेषतः ऋग्वेद में, दो या अधिक शब्दों की आवृत्ति प्रायः दृष्टिगोचर होती है। ऋग्वेद के लगभग ४०१०० पादों में से लगभग ८००० पाद अर्थात् लगभग १/५ भाग पुनरुक्त है। पुनरुक्ति का आधार शब्दसादृश्यमात्र न मानकर अन्तःसाक्ष्य को स्वीकार किया गया है। भावों का साम्य होने पर भी जहां शाब्दिक भेद है, वहां पुनरुक्ति नहीं मानी गई। मुख्यतः पाद, अर्द्धर्च तथा ऋचाओं की पूर्ण पुनरुक्तियां संगृहीत की गई हैं, आंशिक पुनरुक्तियों को भी [ ] कोष्ठकों में दिखाया गया है। कुछ पुनरुक्तियां तो आकस्मिक हैं, क्यों कि विषयवस्तु समान हैं। परन्तु अधिकांश पुनरुक्तियां ज्ञातपूर्वक हुई हैं। भरत में 'वाङ्मय' सम्पदा सब की सामूहिक सम्पदा मानी जाती रही है। अतः प्राचीन रचना में परिवर्त्तन, परिवर्धन, संशोधन अथवा आंशिक ग्रहण में कोई दोष नहीं माना जाता। परवर्त्ती जन पूर्ववर्त्ती जनों की रचनाओं से अंश ग्रहण करके अपनी रचनाओं को समृद्ध करते रहे हैं।

पुनरुक्ति के दस विभाग हैं—(१) ऋक् समूह (३.४.८-११=७.२.८-११), (२) सूक्त की अन्तिम ऋक् (४.१३.५=४.१४५.), (३) सूक्तमध्य ऋक् (१.१३.९=५.५.८), (४) स्वलप परिवर्तन सहित ऋक् (१.२३.२०=१०.९.६), (५) समान ऋक् (१.३.१०=६.६१.४), (६) अपरिवर्त्तित अर्द्धर्च (१.१३.६=१.१४२.६), (७) परिवर्त्तित अर्द्धर्च (१.१२.१=१.३६.३), (८) परिवर्धित पाद (१.५.५=८.९३.२२), (९) असम्बद्ध पाद (१.१२.४=८.४४.१४), (१०) दो-तीन-चार पाद (१.४.१०=८.३२.१३; १.४.१०=१.५.४)। पुनरुक्ति से छन्दःपरिवर्त्तन, पुनरुक्त पादों के शाब्दिक परिवर्त्तन (शब्दभेद, रूपभेद), पुनरुक्ति के विषय और मण्डलों का सापेक्ष कालक्रम—इन विषयों का सोदाहरण विवेचन किया गया है। पुनरुक्ति के विषय हैं—सूत्रात्मक वाक्य (शुचिः पावको अदभुतः। १.१४२.३; शुचिः पावक उच्यते ।९.२४.६), अलङ्कार (अरितेव नावम् २.४२.१=९.९५.२), सृष्टि (जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।८.३६.४=९.९८.४), कर्मकाण्ड (आप्री), प्रश्नोत्तर (१०.१०८.१.२), अश्वि आदि देवों के कार्य, देवों से पशु, धन प्रजा, आयु की याचना इत्यादि।

पुनरुक्तियों के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द के दो मत प्रतीत होते हैं। उन का प्रधान मत है— पुनरुक्त ऋक् अथवा ऋगंश के अर्थों में प्रकरणानुसार भेद होता है। अनेक पुनरुक्त स्थलों में उन्होंने भिन्न अर्थ दर्शाये हैं। परन्तु माध्यन्दिन संहिता के भाष्य में उन्होंने दूसरा मत प्रकट किया है – कर्मकाण्ड में प्रयोग के लिये मन्त्र या मन्त्रों का पुनः पाठ होता है, उन के अर्थों में कोई अन्तर नहीं होता। न तस्य प्रतिमा (मा० सं० ३२।३) मन्त्र के भाष्य में स्वामी जी ने 'हिरण्यगर्भ इत्येष' इत्यादि अंश की व्याख्या प्रकरणानुसार करके 'यद्वा पक्षान्तरम्…'इत्यादि लिखकर इन को मन्त्रप्रतीक मान लिया है। तं प्रत्नथाऽयं वेनः (मा० सं० ३३।२१) इस संदर्भ पर स्वामी जी ने भाष्य में टिप्पणी दी है—'(तं प्रत्नथा। अयं वेनः।) ये दो प्रतीकें पूर्व कहे अ० ७ मं० १२, १६ की यहां किसी कर्मकाण्ड विशेष में बोलने के अर्थ रखी हैं, इसी लिये अर्थ नहीं किया, वही पूर्वोक्त अर्थ जानना चाहिये।' इसी प्रकार अन्य स्थलों (मा० सं० ३३।२७,३३, ४७, ५८, ७३, ९७, ३४।५८) में भी टिप्पणियां दी गई हैं। सश्चसीदस्व (मा० सं ३८।१७) अंश पर टिप्पणी न देकर प्राकरणिक अर्थ ही दर्शाया गया है ॥१६॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इति चतुर्थोऽष्टकः ॥४॥

—:०:—

पञ्चमोऽष्टकः

५. आर्षानुक्रमणी

प्रथमोऽध्यायः

पञ्चमोऽथाष्टकस्तस्मिन्नध्यायादिषु वक्ष्यते ।
ऋषिनामार्षगोत्रेषु विज्ञेयमिह वैदिकैः ॥१॥

ऋषिनामार्षगोत्राणां ज्ञानमायुष्यमुच्यते ।
पुत्र्यं पुण्यं यशस्यं च स्वर्ग्यं धन्यममित्रहम् ॥२॥

ऋषिनामार्षगोत्रज्ञा एकैकस्य भवत्यृषेः ।
शरत्सहस्रमतिथिर्दिव्यमर्चितपूजितः ॥३॥

पञ्चमोऽष्टकः

५. आर्षानुक्रमणी

प्रथमोऽध्यायः

अब पञ्चम अष्टक आरम्भ होता है । उसमें अध्यायों के आदि में ऋषियों के नामों और गोत्रों के विषय में वैदिकों के जानने योग्य बातों को बताया जायेगा ॥१॥

ऋषि-नामों तथा आर्ष (ऋषियों के) गोत्रों का ज्ञान दीर्घ आयु को देनेवाला, पुत्र-पुण्य-यश-स्वर्ग-धन को देनेवाला और शत्रुओं को नष्ट करनेवाला कहा जाता है ।

आर्षेय ब्राह्मण (१।१) का तृतीय सूत्र है—'स्वर्ग्यं यशस्यं धन्यं पुण्यं पुत्र्यं पशव्यं ब्रह्मवर्चस्यं स्मार्त्तमायुष्यम् ॥२॥

ऋषि-नामों और आर्ष-गोत्रों का ज्ञाता दिव्य सहस्र वर्ष तक एक-एक ऋषि का सम्मानित

ततः परं सुविपुलं स्वाध्यायफलमश्नुते ।
भवति ब्राह्मणं चापि ज्ञानस्यैतत्प्रयोजनम् ॥४॥
मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दोदैवतविद् न यः ।
याजनाध्यापनादेति छन्दसां यातयामताम् ॥५॥
स्थाणुं वार्च्छति गर्तं वा पद्यते वा प्रमीयते ।
पापीयान्भवतीत्यर्थः एवं ब्राह्मणमाह तम् ॥६॥
मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दोदैवतवित् तु यः ।
याजनाध्यापनाभ्यां स श्रेय एवाधिगच्छति ॥७॥

एवं पूजित अतिथि होता है । उस के पश्चात् स्वाध्याय के बहुत-बड़े फल को प्राप्त करता है । ब्राह्मण (ग्रन्थ) भी ज्ञान के इस फल का वर्णन करता है ।

आर्षेय ब्राह्मण(१।१) में सूत्र है—तदप्येवमाहुर्य इदमुपधारयत एकैकस्य ऋषेर्दिव्यं वर्ष-सहस्रमतिथिर्भवति । अभिनन्दितः प्रतिनन्दितो मानितः पूजितस्ततः स्वाध्यायफलमुपजीवतीति ॥५॥ अर्थात् ऐसा कहते हैं कि जो इस को धारण करता है, वह सहस्र दिव्य वर्ष तक एक-एक ऋषि का अतिथि होता है । अभिनन्दन तथा सम्मान पाता हुआ स्वाध्याय के फल का उपभोग करता है । ॥३-४॥

जो व्यक्ति मन्त्रों के ब्राह्मण, आर्षेय (ऋषिनाम-ऋषिगोत्र), छन्द और देवता का ज्ञाता नहीं होता, यज्ञ तथा अध्यापन से उस के छन्द (मन्त्र) निष्फल हो जाते हैं । वह स्थाणु हो जाता है, या गड्ढे में गिर जाता है, या मर जाता है,वह पापी हो जाता है । उस के लिये ब्राह्मण (ग्रन्थ) ने ऐसा भाव व्यक्त किया है । परन्तु जो व्यक्ति मन्त्रों के ब्राह्मण, आर्षेय, छन्द एवं देवता का ज्ञाता होता है, यज्ञ तथा अध्यापन से वह कल्याण को ही प्राप्त करता है ।

आर्षेय ब्राह्मण (१।१) में किसी प्राचीन ब्राह्मण का वचन उद्धृत किया गया है—अथापि ब्राह्मणं भवति—'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति । यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति । अथ यो मन्त्रे-मन्त्रे वेद सर्वमायुरेति श्रेयान् भवति । अयातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति । तस्मा-देतानि मन्त्रे-मन्त्रे विद्याद्' इति ॥६॥ अर्थात्—ब्राह्मणवचन है—आर्षेय, छन्द, देवता, ब्राह्मण को जाने बिना जो मनुष्य मन्त्र से यज्ञ कराता है या पढ़ाता है,वह ठूंठ हो जाता है,गड्ढे में गिरता है, मर जाता है, पापी हो जाता है । उस के छन्द निस्तेज हो जाते हैं । जो प्रत्येक मन्त्र के ऋषि आदि को जानता है,वह आयु भर कल्याण से युक्त रहता है,उस के छन्द तेजस्वी होते हैं। इससे इन (ऋषि आदि) को प्रत्येक मन्त्र में जाने ॥५-७॥

एतैः प्रयोजनैः सर्वैः शौनकेन प्रदर्शितैः ।
ऋषयो नामगोत्राभ्याम् अस्माभिः सम्प्रदर्शिताः ॥८॥
यदुच्यते पदज्ञानम् ऋषिज्ञानम् ऋतेऽपि नः ।
भवत्येवेह मन्त्रेषु किमृषौ ज्ञानमुच्यते ॥९॥
ऋषिनामार्षगोत्रेति यदेतच्छौनकोऽब्रवीत् ।
तददृष्टाय कथितं न चादृष्टपरा वयम् ॥१०॥
तदुच्यते स्वसूक्तानाम् आदावन्तेऽथ वा पुनः ।
ऋषयो नामगोत्राणि स्थापयन्तीह केषुचित् ॥११॥

शौनक के द्वारा प्रदर्शित इन सब प्रयोजनों के करण हम ने नाम तथा गोत्र से ऋषियों को प्रदर्शित किया है ।

कुञ्जनराज का अनुमान है कि विगत छह कारिकाएं (सं० २-७) शौनककृत 'आर्षानुक्रमणी' में हैं । यह ग्रन्थ बिबिलोथिका इण्डिका सीरीज (कलकत्ता) में प्रकाशित 'आर्षानुक्रमणी' से भिन्न है (ऋग्वेदानुक्रमणी परिशिष्ट सं० २, पृ० ४५) । अगली कारिका सं० १० के प्रथम पाद से भी यही ध्वनित होता है ।

बृहद्देवता में कहा गया है—

नियमोऽयं जपे होमे ऋषिश्छन्दोऽथ दैवतम् । अन्यथा चेत् प्रयुञ्जानस्तत्फलाच्चात्र हीयते ॥
ऋषिच्छन्दोदैवताविज्ञानं यज्ञादिषु श्रुतम् । तदाश्रित्य प्राणदृष्टिर्विहितात्रति गम्यताम् ॥
अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च । योऽध्यापयेज्जपेद् वापि पापीयाञ्जायते तु सः ॥
(बृ० ८।१३४-१३६)

इसी प्रकार कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी के आरम्भ में कहा गया है—मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दोदैवतविद् याजनाध्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छतीति । एताभ्यामेवानेवंविदो यातयामानि च्छन्दांसि भवन्ति । स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पात्यते प्रमीयते वा पापीयान् भवतीति विज्ञायते ॥८॥

यह जो शङ्का की जाती है कि ऋषिज्ञान के विना भी ऋग्वेद के मन्त्रों में पदों (तथा पदार्थ) का ज्ञान हो ही जाता है, तब ऋषिसम्बन्धी ज्ञान का प्रवचन किस लिए किया जा रहा है ? शौनक ने जो 'ऋषिनामार्षगोत्र' (कारिका सं० २-७) इत्यादि कहा है, उस का प्रयोजन अदृष्ट (जन्मान्तर में फल देनेवाला धर्म) है और हम अदृष्ट को स्वीकार नहीं करते ॥९-१०॥

शङ्का के समाधान के रूप में कहा जाता है कि अपने सूक्तों के आदि अथवा अन्त में ऋषियों ने अपने नाम एवं गोत्र किन्हीं सूक्तों में बताये हैं । जैसे— ॥११॥

'वृष्णे शर्धाय' सूक्तादौ, नोधसो नाम दृश्यते ।
अर्चनानाश्च सूक्तान्ते, 'विभ्रतावर्चनानसम्' ॥१२॥
'कण्वं दद प्रचेतसः', 'दिवोदासेभिरिन्द्र' च ।
'उतासि मैत्रावरुणः', इति गोत्रनिदर्शनम् ॥१३॥
ऋषीणां नामगोत्राणि दृष्ट्वा भ्राम्यन्ति लौकिकाः ।
जिज्ञासमाना मन्त्रार्थम्, अतस्तेषां निदर्शनम् ॥१४॥
नामगोत्राणि मन्त्रेषु न निविष्टानि येषु तु ।
तेषु प्रदर्शनं तेषां विस्पष्टप्रतिपत्तये ॥१५॥
पदं ह्यज्ञायमानार्थं दृष्ट्वा भ्राम्यन्त्यपि क्वचित् ।
स्यादृषेः किमिदं नाम गोत्रं वाऽहो भवेदिति ॥१६॥
नन्वेवं विनियोगश्च दर्शनीयस्त्वयाधुना ।
वक्तव्यो वा विशेषोऽत्र विशेषस्तत्र वक्ष्यते ॥१७॥

वृष्णे शर्धाय (ऋ० १।६४।१) इस सूक्त के आदि में 'नोधस्' ऋषि का नाम दिखाई देता है और विभ्रतावर्चनानसम् (ऋ० ५।६४।७) इस सूक्त के अन्त में 'अर्चनानस्' ऋषि का नाम दिखाई देता है ।

उदाहृत ऋचाएं क्रमशः 'नोधा' तथा 'अर्चनाना' दृष्ट सूक्तों की प्रथम एवं अन्तिम ऋचाएं हैं, जिनमें ऋषियों के नाम प्रयुक्त हुए हैं ॥१२॥

कण्वं दद प्रचेतसः (ऋ० १।३९।९); दिवोदासेभिरिन्द्र (ऋ० १।१३०।१०); उतासि मैत्रावरुणः (ऋ० ७।३३।११) ये ऋचाएं गोत्र के उदाहरण हैं ।

इन ऋचाओं में प्रयुक्त 'प्रचेतस्' 'दिवोदास' तथा 'मैत्रावरुण' पद गोत्र-नाम हैं ॥१३॥

मन्त्रों के अर्थ को जानने के इच्छुक साधारण जन मन्त्रों में ऋषियों के नामों एवं गोत्रों को देखकर भ्रम में पड़ जाते हैं । अतः उन (ऋषिनाम-गोत्र) का निर्देश करना आवश्यक है ॥१४॥

जिन मन्त्रों में ऋषियों के नाम तथा गोत्र प्रयुक्त नहीं हुए हैं, उनमें ऋषियों के नाम एवं गोत्र उनके स्पष्ट ज्ञान के लिये प्रदर्शित किये गये हैं ॥१५॥

जिस पद के अर्थ का ज्ञान नहीं हो रहा है, उस को देखकर भी कहीं-कहीं लोग भ्रम में पड़ जाते हैं—क्या यह ऋषि का नाम है या गोत्र हो सकता है ? ॥१६॥

यदि ऐसा है, तो अब आप को विनियोग भी दिखाना होगा ? अथवा वह विशेष तथ्य

यज्ञं विगाह्य तत्रत्यानर्थान् अभिदधत्यतः।
यजुषामर्थविज्ञानं नाऽकर्मज्ञस्य सिध्यति ॥१८॥

आह शाखाम् 'इषे त्वे [त्वा'इ]ति, न शाखा यजुषि श्रुता।
न च क्रियापदं दृष्टम्, अपेक्षा जायते ततः ॥१९॥

'इषे त्वेत्याच्छिनत्ती [ति'इ]ति, ब्राह्मणं दृश्यते यदा।
यजुषोऽर्थं तदा स्पष्टं अवगच्छन्ति लौकिकाः ॥२०॥

ऋचस्तु परिपूर्णार्था नापच्चन्ते बहिः स्थितम्।
विनियोगस्ततस्तासाम्, अस्माभिर्न प्रदर्श्यते ॥२१॥

किञ्चर्चो विनियुज्यन्ते न वाक्यार्थानुरूपतः।
देवताश्रुतिसामान्यं विन्यासः प्रत्ययस्तथा ॥२२॥

बनाना होगा, जिस के कारण यहां विनियोग दिखाने की आवश्यकता नहीं ? इस सम्बन्ध में विशेष तथ्य ही बताया जायेगा ॥१७॥

यजुर्मन्त्र यज्ञ में प्रवेश करके यज्ञस्थ पदार्थों का बोध कराते हैं। अतः यजुर्मन्त्रों के अर्थ का विशेष ज्ञान कर्मकाण्ड से अनभिज्ञ व्यक्ति को सिद्ध नहीं होता ॥१८॥

शाखा को लक्ष्य करके कहता है—'इषे त्वा' (तै० सं० १।१।१।१)। यजुर्मन्त्र में न तो 'शाखा' पद प्रयुक्त हुआ है और न कोई क्रियापद दिखाई देता है। अतः इन दोनों की अपेक्षा होती है ।१९॥

जब 'इषे त्वेत्याच्छिनत्ति' (तै० ब्रा० ३।२।१।३) यह ब्राह्मणवचन दिखाई देता है, तब लौकिक जन यजुर्मन्त्र के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझ जाते हैं।

दर्शपूर्णमास इष्टियों में हवि तैयार करने के लिये गोदोहन किया जाता है। गोदोहन के समय बच्छड़े को गौ से अलग करने के लिए पलाश की शाखा की आवश्यकता होती है। उस शाखा को वृक्ष से काटते समय 'इषे त्वा' मन्त्र प्रयुक्त होता है। ब्राह्मणग्रन्थ-पठित वाक्य के बिना मन्त्रस्थ पदों से कोई अर्थ ज्ञात नहीं होता, अतः यजुर्मन्त्र के अर्थज्ञान के लिए ब्राह्मणपठित विनियोग की आवश्यकता होती है ॥२०॥

परन्तु ऋचाएं अपने में पूर्ण अर्थ से युक्त होती हैं, वे किसी बाह्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखतीं। इस लिए हम ने उन का विनियोग नहीं दिखाया है ॥२१॥

दूसरी बात यह है कि ऋचाओं का विनियोग वाक्यार्थ के अनुसार नहीं होता। देवता,

छन्दांसि सूक्तसङ्ख्या च शब्दावृत्तिऋर्षिस्तथा ।
प्रयोजयन्त्यृचस्ते च न वाक्यार्थस्य भेदकाः ॥२३॥
ननु च ब्राह्मणे साम्नाम्, ऋषयश्चापि दर्शिताः ।
अर्थवादे च सर्वेषां यच्छाट्यायनकं विदुः ॥२४॥
ऋचां नैवंविधं दृष्टम् ऋषीन् केनाऽह शौनकः ।
ब्राह्मणादाकृतेरुक्तेः तथा वृद्धोपदेशतः ॥२५॥
ताण्डके शाट्यायनके तथा चैवैतरेयके ।
अस्माभिरभिदृश्यन्ते ऋचामपि महर्षयः ॥२६॥
माधुच्छन्दसमित्याह, 'वायवा याहि दर्शत' ।
आकृत्या दश सूक्तानि तदार्षाण्याह शौनकः ॥२७॥
उक्तिश्च दृष्टा सूक्तेषु, 'प्र वब्रेर्वव्रिश्चिकेत' ।
'तमु त्वा गोतमो गिरा', 'जेतारमपराजितम्' ॥२८॥

श्रुतिसामान्य, पदों का विशेष क्रम, अर्थ, छन्द सूक्तसंख्या, शब्दों की आवृत्ति तथा ऋषि—ये तत्त्व ऋचाओं के विनियोग के प्रयोजक हैं और ये तत्त्व वाक्यार्थ के भेदक नहीं हैं ॥२२-२३॥

शङ्का यह है कि सामों के ब्राह्मण में, जिस को 'शाट्यायन' नाम से जानते हैं, सब सामों के अर्थवाद में ऋषि भी दर्शाये गये हैं। परन्तु ऋचाओं का इस प्रकार का ब्राह्मण नहीं दिखाई देता। तब शौनक ने ऋषियों का कैसे बताया? शङ्का का यह समाधान है—ब्राह्मण से, आकृति से, उक्ति से तथा वृद्धोपदेश से ग्रहण करके शौनक ने ऋषियों को उपदेश किया।

शाट्यायन ब्राह्मण उपलब्ध नहीं है। पच्चीसवीं कारिका में शौनक की 'आर्षानुक्रमणी' की ओर सङ्केत किया गया है, जिस में सम्भवतः उपर्युक्त चारों साधन निर्दिष्ट किये गये होंगे ॥२४-२५॥

ताण्डय ब्राह्मण, शाट्यायन ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण में हम ने भी ऋचाओं के महर्षि देखे हैं ॥२६॥

वायवा याहि दर्शत (ऋ० १।२।१) इत्यादि सूक्त को ब्राह्मण में 'माधुच्छन्दस' कहा है। शौनक ने आकृति के अनुसार दस सूक्तों को मधुच्छन्दा ऋषि के द्वारा दृष्ट कहा है।

ऐतरेयारण्यक (१।१।३) में मधुच्छन्दा के द्वारा दृष्ट गायत्र प्रउग का कथन है। ताण्डय-ब्राह्मण (६।२।१७; ११।६।६; २१।६।१५) में भी 'माधुच्छन्दसम्' प्रयोग हुआ है। शौनक ने 'आर्षानुक्रमणी' में मधुच्छन्दा-दृष्ट सूक्तों का निर्देश आकृति के अनुसार किया होगा ॥२७॥

सूक्तों में उक्ति भी देखी जाती है। जैसे—प्र वव्रेर्वव्रिश्चिकेत (ऋ० ५।१६।१); तम्

'त्यान्नु क्षत्रियाँ अवः'; इति सूक्तं वृद्धोपदेशतः ।
मत्स्यानां जालबद्धानाम्, आर्षं यास्कोऽब्रवीदिति ॥२९॥
प्रमाणेष्वपि सन्देहाद् विकल्पोक्तिरपि क्वचित् ।
'चन्द्रमा अप्स्व१ न्तः' इति, सूक्ते कुत्सोऽथवा त्रितः ॥३०॥

इति प्रथमोऽध्यायः॥१॥

—:०.—

त्वा गोतमो गिरा (ऋ० १।७८।२); जेतारमपराजितम् (ऋ० १।११।२) ।

उदाहृत ऋचाओं में क्रमशः 'वम्रि,' 'गोतम' तथा 'जेता' ऋषिवाची शब्दों की उक्ति विद्यमान है ॥२८॥

त्यान्नु क्षत्रियाँ अवः (ऋ० ८।६७।१) इस सूक्त के ऋषि का ज्ञान वृद्धोपदेश से होता है। यास्क ने इस सूक्त को जालबद्ध मत्स्यों के द्वारा दृष्ट बताया है ।

निरुक्त (६।२७) में यास्क का कथन है—मत्स्यानां जालमापन्नानाम् एतदार्षं वेदयन्ते (जाल में पड़े मत्स्यों ने इस सूक्त का दर्शन किया, ऐसा मानते हैं) । इस प्रकार वृद्ध-परम्परा से यह ऋषिज्ञान प्राप्त हुआ है ॥२९॥

प्रमाणों में सन्देह हो जाने के कारण कहीं-कहीं ऋषि-विकल्प का कथन भी मिलता है। जैसे—चन्द्रमा अप्स्व१ न्तः (ऋ० १।१०५।१) इस सूक्त का ऋषि 'कुत्स' अथवा 'त्रित' माना जाता है ।

सर्वानुक्रमणी में भी—चन्द्रमा एकोनाप्त्यस्त्रितो वा—वचन द्वारा उदाहृत सूक्त का ऋषि विकल्प से 'आप्त्य त्रित' कहा गया है। विगत सूक्तों (ऋ० १।९४-१०४) का ऋषि 'कुत्स आङ्गिरस' है, अतः पक्ष में उसी को माना गया है। माधव ने प्रकृत ऋक् के भाष्य में भी ऐसा ही निर्देश किया है और शाट्यायन ब्राह्मण में पठित इतिहास का उल्लेख किया है। स्कन्द एवं सायण का भी यही मत है ॥३०॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

—:०:—

द्वितीयोऽध्यायः

अथाध्यायं 'जुषस्व नः', व्याचिख्यासति माधवः ।
गोत्रेष्वृषीणां वक्तव्यं आदावेव प्रदर्शयन् ॥१॥

पित्रादिषु प्रसिद्धेन येन नाम विशेष्यते ।
वेदेष्वृषीणां तद्गोत्रं ज्ञातव्यं तत्र वैदिकैः ॥२॥

जेतुः पिता मधुच्छन्दाः श्यावाश्वस्य पितामहः ।
पितामहो गौरिवीतेः गोत्रत्वेन प्रदर्शितः ॥३॥

अपालाऽत्रिकुले जाता विश्ववारा च तादृशी ।
दूरस्थोऽत्रिस्तयोर्गोत्रं बहवः सन्ति तादृशाः ॥४॥

द्वितीयोऽध्यायः

ऋषियों के गोत्रों के विषय में वक्तव्य को आदि में प्रदर्शित करता हुआ माधव 'जुषस्व नः' (ऋ० ७।२।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

वेदों में ऋषियों के नाम के विशेषणरूप में जिस पिता आदि के नाम का प्रयोग होता है, वैदिक विद्वानों को वहां वही गोत्र समझना चाहिये ॥२॥

'जेता' के पिता 'मधुच्छन्दस्' को, 'श्यावाश्व' के पितामह को और 'गौरिवीति' के पितामह को गोत्र के रूप में दिखाया गया है

ऋ० १।११ सूक्त का ऋषि 'जेता माधुच्छन्दस' है, मधुछन्दा जेता का पिता है । ऋ० ५।५२-६१ सूक्तों का ऋषि 'श्यावाश्व आत्रेय' है, अत्रि श्यावाश्व का पितामह है । ऋ० ५।२९ सूक्त का ऋषि 'गौरिवीति शाक्त्य' है, शक्ति गौरिवीति का पितामह है ॥३॥

'अपाला' अत्रि के कुल में उत्पन्न हुई थी और 'विश्ववारा' भी वैसी (अत्रिकुलोत्पन्न) थी । दूरस्थ पूर्वज अत्रि उन दोनों का गोत्र है । ऐसे गोत्र बहुत हैं ।

ऋ० ८।९१ सूक्त क ऋषिका 'अपाला आत्रेयी' हैं और ऋ० ५।२८ सूक्त की ऋषिका 'विश्ववारा आत्रेयी' है । माधवने अत्रि को इन दोनों का दूर का पूर्वज माना है, परन्तु बृहद्देवता (६।९९)में कहा गया है—अपालात्रिसुता त्वासीत(अपाला अत्रि की पुत्री थी)। माधव ने विश्ववारादृष्ट सूक्त(ऋ० ५।२८।१) के आदिमें लिखा है—सूर्ये तिरोहिते अत्रिः उषसम् अजनयत्, तत

पितरौ मित्रावरुणौ वसिष्ठस्येत्यपि श्रुतम् ।
'उतासि मैत्रावरुणः', प्रवरेषु पुनस्तयोः ॥५॥

पुत्रस्थाने समावेशाद् वसिष्ठो मैत्रावरुणिः ।
तत्राहुः कारणं प्राज्ञा विदेहो हि शशाप तम् ॥६॥

ऋषे ! भव विदेहस्त्वम्, ऋषिः शप्तः समाविशत् ।
अहोरात्रे योगबलात् तौ मित्रावरुणौ स्मृतौ ॥७॥

ददर्श मन्त्राँश्च तदा पुत्रश्चाभूत् पुनस्तयोः ।
क्रमेणार्षेयवरणम् उपपन्नं तयोरिति ॥८॥

विश्वामित्रजमदग्नी तथा वसिष्ठ एव च ।
इन्द्रो अगस्त्यो मरुतो गोत्रम् एषु प्रदृश्यते ॥९॥

आत्रेय्युषा विश्ववारोच्यते (सूर्य के छिप जाने पर अत्रि ने उषा को उत्पन्न किया, इस लिए आत्रेयी उषा विश्ववारा कही जाती है) ॥४॥

मित्र और अरुण दोनों वसिष्ठ के पिता हैं, ऐसा—उतासि मैत्रावरुणो० (ऋ० ७।३३।११) ऋक् में श्रुत है । उन दोनों के प्रवरों में पुत्रस्थान में वसिष्ठ का समावेश होने के कारण वसिष्ठ मैत्रावरुणि है । इस का कारण विद्वान् लोग बताते हैं कि विदेह ने उन को शाप दिया—हे ऋषि ! तू विदेह (देहरहित) हो जा । शाप-प्राप्त ऋषि (वसिष्ठ) योगबल से दिन-रात में प्रविष्ट हो गया । उन दोनों (दिन-रात) को मित्र-वरुण कहा जाता है । तब उस (वसिष्ठ) ने मन्त्रों का दर्शन किया और पुनः उन का पुत्र हुआ । इस प्रकार क्रम से उन दोनों का आर्षेय वरण उपपन्न हो जाता है ।

सम्पूर्ण सप्तम मण्डल (१०४ सूक्त) मैत्रावरुणि वसिष्ठ दृष्ट है । —उतासि० (ऋ० ७। ३३।११) के भाष्य में माधव ने वसिष्ठ के जन्म का वर्णन बृहद्देवता (५।१४३-१५९; तु०—निरु० ५।१३; सर्वानुक्रमणी १।१६६) आदि के समान ही किया है । बृहद्देवता में वर्णित कथा का सार है—'प्रजापति का पुत्र मरीचि, मरीचि का पुत्र कश्यप था । कश्यप की तेरह दाक्षायणी पत्नियों में से अदिति के बारह पुत्र हुए, उनमें मित्र-वरुण एक युगल था । उर्वशी के दर्शन से मित्र-वरुण के स्खलित वीर्य से वसिष्ठ, अगस्त्य एवं मत्स्य ऋषि उत्पन्न हुए । स्पष्टतः यहाँ पौराणिक तत्त्व के कारण ऐतिहासिक तत्त्व, यदि कोई है, धूमिल हो गया है ॥५-८॥

विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, इन्द्र, अगस्त्य और मरुत् इन में गोत्र दिखाई देता है ।

इसी अष्टक के सप्तम अध्याय की छठी कारिका भी देखें ॥९॥

यद्यप्यृषीणां सप्तानां ब्राह्मणेषु न दृश्यते ।
गोत्रं तथापि विज्ञेयं ऋत्सु गोत्रनिदर्शनात् ॥१०॥
असगोत्रो भवेच्छ्राद्धे सगोत्रात् तन्तुमाहरेत् ।
न प्रयच्छेद् दुहितरं सगोत्रायेति च स्मृतिः ॥११॥
किमेतेषु मनुष्याणां गोत्रमित्यभिधीयते ।
वक्तव्यं छान्दसैर्नैतद् धर्मशास्त्रपरैरिव ॥१२॥
कौतूहलनिवृत्त्यर्थम् अथ चास्माभिरुच्यते ।
गोत्राणां तु सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ॥१३॥
कुलाख्यानि हि तानीह तानि गोत्राणि सन्तु नः ।
ननु स्मरन्ति नैतानि सम्प्रति ब्राह्मणा इमे ॥१४॥

यद्यपि सातों ऋषियों का गोत्र ब्राह्मणग्रन्थों में नहीं दिखाई देता, तो भी ऋचाओं में गोत्र के दिखाई देने के कारण इनका गोत्र जानना चाहिये।

बोधायन श्रौतसूत्र के अन्त में सप्त ऋषि बताये गये हैं —
विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः । अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते सप्त ऋषयः ॥१०॥

श्राद्ध में भिन्न गोत्रवाले व्यक्ति को आमन्त्रित करे। पुत्र का ग्रहण समान गोत्र से करे। समान गोत्रवाले व्यक्ति को पुत्री न दे। यह स्मृति का कथन है।

स्मृतियों में सगोत्रों के कर्मों में अनेक विधि-निषेध उपलब्ध होते हैं। मनुस्मृति (९।१९०) में पुत्रग्रहण के विषय में विधान है—

संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात् पुत्रमाहरेत् ।
इसी प्रकार विवाह के सम्बन्ध में मनुस्मृति (३।५) का कथन है—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥११॥

क्या इन कर्मों में मनुष्यों के लौकिक गोत्र को कहा जाता है? धर्मशास्त्रकारों के समान श्रौतशास्त्रकारों को भी इस प्रश्न का उत्तर देना चाहिये कि इन कर्मों में लौकिक गोत्र नहीं कहा जाता ॥१२॥

उत्कण्ठा की निवृत्ति के लिए हम बताते हैं। गोत्र तो हजारों, लाखों, अरबों हैं। वे कुलों के नाम ही हैं। हमारे मत से यहां वे कुलनाम ही गोत्र हो सकते हैं। प्रश्न हो सकता है—आज-

तर्हि गोत्रसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
षट्छतैः सङ्गृहीतानि कतबोधायनादिभिः ॥१५॥

कल ये ब्राह्मण (वैदिक विद्वान्) उन गोत्रों (कुलनामों) का स्मरण नहीं करते ? (अर्थात् क्या किसी ग्रन्थ में गोत्रों का संग्रह किया गया है ?)

गोत्र शब्द के पर्याय के रूप में कुल, वंश, वर्ग, पक्ष तथा गण शब्दों का प्रयोग भी उन की न्यून-अधिक व्यापकता के अनुसार होता है। पाणिनि ने अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् (अ० ४।१।१६२) से जो 'गोत्र'संज्ञा का विधान किया है, वह शास्त्रीय कार्यों के लिए है। पाणिनि ने अन्यत्र लौकिक गोत्र (कुल) ही स्वीकार किया है। (महा० २।४।६२) ॥१३-१४॥

इस प्रश्न का उत्तर यह है— कत बोधायन आदि आचार्यों ने उन हजारों, लाखों, अरबों गोत्रों को छहसौ समूहों में संगहीत कर दिया है।

बोधायन श्रौतसूत्र के अन्त में 'प्रवर-प्रकरण दिया गया है। इस प्रकरण के अन्त में कहा गया है—

विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः ।
अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते सप्त ऋषयः ॥
सप्तानामृषीणामगस्त्याष्टमानां यदपत्यं तद् गोत्रमित्याचक्षते ।

अर्थात् विश्वामित्र आदि आठ ऋषियों की सन्तानों की 'गोत्र' संज्ञा है। परन्तु इस संज्ञा के स्वीकार करने से विश्वामित्र आदि आठों में अव्याप्ति और सभी मनुष्यों में अतिव्याप्ति दोष आता है, अतः आचार्यों ने कुलाख्याओं को 'गोत्र' संज्ञा दे दी है। ऐसे गोत्रों की संख्या बहुत अधिक है। मनुष्यों का देवों के साथ सम्बन्ध मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के माध्यम से ही हो सकता है, अतः यज्ञादि कर्म में देवों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए किसी प्रवर (आर्ष गोत्र) का उच्चारण करना पड़ता है। (आर्षेयमन्वाचष्ट ऋषिणा हि देवाः पुरुषमनुबध्यन्त इति विज्ञायते—आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र २४।५।४)। किस गोत्र (कुलाख्या) का व्यक्ति किस एक या अनेक प्रवर (आर्ष गोत्र) का उच्चारण करे—इसकी व्यवस्था के लिए बोधायन श्रौतसूत्र आदि ग्रन्थों में 'प्रवर-प्रकरण' दिया गया है। बोधायन ने आठ प्रवर काण्डों के ४९ गणों में लगभग आठ सौ (माधव की गणना के अनुसार ६००) गोत्रों का संग्रह किया है और अन्त में कहा है—

गोत्राणां तु सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
ऊनपञ्चाशदेवैषां प्रवरा ऋषिदर्शनात् ॥

आठ प्रवरगण हैं—भृगु, गौतम, भरद्वाज, अत्रि, विश्वामित्र, कश्यप, वसिष्ठ, अगस्त्य। इन गणों को देखने से पता चलता है कि गोत्रभेद होने पर भी प्रवर समान हैं और प्रवर भेद होने पर भी गोत्र समान हैं ॥१५॥

स्मरन्ति तानि चित्तेषु सम्प्रतित्वेन मानवाः ।
मार्कण्डेयोऽस्मि माण्डूकस्तथा माण्डव्य इत्यपि ॥१६॥
प्रदर्शयन् बहून् पक्षान् न कथञ्चिदपीच्छति ।
इतरेतरसम्बन्धं तदध्यायमिति ब्रुवन् ॥१७॥
यदि ह्येतानि गोत्राणि मार्कण्डेयः समुद्वहेत् ।
माण्डूकस्य दुहितरम् असगोत्राऽस्य सा यतः ॥१८॥

लौकिक जन उन्हीं गोत्रों को अपने चित्त में स्मरण रखते हैं—मैं मार्कण्डेय हूं, माण्डक हूं तथा माण्डव्य हूं इत्यादि ।

भृगुप्रवरगण के आदि में 'मार्कण्डेया: माण्डूका माण्डव्या:' पठित हैं । ये 'वत्स' हैं और इनका 'पञ्चार्षेय प्रवर' है (अर्थात् पांच प्रवर ऋषि हैं) ॥१६॥

बहुत पक्षों (गोत्रों) को प्रदर्शित करता हुआ तथा 'तदध्यायम्' इत्यादि को कहता हुआ बोधायन इन के पारस्परिक सम्बन्ध (विवाह आदि) को किसी प्रकार भी पसन्द नही करता ।

प्रवर-प्रकरण में बोधायन ने कहा है—'सप्तानामृषीणाम् अगस्त्याष्टमानां पक्षा भवन्ति । अयः पक्षा भृगूणां पञ्चार्षेया वत्सा···एतेषु भृग्वङ्गिरसो भिन्नविवाहं कुर्वते न चेत् समानार्षेया बहवः स्युरिति मतं बोधायनस्येति ।

पञ्चानां त्रिषु सामान्यादविवाहस्त्रिषु द्वयोः ।
भृग्वङ्गिरोगणेष्वेव शेषेष्वेकोऽपि वारयेत् ॥

अन्त में कहा गया है—'अथ संनिपाते विवाहस्तदध्यायं वर्जयेत्' । इन वचनों का सारांश है—प्रवरगणों में पञ्चार्षेय, त्र्यार्षेय आदि स्मृत हैं । उनमें उत्सर्गविधि यह है कि एकार्षेय का भेद होने पर भी विवाह नहीं होगा,परन्तु भृगुओं तथा आङ्गिराओं में पञ्चार्षेय में तीन एवं त्र्यार्षेय में दो के समान होने पर विवाह नहीं होगा । अन्तिम वचन का अभिप्राय यह प्रतीत होता है—सगोत्र संनिपात (अवैध सम्बन्ध) होने पर उस 'आर्षेय' को छोड़ दे ॥१७॥

यदि इन को गोत्र स्वीकार किया जाता है, तो मार्कण्डेय माण्डूक की पुत्री से विवाह कर सकता है, क्योंकि वह कन्या उस मार्कण्डेय की असगोत्र है ।

माधव का यह आक्षेप युक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि मार्कण्डेय तथा माण्डूक गोत्र भले ही भिन्न हों, दोनों ही 'वत्स' गण में पठित 'पञ्चार्षेय प्रवर' हैं । इस विषय में 'प्रवर-मञ्जरी' द्रष्टव्य है, जिसमें पुरुषोत्तम ने विभिन्न कल्पसूत्रों, उनके भाष्यों, स्मृतियों, महाभारत एवं पुराणों के आधार पर गोत्र-प्रवरों का विशद विवेचन किया है ॥१८॥

तस्माद्वत्सादिकं गोत्रम् इति माधवदर्शनम् ।
आपस्तम्बश्च तानेव वेदद्दष्टानदर्शयत् ॥१९॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

—:०:—

तृतीयोऽध्यायः

'उग्रो जज्ञे वीर्याये [य' इ]ति, व्याचिख्यासति माधवः ।
अमितेषु मितर्षीणाम्, आगमे कारणं वदन् ॥१॥

इसलिए माधव का मत है कि 'वत्स आदि ही गोत्र हैं और आपस्तम्ब ने वेद में देखे जाने-वाले उन्हीं गोत्रों का प्रदर्शन किया है ।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (२४।५–१०) में संक्षिप्त प्रवरकाण्ड दिये गये हैं । वहां भी आठ प्रवरकाण्डों में तेंतालीस गोत्र दिये गये हैं, जिनको माधव ने सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है । आश्वलायन श्रौतसूत्र (१२।१०–१५) में बोधायन के समान ४९ गोत्र संगृहीत हैं ।।१९।।

इति द्वितीयोऽध्यायः ।।२।।

—:०:—

तृतीयोऽध्यायः

अमितों में मित ऋषियों के आगमन के करण को बताता हुआ माधव 'उग्रो जज्ञे वीर्याय' (ऋ० ७।२०।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ।

'मितर्षि' तथा 'अमितर्षि' शब्द सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता आदि ग्रन्थों में प्रयुक्त नहीं हुए हैं । डा० कुञ्जन् राज का अनुमान है—शौनककृत आर्षानुक्रमणी में ये शब्द प्रयुक्त हुए होंगे, क्यों कि वेङ्कट माधव ने शौनक का ही अनुसरण किया है । स्कन्दस्वामी ने ऋग्वेदभाष्य (ऋ० १।१०।११) में कहा है—'अतः परममितर्षेः कुत्सस्यैवार्षम्' । इसी प्रकार उसने अन्यत्र भी अपने ऋग्भाष्य (ऋ० ६।५३।१) में 'अमित ऋषि' शब्द का प्रयोग किया है—'अत ऊर्ध्वम् अमितऋषे-र्भरद्वाजस्यैवार्षम्' । अधिक सूक्तों के द्रष्टा को अमित ऋषि एवं न्यून सूक्तों के द्रष्टा को मित ऋषि कहा गया प्रतीत होता है । कुलों के मण्डलों में प्रधान ऋषि को अमित ऋषि माना जाता

'जातवेदसे' इत्येतत्, प्रसङ्गात् सूक्तमागतम् ।
कुत्समध्ये कश्यपार्षं कुत्सेन बहवः स्तुताः ॥२॥
औषसो द्रविणोदाश्च शुचिर्वैश्वानरस्तथा ।
जातवेदसमप्यग्निम्, अथ तुष्टाव कश्यपः ॥३।
स्तुतो मरुत्वान् कुत्सेन, तत इन्द्रः 'प्र मन्दिने'।
वार्षागिरैस्तत्प्रसङ्गात्, 'स यो वृषे [षा' इ]ति स्तुतः॥४॥
कुत्सस्त्रितश्च पतितौ कूपे तुष्टुवतुश्च तौ ।
तेन त्रितस्यागमनं, 'चन्द्रमा अप्स्वन्तरि[न्तः'इ]ति ॥५॥

है और अप्रधान को मित ऋषि । जैसे द्वितीय मण्डल में गृत्समद अमित ऋषि है और सोमाहुति आदि मित ऋषि हैं ॥१॥

कुत्स-दृष्ट सूक्तों के मध्य में कश्यप-दृष्ट—जातवेदसे० (ऋ० १।९९) यह सूक्त प्रसङ्ग से आ गया है । कुत्स ने अनेक अग्नि देवों की स्तुति की, वे अग्नि क्रमश: हैं—औषस, द्रविणोदा, शुचि तथा वैश्वानर । उस के पश्चात् जातवेदस् अग्नि की भी कश्यप ने स्तुति कर दी ।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के ९४ से ११२ तक सूक्तों में से तीन (९९,१००,१०५) को छोड़कर सब सूक्त कुत्स-दृष्ट हैं । मध्य में आये हुए तीन सूक्तों में से सूक्त सं० ९९ कश्यप-दृष्ट है, सूक्त सं० १०० वृषागी: के पांच पुत्रों और सूक्त सं० १०५ विकल्प से त्रित के द्वारा दृष्ट है । विभिन्न अग्नियों (सूक्त सं० ९५—९८ की देवता औषस अग्नि, द्रविणोदा अग्नि, शुचि अग्नि तथा वैश्वानर अग्नि हैं)के प्रसङ्ग में जातवेदस् अग्नि देवतावाले कश्यप-दृष्ट सूक्त को भी समाविष्ट कर दिया गया है । कहा जाता है कि कश्यप-दृष्ट एक हजार एक सूक्तों का यह एकर्च सूक्त आद्य सूक्त है (बृह० ३।१३०; सर्वानु० १।९९ षड्गुरुशिष्यकृत वेदार्थदीपिका) ॥२-३॥

उसके पश्चात् कुत्स ने प्र मन्दिने० (ऋ० १।१०१) सूक्त में मरुत्वान् इन्द्र की स्तुति की है । उसी प्रसङ्ग से 'वृषागी:' के पुत्रों ने—स यो वृषा (ऋ० १।१००) सूक्त में मरुत्वान् इन्द्र की स्तुति की है ।

स यो वृषा (ऋ० १।१००) सूक्त का देवता मरुत्वान् 'इन्द्र' है और द्रष्टा ऋषि हैं—ऋज्राश्व, अम्बरीष, सहदेव, भयमान तथा सुराधस् । ये वृषागी: के पुत्र हैं एवं इसी सूक्त की १७वीं ऋक् में उल्लिखित हैं ॥४॥

कुत्स तथा त्रित दोनों कुएं में गिर गये थे, दोनों ने ही स्तुति की थी । इसलिये त्रित-दृष्ट चन्द्रमा अप्स्वन्तः (ऋ० १।१०५) सूक्त कुत्स-दृष्ट सूक्तों के मध्य में आ गया है ।

मध्ये गृत्समदस्यागाद् ऋषिः सोमाहुतिस्तथा ।
तत्रेदं कारणं प्राहुरग्निः सूक्तैस्त्रिभिः स्तुतः ॥६॥
जागताभ्यां त्रैष्टुभेन, 'त्वमग्ने द्युभिस्त्वम्' इति ।
'वाजयन्निव नू रथान्', गायत्रं सूक्तमन्ततः ॥७॥
गायत्रात्प्राक्सोमाहुतिः, 'हुवे वः' इति दृष्टवान् ।
क्रमेण त्रीणि छन्दांसि त्रिष्टुबादीनि भार्गवः ॥८॥
अन्यस्मिन् पुनरध्याये छन्दसोऽन्यस्य दर्शनम् ।
'नि होता होतृषदने', इति गृत्समदोऽकरोत् ॥९॥

सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता आदि में प्रस्तुत सूक्त कुत्स एवं त्रित द्वारा (विकल्प से) दृष्ट बताया गया है। त्रितः कूपेऽवहितः (ऋ० १।१०५।१७) और इन्द्रं कुत्सो वृत्रहणं शचीपतिं काटे निबाळ्ह ऋषिरह्वदूतये (ऋ०१।१०६।६) इन ऋचाओं में दोनों का कूपपात वर्णित है। बृहद्देवता (३।१३२-१३७) में त्रित की कथा दी गई है। निरुक्त (४।६) में भी कहा गया है— 'त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ' (कुएं में पड़े त्रित को यह सूक्त भासित हुआ) ॥५॥

गृत्समद-दृष्ट सूक्तों के बीच में सोमाहुति-दृष्ट सूक्त आगये हैं। उस का कारण यह बताते हैं— त्वमग्ने द्युभिस्त्वम् (ऋ० २।१।१) इत्यादि दो जगती छन्दवाले और एक त्रिष्टुप् छन्दवाले, इन तीन सूक्तों से गृत्समद ने अग्नि की स्तुति की और (पञ्चम अध्याय के) अन्त में वाजयन्निव नू रथान् (ऋ० २।८।१) इस गायत्री छन्दवाले सूक्त से अग्नि की स्तुति की। इस गायत्री छन्दवाले सूक्त से पहले सोमाहुति भार्गव ने हुवे वः (ऋ० २।४।१) इत्यादि क्रमशः त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् एवं गायत्री छन्दों का दर्शन किया।

ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के सं० १—३, ८—२६, ३०—४३ सूक्त आमिन ऋषि गृत्समद दृष्ट हैं। बीच में सं० ४—७ सूक्त सोमाहुति-भार्गवदृष्ट और सं० २७—२९ कूर्मदृष्ट हैं। सोमाहुति-दृष्ट सूक्त छन्दों के क्रम के कारण बीच में लाये गये हैं। इस प्रकार छन्दःक्रम हुआ—

सूक्त १ जगती	गृत्समद	सूक्त ४ त्रिष्टुप्	सोमाहुति	सूक्त ७ गायत्री	सोमाहुति
„ २ „	„	„ ५ अनुष्टुप्	„	„ ८ „	गृत्समद
„ ३ त्रिष्टुप्	„	„ ६ गायत्री	„		

(पञ्चम अध्याय आठवें सूक्त पर समाप्त होता है) ॥६-८॥

अन्य अध्याय में गृत्समद ने पुनः नि होता होतृषदने (ऋ० २।९।१) इत्यादि अन्य छन्द का दर्शन किया।

पुनर्गृत्समदस्यैव मध्ये कूर्मोऽभ्यगादृषिः ।
'इमा गिर आदित्येभ्यः', त्रीणि सूक्तानि दृष्टवान् ।।१०।।
बहुदैवतसामान्यात् सूक्तं हि बहुदैवतम् ।
'ऋतं देवाय कृण्वते', तद्बद्त्यमित ऋषिः ।।११।।
विश्वामित्रो द्वादशभिः स्तुतवानग्निमादितः ।
सूक्तैस्तैरनुवाकं च समाप्तं शौनकोऽब्रवीत् ।।१२।।
अग्निमेव पुनश्चास्तौत्, 'अग्ने सहस्व पृतनाः' ।
मध्ये विरामो विस्पष्टस्तत्रान्येषां समागमः ।।१३।।
मण्डलादौ 'सोमस्ये [स्य' इ]ति, सूक्तेऽग्निः प्रथमं स्तुतः ।
वैश्वानरीयसूक्तेन ततो वैश्वानरः स्तुतः ।।१४।।

गृत्समद-दृष्ट गायत्री छन्द द्वितीय अष्टक के पांचवें अध्याय पर समाप्त हुआ । पुनः छठे अध्याय (सूक्त सं० ९) का आरम्भ उस ने नये छन्द त्रिष्टुप् से किया ।।९।।

पुनः गृत्समद-दृष्ट सूक्तों के मध्य में ही कूर्म ऋषि द्वारा दृष्ट इमा गिर आदित्येभ्यः (ऋ० २।२७।१) इत्यादि तीन सूक्त आ गये हैं । अनेक देवताओं के सादृश्य के कारण ये तीनों सूक्त बीच में आ गये, क्योंकि आगे अमित ऋषि गृत्समद ने ऋतं देवाय कृण्वते (ऋ०२।३०।१) इत्यादि सूक्त अनेक देवताओंवाला कहा है ।

कूर्म-दृष्ट सूक्तों (ऋ० २।२७,२८,२९) के देवता क्रमशः 'आदित्याः' 'वरुणः' तथा 'विश्वे देवाः' हैं और गृत्समद-दृष्ट सूक्त (ऋ० २।३०) के देवता हैं—इन्द्रः, इन्द्रासोमौ, सरस्वती, बृहस्पतिः, मरुतः ।।१०-११।।

विश्वामित्र ने आदि में बारह सूक्तों से अग्नि की स्तुति की और बारहवें सूक्त पर अनुवाक समाप्त हो गया, ऐसा शौनक ने कहा है ।

ऋग्वेद के तृतीय मण्डल का अमित ऋषि विश्वामित्र है । तृतीय मण्डल के आदि में बारह सूक्तों (सूक्त १-१२) का द्रष्टा विश्वामित्र तथा देवता अग्नि है । शौनक ने आर्षानुक्रमणी (२२) में बारहवें सूक्त पर प्रथम अनुवाक की समाप्ति कही है ।।१२।।

विश्वामित्र ने अग्ने सहस्व पृतनाः (ऋ० ३।२४।१) इत्यादि सूक्तों से पुनः अग्नि की स्तुति की है । मध्य में विराम स्पष्ट है, वहां अन्य ऋषियों के सूक्त आ गये हैं ।

ऋ० ३।१३ से ऋ० ३।२३ तक अन्य ऋषियों के सूक्त हैं ।।१३।।

मण्डल के आदि में सोमस्य० (ऋ० ३।१।१) इत्यादि प्रथम सूक्त में पहले अग्नि का स्तवन

उपक्रम्य पुनश्चापि तावेव क्रमशः स्तुतौ ।
ऋषीणामृषभादीनाम्, अतो मध्ये समागमः ॥१५॥
आग्नेयत्वाच्च सूक्तानाम्, आग्नेयेषु समागमः ।
ऐन्द्रात् प्राक्स्तूयते ह्यग्निः, 'सोमस्ये [स्य' इ]ति प्रधानतः ॥१६॥
'इच्छन्ति' त्वे [त्वा' इ]ति द्व्यधिकं, सूक्तमैन्द्रं तथोत्तरम् ।
छन्दोदैवतसङ्ख्यानां समत्वात्कुशिकागतिः ॥१७॥
'इन्द्रापर्वता बृहता', विश्वामित्रार्षमुच्यते ।
अनुवाकः समाप्तश्च, तत आगात्प्रजापतिः ॥१८॥

किया गया और उसके पश्चात् वैश्वानरीय सूक्त (ऋ० ३।२) से वैश्वानर की स्तुति की गई। पुनः आरम्भ करके क्रमशः उन्हीं दोनों (अग्नि-वैश्वानर) की स्तुति की गई। अतः मध्य में ऋषभ आदि के सूक्त आ गये। इन सूक्तों के अग्नि देवतावाले होने के कारण इनको अग्नि देवतावाले सूक्तों में रखा गया, क्योंकि इन्द्र देवतावाले सूक्तों से पूर्व सोमस्य० (ऋ० ३।१) इत्यादि सूक्तों में प्रधान रूप से अग्नि की स्तुति की गई है।

विश्वामित्र ने आरम्भ में क्रमशः अग्नि (ऋ० ३।१) तथा वैश्वानर (ऋ० ३।२) की स्तुति करके पुनः इसी क्रम से अग्नि (ऋ० ३।२४) तथा वैश्वानर (ऋ० ३।२६) की स्तुति की है। इससे ज्ञापित होता है कि मध्य में विराम है, जिस को शौनक ने अनुवाक की समाप्ति द्वारा स्पष्ट कर दिया है। यतः अग्नि देवता का प्रकरण है, अतः ऋषभ आदि के अग्नि दैवता सम्बन्धी सूक्तों को ही मध्य में रखा गया है। मध्यस्थ ऋषि तथा उनके सूक्त हैं—ऋषभ वैश्वामित्र (ऋ० ३।१३,१४); उत्कील कात्य (ऋ० ३।१५,१६) ; कत वैश्वामित्र (ऋ० ३।१७, १८); गाथी कौशिक (ऋ० ३।१९-२२); देवश्रवा भारत, देववात भारत (ऋ० ३।२३) ॥१४-१६॥

इच्छन्ति त्वा (ऋ० ३।३०।१) यह बाईस ऋचाओंवाला इन्द्र देवता का सूक्त है तथा इस से उत्तर भी इन्द्र देवता का सूक्त है। छन्द, देवता एवं संख्या की समानता के कारण बीच में कुशिक-दृष्ट सूक्त आ गया है।

ऋ० ३।३०,३२ सूक्त विश्वामित्रदृष्ट हैं और ऋ० ३।३१ सूक्त कुशिक ऐषीरथिदृष्ट है। विश्वामित्रदृष्ट सूक्त (सं० ३०) और कुशिक दृष्ट सूक्त (सं०३१) दोनों का छन्द त्रिष्टुप्, देवता इन्द्र तथा ऋक्संख्या बाईस है, अगले सूक्त(सं०३२)की ऋक्संख्या सत्रह है। अतः कुशिक-दृष्ट सूक्त (सं० ३१) मध्य में रखा गया है ॥१७॥

इन्द्रापर्वता बृहता (ऋ० ३।५३।१) यह सूक्त विश्वामित्रदृष्ट कहा जाता है और यहीं

'इमं महे विदथ्याय', त्रीण्यपश्यत्प्रजापतिः ।
वैश्वदेवानि सूक्तानि वैश्वदेवमथामितः ॥१६॥
'इन्द्रा को वां वरुणे[णा]' इ]ति, सूक्तमाहुर्द्विदैवतम् ।
'एष स्य भानुः' इति च, वामदेवस्तयोर्ऋषिः ॥२०॥
त्रसदस्युस्तयोर्मध्ये सौहोत्रावपि चागतौ ।
द्विदैवत्यत्वात् सामान्याद् आवापस्तत्र युज्यते ॥२१॥
तत्राजगाम प्रथमं, त्रसदस्युः 'मम द्विता' ।
'इन्द्रा को वाम्' इतीन्द्रस्य, प्रसङ्गादिति निश्चयः ॥२२॥

अनुवाक समाप्त होता है । उसके पश्चात् प्रजापति आ जाता है । इमं महे विदथ्याय (ऋ० ३।५४।१) इत्यादि तीन 'विश्वे देवाः' देवतावाले सूक्त का द्रष्टा प्रजापति है । उसके अनन्तर अमित ऋषि विश्वामित्रदृष्ट 'विश्वे देवाः' देवतावाला सूक्त आता है ।

विश्वामित्र दृष्ट सूक्त सं० ५३ इन्द्र आदि देवतावाला है, इस सूक्त की समाप्ति पर चतुर्थ अनुवाक भी समाप्त होता है । आगे विश्वामित्रदृष्ट सूक्त सं०५७ 'विश्वे देवाः' देवतावाला है । अतः देवता-साम्य के कारण प्रजापतिदृष्ट तीन सूक्तों (सं० ५४-५६) का समावेश मध्य में किया गया है ॥१८-१६॥

इन्द्रा को वां वरुणा०(ऋ० ४।४१।१) इस सूक्त को दो देवताओं (इन्द्र वरुण)वाला कहते हैं और एष स्य भानुः०(ऋ० ४।४५।१) यह सूक्त भी दो देवताओं (अश्विद्वय)वाला है । इन दोनों सूक्तों का दृष्टा वामदेव है । इन दोनों के मध्य में त्रसदस्यु तथा सुहोत्र के पुत्र आ गये हैं । दो देवताओं की समानता के कारण उनका बीच में आना युक्त है । उनमें इन्द्रा को वाम० (ऋ० ४।४१) सूक्त में इन्द्र के प्रसङ्ग से पहले त्रसदस्युदृष्ट मम द्विता० (ऋ० ४।४२।१) सूक्त आया है ।

वामदेवदृष्ट ऋ० ४।४१ सूक्त के देवता इन्द्र-वरुण हैं और ऋ० ४।४५ सूक्त के देवता दो अश्वी हैं । द्विदेवता-साम्य के कारण द्विदेवतावाले तीन सूक्तों का समावेश बीच में किया गया है । इन में भी पहले त्रसदस्युदृष्ट सूक्त सं० ४२ को रखा गया है, क्यों कि उस में भी सूक्त सं० ४१ के समान इन्द्र-वरुण विद्यमान हैं । पुरुमीढ सौहोत्र, अजमीढ सौहोत्रदृष्ट सूक्त सं० ४३, ४४ अश्वि देवतावाले हैं, अतः उनको आगे आनेवाले वामदेवदृष्ट अश्विदेवता के सूक्त सं० ४५ से पूर्व रखा गया है ॥२०-२२॥

ऋषिर्नास्त्यमितोऽत्रीणां, किन्त्वत्रिः पुनरागतः ।
ददर्शा[र्श 'अ]बोध्यग्निः' इति, सूक्तं च तत उत्तरम् ॥२३॥
द्विदैवत्येषु सूक्तेषु यान्यासन्नाश्विनानि च ।
छन्दश्चानुगुणं तत्र तस्मात्स पुनरागतः ॥२४॥
अमितर्षौ भरद्वाजे वीतहव्योऽभ्यगादृषिः ।
आद्यानुवाकसंस्थाने, 'इममू षु वो अतिथिम्' ॥२५॥
'अभूरेको रयिपते', सुहोत्रः सूक्तयोर्ऋषिः ।
तद्भ्रातरौ ददृशतुश्चत्वारि क्रमशस्ततः ॥२६॥
शुनहोत्रो नरश्चेति, भरद्वाजस्ततोऽमितः ।
सर्वाणि त्रैष्टुभान्येव सूक्तानीन्द्रश्च देवता ॥२७॥

अत्रिकुल में कोई अमित ऋषि नहीं है, किन्तु अत्रि पुनः आया है। अत्रि ने आ भात्यग्निः० (ऋ० ५।७६।१) इस सूक्त तथा इससे अगले सूक्त (ऋ० ५।७७) का दर्शन किया। दो देवताओंवाले सूक्तों में जो अश्विसम्बन्धी सूक्त थे, वहां छन्द अनुरूप था। अतः अत्रिदृष्ट सूक्त पुनः आ गये।

तेईसवीं कारिका के तीसरे चरण के पाठ 'ददर्शाबोध्यग्निरिति' के स्थान में 'ददर्शाभात्यग्निरिति' पाठ डा० कुन्जनराज के संङ्केतानुसार है। अबोध्यग्निः (ऋ० १।१५७।१) का ऋषि अत्रि नहीं है। अत्रि भौमदृष्ट सूक्त हैं—ऋ० ५।३७–४३,७६,७७,८३–८६। इससे स्पष्ट है कि अत्रि अमित ऋषि नहीं है। ऋ० ५।७३–७८ सूक्तों के देवता अश्विद्वय हैं, अतः देवता प्रसङ्ग से पुनः अत्रि-सूक्तों का समावेश हुआ है। विभिन्न देवताओं के कारण अत्रिदृष्ट सं० ८३–८६ सूक्तों को अन्त में रखा गया है। माधव ने इसका निर्देश नहीं किया ? ॥२३-२४॥

अमित ऋषि भरद्वाजदृष्ट सूक्तों के बीच में ऋषि वीतहव्यदृष्ट इमम् षु वो अतिथिम् (ऋ० ६।१५।१) इत्यादि सूक्त आया है। वह प्रथम अनुवाक की समाप्ति पर है।

ऋग्वेद के छठे मण्डल के अधिकतर सूक्तों का द्रष्टा भरद्वाज बार्हस्पत्य है। ऋ० ६।१५ सूक्त का वैकल्पिक द्रष्टा वीतहव्य आङ्गिरस है। इसके मध्य में आने का कारण अनुवाक की समाप्ति माना गया है ॥२५॥

अभूरेको रयिपते (ऋ०६।३१।१) इत्यादि दो सूक्तों का ऋषि सुहोत्र है। तदनन्तर उस के दो भ्राताओं शुनहोत्र तथा नर द्वारा क्रमशः दृष्ट चार सूक्त हैं। उस के पश्चात् पुनः अमित ऋषि भरद्वाजदृष्ट सूक्त हैं, ये सब सूक्त त्रिष्टुप् छन्दवाले हैं और इनका देवता इन्द्र है। ये सूक्त अनु-

स्थितानि चानुवाकस्य मध्ये नाद्यन्तयोः पुनः ।
'भूय इद् वावृधे' सूक्तं, पञ्चर्चं तत्प्रसङ्गतः ॥२८॥
पञ्चर्चानामावपनं तत्रेति कवयो विदुः ।
बार्हस्पत्यस्य 'यो रयिवः', शंयोरातृणपाणिकात् ॥२६॥
स्वादुष्किले[ल']इ]ति तन्मध्ये, मितो गर्गः समागतः ।
शंयुरस्तौत् त्रिभिः सूक्तैरिन्द्रं गर्गस्तदाऽभ्यगात् ॥३०॥
'यज्ञायज्ञा' वैश्वदेवम्, उत्तराण्यप्यृजिश्वनः ।
सूक्तानि वैश्वदेवानि पायुरन्ते व्यवस्थितः ॥३१॥

वाक के मध्य में स्थित हैं, आदि या अन्त में नहीं । भूय इद् वावृधे (ऋ० ६।३०।१) यह सूक्त पांच ऋचाओंवाला है । उसके प्रसङ्ग से पांच ऋचाओंवाले सूक्तों का समावेश हुआ, ऐसा विद्वान् समझते हैं ।

भरद्वाजदृष्ट, इन्द्र देवता, त्रिष्टुप् छन्द, एवं पांच ऋचाओवाले सूक्तों का आरम्भ ऋ० ६।३० से होता है । इन्हीं समानताओंवाले अन्य दृष्ट छह सूक्तों का समावेश बीच में करके पुनः ऋ० ६।३७ सूक्त से भरद्वाजदृष्ट सूक्त रखे गये हैं । मध्यवर्ती सूक्तों में ऋ० ६।३१,३२ का द्रष्टा सुहोत्र भारद्वाज, ऋ० ६।३३,३४ का दृष्टा शुनहोत्र भारद्वाज और ऋ० ६।३५,३६ का द्रष्टा नर भारद्वाज है । ऋ० ६।२४–४३ सूक्त तृतीय अनुवाक में हैं ।।२६-२८½।।

यो रयिवः (ऋ० ६।४४।१) सूक्त से तृणपाणिक (ऋ० ६।४८) सूक्त तक शंयु बार्हस्पत्य दृष्ट सूक्त हैं । उनके मध्य में स्वादुष्किलायम् (ऋ० ६।४७।१) सूक्त मित ऋषि गर्ग-दृष्ट आ गया है । शंयु ने तीन सूक्तों से इन्द्र की स्तुति की । तब गर्ग दृष्ट सूक्त आया । यज्ञायज्ञा (ऋ० ६।४८।१) सूक्त विश्वेदेवाः देवताओंवाला है । उस से आगे ऋजिश्वा दृष्ट सूक्त भी विश्वेदेवाः देवताओंवाले है । पायुदृष्ट सूक्त को मण्डल के अन्त में रखा गया है ।

शंयुदृष्ट सूक्त ऋ० ६।४४ से ऋ० ६।४८ तक हैं । ४८वें सूक्त को तृणपाणिक कहा जाता है, क्योंकि हाथ में तृण लेकर इसका पाठ किया जाता है(बृह० ५।११३; सर्वानुक्रमणी ६। ४८; षड्गुरुशिष्यकृत वेदार्थदीपिका ५।४६) । शंयुदृष्ट सूक्तों के बीच में गर्गदृष्ट सूक्त (ऋ० ६।४७) के आ जाने का कारण बहुदेवता प्रसङ्ग है । शंयुदृष्ट सूक्त (सं० ४८) बहुत देवतावाला है तथा ऋजिश्वादृष्ट सूक्त (सं० ४९–५२) भी विश्वेदेवाः देवतावाले हैं । अतः सभी बहुदेवतावाले सूक्तों को एक स्थान पर रख दिया गया । परन्तु पायुदृष्ट बहुदेवतावाले सूक्त ऋ० ६।७५) को मण्डल के अन्त में क्यों रखा गया है, इस पर माधव ने प्रकाश नहीं डाला ।।२८½-३१।।

आगच्छन्ति तत्कुलीनास्तस्य मध्ये मितर्षयः ।
छन्दोदैवतसङ्ख्यार्थजन्मक्रमविरामतः ॥३२॥

इमां सूक्ष्मेक्षिकां कुर्वन् न मन्त्रार्थेषु मुह्यति ।
बहुभिर्हेतुभिः कुर्यात् तां सर्वत्रैव पण्डितः ॥३३॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

—:०:—

चतुर्थोऽध्यायः

'प्र ब्रह्मै त्वि[तु]' इ]त्यथाध्यायं, व्याचिख्यासति माधवः ।
अनेकर्षिषु सूक्तेषु वक्तव्यं सम्प्रदर्शयन् ॥१॥

ऋषयः सूक्तमेकं सद् अपश्यन् बहवः कथम् ।
सङ्घीभूय तपस्तप्त्वा सर्वं एव सहाऽपठन् ॥२॥

अमित ऋषि दृष्ट सूक्तों के बीच में उसी कुल के मित ऋषियों के सूक्त छन्द, देवता, ऋक्संख्या, अर्थ, जन्म, क्रम एवं विराम के कारण आ जाते हैं ॥३२॥

इस सूक्ष्म निरीक्षण को करनेवाला व्यक्ति मन्त्र के अर्थों में भ्रम में नहीं पड़ता । विद्वान् जन अनेक हेतुओं से उस सूक्ष्म निरीक्षण को सर्वत्र ही करे ॥३३॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

—:०:—

चतुर्थोऽध्यायः

अनेक ऋषियों के द्वारा दृष्ट सूक्तों के विषय में वक्तव्य को प्रदर्शित करता हुआ माधव, 'प्र ब्रह्मैतु' (ऋ० ७।३६।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

अनेक ऋषियों ने एक सूक्त का दर्शन कैसे किया ? इकट्ठे होकर, तप करके सब ने एक

इति केचन मन्यन्ते माधवस्य न तन्मतम् ।
नाम्नि सूक्ते श्रूयमाणे शक्यमेवं प्रभाषितुम् ॥३॥
'एना वयं पयसे[सा' इ]ति, संवादे यन्नदीवचः ।
तत्रैवं शक्यते वक्तुं नाम ह्यत्र निवेशितम् ॥४॥
'यमग्ने वाजसातम', सूक्ते नाम च कीर्त्यते ।
'प्रयस्वन्तो हवामहे', शक्यं तत्रापि भाषितुम् ।५॥
'एवाँ अग्निं वसूयवः', सूक्ते सामान्यतः कृतः ।
वसूयुनामनिर्देशः सन्त्यन्येऽपि च तादृशाः ॥६॥
'अबोध्यग्निः समिधे[धा' इ]ति, सूक्तं बुधगविष्ठिरौ ।
सहैकं द्वौ ददृशतुरेकः सूक्ते तु कीर्त्यते ॥७।
'गविष्ठिरो नमसे[सा' इ]ति, बुधस्तत्र न कीर्तितः ।
'यदिन्द्राहं यथा त्वम्' च, सूक्तमार्षं द्वयोर्मतम् ॥८॥

साथ ही एक सूक्त को पढ़ दिया, कुछ लोग ऐसा मानत हैं, परन्तु माधव का यह मत नहीं। सूक्त में नाम के श्रूयमाण होने पर ऐसा कहा जा सकता है । जैसे—॥२-३॥

विश्वामित्र-नदी संवाद में एना वयं पयसे (ऋ० ३।३३।४) यह जो नदियों का वचन है, वहां यह कहा जा सकता है । क्योंकि यहां ऋक् में ऋषियों का नाम प्रयुक्त हुआ है ।

ऋ० ३।३४ सूक्त में विश्वामित्र तथा नदियों का संवाद है । इल सूक्त की प्रथम ऋक् में विपाट्-शुतुद्री दो नदियों के नाम आये हैं । 'नद्यः' पद से उनका बहुवत् प्रयोग प्रस्तुत ऋक् में हुआ है (निरु० २।२४) । इस ऋक् की ऋषिका 'नदियां' हैं ॥४॥

यमग्ने वाजसातम०(ऋ० ५।२०।१) इस सूक्त में भी प्रयस्वन्तो हवामहे (ऋ० ५।२०।३) इस ऋक् में नाम का उल्लेख हुआ है । इसलिए यहां भी ऐसा कहा जा सकता है ।

ऋ० ५।२० सूक्त के ऋषि 'प्रयस्वन्तः' हैं, जो तृतीय ऋक् में नामतः उल्लिखित हैं ॥५॥

एवाँ अग्निं वसूयवः०(ऋ० ५।२५।९) सूक्त की इस ऋक् में 'वसूयु' नाम का सामान्य निर्देश किया गया है । ऐसे मन्त्र अन्य भी हैं ।

ऋक् ५।२५ सूक्त के ऋषि 'वसूयवः आत्रेयाः' हैं, जिनका उल्लेख प्रस्तुत ऋक् में हुआ है ॥६॥

अबोध्यग्निः समिधा०(ऋ० ५।१।१) इस एक सूक्त का दर्शन बुध तथा गविष्ठिर दोनों ने एक साथ किया । परन्तु सूक्त में एक (गविष्ठिर) के नाम का उच्चारण गविष्ठिरो नमसा (ऋ०

'अहं यथा त्वमीशीय'''स्तोता मे' इति दृश्यते।
एकवत्तत्र निर्देशो न त्वावामिति दृश्यते ॥९॥

'आ यदिन्द्रश्च दद्वहे सहस्रं वसुरोचिषः'
एकवत्तत्र निर्देशः, 'तिष्ठं वनस्य मध्य आ' ॥१०॥

मत्स्यानां जालबद्धानां, 'त्यान्' इत्यार्षं विदुर्बुधाः।
तत्रापि दृष्टो निर्देशः, 'उत त्वामदिते महि' ॥११॥

एवंविधेषु सूक्तेषु तस्मादेक ऋषिर्मतः।
प्रधानोऽन्ये त्वप्रधाना इति मन्यामहे वयम् ॥१२॥

स च प्रधानो निर्देशाद्, अस्माभिर्ज्ञायते क्वचित्।
'गविष्ठिरो नमसे[सा' इ]ति, प्राधान्यं ह्यवगम्यते ॥१३॥

५।१।१२) इस ऋक् में किया गया है। वहां बुध का कथन नहीं हुआ है। यदिन्द्राहं यथा त्वम् (ऋ० ८।१४।१) यह सूक्त दो ऋषियों (गोषूक्ती तथा अश्वसूक्ती) के द्वारा दृष्ट माना जाता है। परन्तु—यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय'''स्तोता मे० (ऋ० ८।१४।१) इस ऋक् में 'अहम्' यह एकवत् निर्देश है, 'आवाम्' ऐसा दोनों का निर्देश नहीं दिखाई देता ॥७-९॥

आ यदिन्द्रश्च दद्वहे सहस्रं वसुरोचिषः० (ऋ० ८।३४।१६-१८) इस तृच का दर्शन एक हजार 'वसुरोचिषः' अङ्गिराओं ने किया। परन्तु—तिष्ठं वनस्य मध्य आ (ऋ० ८।३४।१८) इस ऋक् में 'तिष्ठम्' पद से एकवत् निर्देश है ॥१०॥

विद्वान् लोग त्यान्० (ऋ० ८।६७।१) इस सूक्त को जाल में फंसे मत्स्यों के द्वारा दृष्ट समझते हैं। उस सूक्त में भी—उत त्वामदिते महि (ऋ० ८।६७।१०) ऋक् में 'अहम्' पद से एकवत् निर्देश दिखाई देता है ॥११॥

इसलिए इस प्रकार के सूक्तों में एक ऋषि प्रधान माना है और अन्य ऋषि अप्रधान माने जाते हैं, ऐसा हमारा मत है ॥१२॥

वह प्रधान ऋषि सूक्त में नाम का निर्देश होने के कारण कहीं-कहीं हमें स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। जसे—गविष्ठिरो नमसा (ऋ० ५।१।१२) इस ऋक् में नामोल्लेख के कारण सूक्त में गविष्ठिर की प्रधानता प्रतीत होती है ॥१३॥

'यदिन्द्राहं यथे[था' इ]ति, अत्र न विशेषः प्रतीयते ।
गोषूक्ती वाश्वसूक्ती वा नैकोऽपि ह्यत्र कीर्त्यते ।।१४।।
'तं प्रत्नथे[था' इ]त्यवत्सारः,काश्यपोऽन्यैः सहर्षिभिः ।
तस्मिन् सूक्ते समुद्दिष्टैर्ददर्शेत्यवगम्यते ।।१५।।
'ऋज्राश्वः प्रष्टिभिरि[भिः' इ]ति, विस्पष्टमृषिराह च ।
कर्तृत्वमात्मनो दृष्टौ भ्रातृणां चाप्रमाणताम् ।।१६।।
प्रह्वाः प्राञ्जलयस्सर्वे इन्द्रं तुष्टूषवः स्थिताः ।
उपशृण्वत्सुतेष्विन्द्रं ऋज्राश्वः स्तुतवान् स्वयम् ।।१७।।

यदिन्द्राहं यथा० (ऋ० ८।१४।१) इस सूक्त में प्रधान ऋषि का वोध नहीं होता, क्योंकि इस सूक्त में गोषूक्ती या अश्वसूक्ती दोनों में से एक का भी नामतः उल्लेख नहीं किया गया ।।१४।।

तं प्रत्नथा० (ऋ० ५।४४।१) इत्यादि सूक्त का दर्शन सूक्त में उल्लिखित अन्य ऋषियों के साथ अवत्सार काश्यप ने किया, यह ज्ञात होता है ।

ऋ० ५।४४ सूक्त का प्रधान ऋषि अवत्सार काश्यप है । इस सूक्त की दसवीं ऋक् में 'अवत्सार' का नाम निर्दिष्ट है । इसी ऋक् में सहद्रष्टा ऋषियों के नाम—क्षत्र, मनस, एवावद, यजत तथा सध्रि भी निर्दिष्ट हैं । ग्यारहवीं ऋक् में विश्ववार, यजत, मायी और बारहवीं ऋक् में सदापृण, यजत, बाहुवृक्त, श्रुतवित्, तर्य एवं तेरहवीं ऋक् में सुतम्भर इन नामों का उल्लेख है, जो सब अवत्सार के सहद्रष्टा हैं ।।१५।।

ऋज्राश्वः प्रष्टिभिः (ऋ० १।१००।१७) इस ऋक् में ऋषि ने स्पष्ट ही दर्शन में अपने कर्तृत्व और भाईयों की अप्रधानता को कहा है । विनम्र, हाथ जोड़े हुए, इन्द्र की स्तुति के इच्छुक सब भाई बैठे हुए थे । उन के सुनते हुये, ऋज्राश्व ने स्वयं इन्द्र की स्तुति की ।

ऋ० १।१००सूक्त के द्रष्टा वृषागीः के पुत्र ऋज्राश्व, अम्बरीष,सहदेव,भयमान तथा सुराधस् है । इस सूक्त की आगे उल्लिखित सत्रहवीं ऋक् से ऋज्राश्व की प्रधानता प्रतीत होती है ।

एतत् त्यत् तं इन्द्र वृष्णं उक्थं वार्षगिरा अभि गृणन्ति राधः ।
ऋज्राश्वः प्रष्टिभिरम्बरीषः सहदेवो भयमानः सुराधाः ।।

माधव ने इस ऋक् का अर्थ किया है—तद् इदं तव वर्षितुः इन्द्रस्य स्तोत्रं वृषागिरः पुत्राः उच्चारयन्ति प्रीणनम्।ऋज्राश्वः पार्श्वयोः स्थितैः स्तोत्रम् उच्चारयति। पार्श्वस्थानां नामानि अम्बरीष इति (वृषागिर् के पुत्र आप इन्द्र के इस प्रिय स्तोत्र का उच्चारण करते हैं । ऋज्राश्व समी-

ऋषिरेकां ददर्शर्चम्, ऋषिरेकामथापरः ।
इति केचन मन्यन्ते तदयुक्तमिति स्थितिः ॥१८॥
शतं वैखानसान् प्राहुः सहस्रं वसुरोचिषः ।
न तावत्य ऋचस्तेषां वृद्धेष्वस्तु विनिर्णयः ॥१९॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

—:०:—

पस्थ अम्बरीष आदि के साथ उच्चारण करता है। कारिका सं० १७ के तृतीय चरण का पाठ 'उपश्रृण्वन् सुतेष्विन्द्रं' मिलता है ॥१६-१७॥

एक ऋषि ने एक ऋक् का दर्शन किया, दूसरे ऋषि ने अन्य ऋक् का दर्शन किया, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। परन्तु निश्चय ही यह मान्यता युक्त नहीं है ॥१८॥

वैखानसों को सौ और वसुरोचिषों को हजार बताते हैं। उनके द्वारा दृष्ट उतनी ऋचाएं तो हैं नहीं। इस विषय का युक्तियुक्त निर्णय वृद्धजनों पर ही निर्भर है।

ऋ० ९।६६ सूक्त के द्रष्टा सौ वैखानस हैं, सूक्त में केवल तीस ऋचाएं हैं। इसी प्रकार ऋ० ८।३४।१६-१८ तृच के द्रष्टा हजार वसुरोचिष् अङ्गिरस् हैं, तृच में केवल तीन ऋचाएं हैं। इस लिए 'एक-एक ऋषि ने एक-एक ऋक् का दर्शन किया' यह मत समीचीन नहीं है ॥१९॥

सर्वानुक्रमणी में निर्दिष्ट ऋषियों के अध्ययन से निम्न तथ्य प्रकाश में आते हैं —

१. ऋषियोंके तीन विभाग किये गये हैं—शतर्ची, माध्यम तथा क्षुद्रसूक्त-महासूक्त । प्रथम मण्डल के सोलह ऋषि शतर्ची बताये गये हैं, क्योंकि उनमें से प्रत्येक ने लगभग सौ-सौ ऋचाओं का दर्शन किया था। मध्यम मण्डलों के ऋषियों को माध्यम कहा गया है, उन में से कुछ ऋषियों ने कई कई सौ ऋचाओं का दर्शन किया था। अन्तिम मण्डल के ऋषियों को उन के द्वारा दृष्ट सूक्तों के अनुसार क्षुद्र सूक्त एवं महासूक्त कहा गया है

२. एक सूक्त, ऋक्-समूह अथवा एक ऋक् के द्रष्टा अनेक (दो से हजार तक) ऋषि हो सकते हैं। माधव के समान अन्य भाष्यकारों तथा विद्वानों ने इनकी उपपत्तियां लगभग उसी प्रकार दर्शाई हैं। लौगाक्षिगृह्यसूत्र के भाष्यकारदेव पाल का कथन है—युज्यन्ते चानेके द्रष्टारः कालभेदेन युगपच्च' (काण्डिका १)। लगभग बीस स्थलों में अनेक ऋषि निर्दिष्ट हैं (अधिकांश स्थल पांचवें, आठवें तथा नवें मण्डलों में हैं)।

३. पूर्व अर्द्धर्च का द्रष्टा एक ऋषि और उत्तर अर्द्धर्च का द्रष्टा दूसरा ऋषि हो सकता है। ऋ० ७।३२।२६ ऋक् के पूर्व अर्द्धर्च का द्रष्टा शक्ति वासिष्ठ है और उत्तर अर्द्धर्च का द्रष्टा स्वयं वसिष्ठ। इस स्थल पर वेदार्थदीपिका में षड्गुरुशिष्य ने एक आख्यायिका भी प्रस्तुत की है। ऋ० १०।१३४ सूक्त की $5\frac{1}{2}$ ऋचाओं का ऋषि मान्धाता बताया गया है, और $1\frac{1}{2}$ ऋक् की ऋषिका गोधा।

४. सूक्तों के ऋषियों के विकल्प भी दर्शाये गये हैं। ऐसे स्थलों की संख्या लगभग बीस है (अधिकांश सप्तम, अष्टम, नवम तथा दशम मण्डलों में हैं)।

५. कुछ स्थलों पर ऋषि-निर्देश संशय उत्पन्न करते हैं, जैसे—संवादसूक्त (ऋ० ३।३३); ऋषिदेवता समान (ऋ० १।७०); गोत्रविहीन ऋषि (ऋ० ९।५), सौ वैखानस (ऋ० ९।६६); जालनद्ध मत्स्य (ऋ० ८।६७); सप्तऋषि (ऋ० १०।१३७); वातरशन मुनि (ऋ० १०।१३६)।

६. दो गोत्रों से युक्त ऋषि भी निर्दिष्ट हैं, जैसे—गृत्समद (ऋ० २।१) पहले अङ्गिरस कुल में शुनहोत्र का पुत्र था, पश्चात् भृगु कुल में शुनक का पुत्र हो गया। इसी प्रकार प्रगाथ घौर काण्व (ऋ० ८।१) है, जिसका पिता घोर तथा ज्येष्ठ भ्राता कण्व (बृह० ६।३५-३९, वेदार्थ-दीपिका ८.१) था।

७. द्रष्टा ऋषियों ने अपने गोत्रों, अपने सहयोगियों तथा स्वयं अपने नामों का उल्लेख यत्र तत्र मन्त्रों में किया है और यथावसर अपने साथ घटी घटनाओं का वर्णन भी किया है। प्राचीन वेदभाष्यकारों की मान्यता भी यही है।

ऊपर वर्णित तथ्यों से स्पष्ट है कि वेदमन्त्रों में ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं घटनाओं का वर्णन है। अर्वाचीन विद्वान् ऐतिहासिकपक्ष को मनुस्मृति तथा महाभारत आदि के वचनों के प्रतिकूल मानते हैं। महाभारत में कहा गया है—

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥

इसी प्रकार मनुस्मृति का वचन है—

सर्वेषांतु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनु० १।२१॥

द्रष्टा ऋषियों को यदि ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार किया जाता है, तो न केवल उक्त वचनों से विरोध होगा, अपि तु वेद मानव-कृति होने से अनित्य सिद्ध होंगे। दूसरे, अनेक ऋषियों द्वारा एक सूक्त या ऋक् का दर्शन, ऋषियों का विकल्प और नदी, सरमा, श्रद्धा आदि के द्वारा मन्त्रों का दर्शन कैसे उपपन्न होगा? इन आपत्तियों के समाधान के लिए 'पदवीवाद' या 'उपाधिवाद' के नाम से परिकल्पना प्रस्तुत की गई। इस परिकल्पना के अनुसार 'विश्वकर्मा' आदि

पद उपाधि या पदवी के वाचक हैं, ऐतिहासिक व्यक्तिविशेष के नाम नहीं। उपाधि की प्राप्ति के लिए विशिष्ट योग्यता अपेक्षित है। उस विशिष्ट योग्यता के अर्जित कर लेने पर कोई भी व्यक्ति उस उपाधि से अलङ्कृत हो सकता है। इस प्रकार 'विश्वकर्मा' का अर्थ हुआ—विश्वकर्मत्व योग्यता सम्पन्न (व्यक्ति)। इस परिकल्पना से अनेक ऋषियों का द्रष्टृत्व, ऋषि-विकल्प तथा श्रद्धा आदि का ऋषित्व भी अञ्जसा उपपन्न हो जाता है। परन्तु ऋषियों के साथ उन के वांशिक सम्बन्ध भी निर्दिष्ट हैं, जैसे भौवन विश्वकर्मा (भुवन का पुत्र विश्वकर्मा); इस की उपपत्ति क्या है? उत्तर दिया गया है कि ये सम्बन्ध भी उपाधियां ही हैं (अर्थात् भौवन विश्वकर्मा= भुवन-उपाधिप्राप्त व्यक्ति का पुत्र विश्वकर्मा-उपाधि प्राप्त व्यक्ति)। ये पुत्रादि सम्बन्ध वैसे ही हैं, जैसे 'सहसः पुत्रो अग्निः' (ऋ० ३।१४।१) 'बल का पुत्र अग्नि' और 'अग्ने दिवो सूनुरसि' (ऋ० ३।२५।१) 'दिव का पुत्र अग्नि' आदि मन्त्रों में श्रुत हैं। मन्त्रों में दृष्ट तथा इङ्गित ऋषि-नामों की उपपत्ति के लिए एक और परिकल्पना 'आर्षवाद' के नाम से सामने आई। इस परि-कल्पना के अनुसार 'वेदमन्त्रों में प्रयुक्त ऋषि विश्व की मूल शक्तियां' हैं। विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों के तीन विभाग हैं—ऋषि, ऋषि-देवता, देवता। जो सम्बन्ध गेहूं: आटा: रोटी में है, वही ऋषि; ऋषि-देवता: देवता में है। इस मत के अनुसार अनेक ऋषियों के दर्शन का अर्थ है—अनेक मूल शक्तियों ने कारणरूप से वेदमन्त्ररूप कार्य को रचा। ऋषि-विकल्प का तात्पर्य है—आचार्यभेद से जैसे देवताभेद होता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न मूल शक्तियों को कारण माना है। श्रद्धा आदि जिस प्रकार देवता माने जाते हैं, उसी प्रकार ऋषि भी माने जा सकते हैं।

स्पष्ट है, इन परिकल्पनाओं द्वारा जैसे-तैसे सर्वानुक्रमणी निर्दिष्ट मतों में सामञ्जस्य स्था-पित करने का प्रयास किया गया है। सम्बन्धों की उपपत्ति भी आपातरमणीय ही है। अनुक्रमणी में द्रष्टाओं की पांच पीढ़ी तक वर्णित हैं, जैसे कुशिक, गाथी, विश्वामित्र, मधुच्छन्दा, जेता। क्या यह मूल शक्ति-शृङ्खला या उपाधि-शृङ्खला है? अनुक्रमणी में लिखा है कि विश्वामित्र कुलवालों के द्वारा शक्ति के दग्ध कर दिये जाने पर वसिष्ठ ने शेष अर्द्ध ऋक् का दर्शन किया :—क्या इसका अर्थ यह है—शक्तिनामक मूल शक्ति को विश्वामित्रनामक मूल शक्ति ने जला दिया, तब वसिष्ठनामक मूल शक्ति ने शेष आधी ऋक् को रचा? वस्तुतः उपाधिवाद हो या आर्षवाद, ये सब कल्पनाएं हैं, जो निश्चय ही सर्वानुक्रमणी आदि ग्रन्थों के प्रणेताओं के मस्तिष्कों में नहीं थीं।

शौनक, कात्यायन आदि के ग्रन्थ-प्रणयन काल में समाज में कर्म-काण्ड का प्राधान्य था, वैदिक परम्पराएं कुछ कुलों में सुरक्षित थीं, कुछ में शिथिल हो चलीं थीं और कुछ में लुप्त हो गई थीं। यह तथ्य उन के ग्रन्थों में कुछ कुलीय मण्डलों में निश्चित द्रष्टाओं, कुछ सूक्तों एवं ऋचाओं के वैकल्पिक द्रष्टाओं और कुछ सूक्तों के देवता सदृश ऋषियों के संग्रह से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। मुख्य रूप से श्रौत-स्मार्त्त कर्मों में ऋषि-देवता-छन्दों की अपेक्षा होती थी (तद्धि-तज्ज्ञानमृते श्रौतस्मार्त्तकर्मसिद्धः—सर्वानुक्रमणी)। अतः जो सूचना जहां से मिल सकी, संगृहीत

पञ्चमोऽध्यायः

'यदद्य सूर्ये[र्य' इ]त्यध्यायं, व्याचिख्यासति माधवः ।
अष्टकादिषु वक्तव्यं आदितः सम्प्रदर्शयन् ॥१॥
अष्टकाध्यायविच्छेदः पुराणैर्ऋषिभिः कृतः ।
उद्ग्राहार्थं प्रदेशानाम्, इति मन्यामहे वयम् ॥२॥
वर्गाणामपि विच्छेद, आर्ष एवेति निश्चयः ।
ब्राह्मणेष्वपि दृश्यन्ते वर्गसंशब्दनादयः ॥३॥

कर ली गई। यदि उसमें कोई कड़ी टूटी हुई प्रतीत हुई, तो उसे कल्पित आख्यायिका के द्वारा जोड़ दिया गया (जैसे शक्ति ऋषि कृत अर्द्धर्च का दर्शन)। वेदमन्त्रों में ऋषिवाची पदों के अर्थ यौगिक हो सकते हैं, ब्राह्मणों तथा प्राचीन भाष्यों में इसके संकेत भी मिलते हैं। हां ब्राह्मणों के संकेतों को पकड़ने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है, क्योंकि वे अनेक गौण कल्पनाओं का अभिधान करते हैं (बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति—निरु० ७।२४)। एक बात और है, साधारण जन के सामने न नदी बोलती है, न सरमा, न श्रद्धा। परन्तु सहृदय जन के सामने पशु-पक्षी-वृक्ष-पत्थर सभी मुखरित हो उठते हैं। (तु०—महा० ३।१।७ में ऋषिः पठति—शृणोत ग्रावाणः।')। और जब वे बोलते हैं, तो 'यस्य वाक्यं स ऋषिः' (सर्वानु०) के अनुसार भी वे ऋषि हैं ही। वेद काव्य है, और काव्य में यह सभी सम्भव है। वस्तुतः यह ज्ञान-प्रतिपादन का सहृदय वेदनीय प्रकार है। इससे उसकी नित्यता को कोई क्षति नहीं होती ॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

—:०.—

पञ्चमोऽध्यायः

अष्टक आदि के विषय में आरम्भ में अपने वक्तव्य को प्रदर्शित करता हुआ माधव 'यदद्य सूर्य' (ऋ० ७।६०।१) इस अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

निर्देशों के विशेष ग्रहण (अध्ययन तथा स्मरण) के लिए प्राचीन ऋषियों ने अष्टक-अध्याय विभाग किया, ऐसा हम मानते हैं ॥२॥

निश्चय ही वर्गों का विच्छेद भी ऋषियों द्वारा किया गया। वर्ग आदि शब्द (संज्ञाएं) ब्राह्मणग्रन्थों में भी देखे जाते हैं ॥३॥

विभज्यन्ते च सूक्तानि समधा तत्र वर्गशः ।
अन्ताल्लोपोऽपि वृद्धिश्च क्रियेतेऽनुगुणाविति ॥४॥
अध्यापनाय शिष्याणां विभागो वर्गशः कृतः ।
सुग्रहो हि भवत्यल्पः शक्यो धारयितुं ततः ॥५॥
सङ्गीभूयाभवत् सर्वमेकं मण्डलमादितः ।
आसीदृषिर्मधुच्छन्दा मधुरोत्तममन्त्रदृक् ॥६॥
तस्मादग्रे प्रादुरभूत् काण्वो मेधातिथिस्ततः ।
शौनश्शेपानि छन्दांसि मधुराणि ततोऽभवन् ॥७॥
हैरण्यस्तूपछन्दांसि काण्वानि च ततः परम् ।
'अत्र शाट्यायनकम्'—"वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा,
अकामयत मुख्ये ब्रह्मवर्चसि स्यामिति" ॥८॥

सूक्तों को समान रूप से वर्गों में विभक्त किया गया है। अन्त में संख्या में न्यूनता तथा अधिकता अनुकूलता के अनुसार की गई है।

सूक्त के आरम्भ से पांच-पांच ऋचाओं का एक-एक वर्ग बनाया गया है। अन्त में बची हुई ऋचाओं के न्यून या अधिक होने पर भी वर्ग बना दिया गया है। इस प्रकार वर्ग में ऋक्संख्या एक से नौ तक हो सकती है, सामान्यतः पांच होती है ॥४॥

वर्गशः विभाग शिष्यों के अध्यापन के लिए किया गया है, क्योंकि अल्प पाठ को ग्रहण करने (समझने) में सरलता होती है, उसके पश्चात् चिरकाल तक धारण (स्मरण) भी किया जा सकता है ॥५॥

सब मिलकर आदि में एक मण्डल हो गया। मधुर उत्तम मन्त्रों का द्रष्टा मधुच्छन्दा ऋषि था (उस के द्वारा दृष्ट सूक्तों को आदि में रखा गया)। उसके आगे मेधातिथि काण्व प्रकट हुआ। उसके पश्चात् शुनःशेपदृष्ट मधुर छन्द हुए। तदनन्तर हिरण्यस्तूपदृष्ट छन्द हुए और उससे परे काण्व छन्द हुए। इस सम्बन्ध में शाट्यायन ब्राह्मण का वचन है—विश्वामित्र के पुत्र मधुच्छन्दा ने कामना की कि मैं मुख्य 'ब्रह्मवर्चस्' में होऊं(मुख्य ब्रह्मवर्चसवाला होऊं)।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल में उपर्युक्त ऋषिओं के सूक्त हैं—मधुच्छन्दा वैश्वामित्र—१-१०, मेधातिथि काण्व—१२-२३, शुनःशेप आजिगर्त्ति—२४-३०, हिरण्यस्तूप आङ्गिरस—३१-३५, कण्व घौर—३६-४३। इन सूक्तों में मधुर गायत्रीछन्द का बाहुल्य है। आठवीं कारिका के केवल दो चरण ही मिलते हैं। इससे सन्देह होता है—क्या माधव ने प्रथम मण्डल के अन्य शर्चियों

अमहान्ति निवेश्याऽन्तर्मण्डलानि महर्षिभिः ।
कृतो महद्भ्यां रक्षार्थं अथ तेषां परिग्रहः ॥९॥
समानमेतद्यज्ञस्य एव तद्रसेनेह्यतीति ।
सामिधेनीप्रभृतिषु ब्राह्मणैस्तद्विधीयते ॥१०॥
भूयिष्ठं यज्ञसंयुक्तम्, उत्तमं मण्डलं विदुः ।
पितृमेधादिकं तस्माद् अन्ततस्तन्निवेशितम् ॥११॥
मध्यस्थानां मण्डलानां क्रमो योऽयं व्यवस्थितः ।
तस्य कारणमन्वेष्टुं संख्याऽस्माभिः प्रदर्श्यते ॥१२॥

का भी यथाक्रम उल्लेख किया था ? शाट्यायन ब्राह्मण अनुपलब्ध है, तुलनार्थ जैमिनीय ब्राह्मण (३।२७) का पाठ प्रस्तुत है—'मधुच्छन्दा वै वैश्वामित्रोऽकामयताग्रचो मुख्यो ब्रह्मवर्चसी स्यामिति'। सम्भवतः शाट्यायन में भी 'मुख्यो ब्रह्मवर्चसी' पाठ होगा ? ॥६-८॥

महर्षियों ने अपेक्षाकृत छोटे मण्डलों को बीच में रखकर उनकी रक्षा के लिए दोनों ओर बड़े मण्डलों से बाड़ लगा दी है ।

प्रथम तथा दसवां मण्डल सूक्त-संख्या की दृष्टि से बड़े हैं । सब मण्डलों के सूक्तों की संख्याएं अगली कारिकाओं (१३-१५) में दी गई हैं ॥९॥

यह यज्ञ के समान है···। सामिधेनी आदि में ब्राह्मणों ने उसका विधान किया है ।

कारिका के द्वितीय चरण का पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है, अतः कारिका का अर्थ स्पष्ट नहीं है । दर्शपूर्णमास आदि यागों में 'सामिधेनी' नामक ग्यारह ऋचाओं का प्रयोग ब्राह्मणों (तै० ब्रा० ३।५।१-४; श० ब्रा० १।४।१।९-३८) में विहित है । किन्हीं विशिष्ट कर्मों में 'धाय्या' नामक सामिधेनि को नवीं तथा दसवीं ऋचाओं के बीच में प्रविष्ट किया जाता है (बौ० २८।३; पू० मी० ५।३।४; श० ब्रा० १।४।१।३७) । सम्भव है, धाय्या के अन्तः-प्रवेश के साम्य से यहां छोटे मण्डलों का अन्तः-प्रवेश दर्शाया गया हो ? ॥१०॥

पितृमेधादिक अन्तिम मण्डल को अधिकांशतः यज्ञ से युक्त समझते हैं । इस लिए उस को अन्त में रखा गया है ।

दसवें मण्डल के चौदहवे सूक्त से अट्ठारहवें सूक्त तक प्रायः पितृमेध-सम्बन्धी ऋचाएं हैं ॥११॥

यह जो मध्यस्थ मण्डलों का क्रम व्यवस्थित है, उस के कारण को खोजने के लिए हम संख्या प्रदर्शित करते हैं ॥१२॥

आद्यन्तयोर्मण्डालयोर्नवोने द्वे शते विदुः ।
त्रिचत्वारिंशद् द्विषष्टिर्द्व्यूना षष्टिरनन्तरम् ॥१३॥
सप्ताध्यशीतिः पञ्चाधिसप्ततिस्तदनन्तरम् ।
चतुरधिकं च शतम्, अष्टोनं च शतं ततः ॥१४॥
चतुर्दशकं च शतं सूक्तानां क्रमशो विदुः ।
मध्यस्थानां मण्डलानाम्, इति संख्या यथाक्रमम् ॥१५॥
रक्षार्थमथ वाक्यानि कलायो लवनं ततः ।
रतिनाश्च दमूनाश्च सदनं मथनं तथा ॥१६॥
वनाय क्रोधतो द्वे च, भयकृद् युद्धकृत् तथा ।
क्रमेण दशवाक्यानि सायाह्नः स्यात् समन्वये ॥१७॥
वामदेवस्तृतीयश्चेद् भरद्वाजश्च पञ्चमः ।
कण्वश्च सप्तमः सूक्तैः क्रमवृद्धैर्भवेत् क्रमः ॥१८॥

आदिम और अन्तिम मण्डलों में से प्रत्येक में एक सौ इक्यानवें सूक्त हैं। मध्यस्थ मण्डलों में क्रमशः तेंतालीस, बासठ, अट्ठावन, सतासी, पचहत्तर, एक सौ चार, बानवें तथा एक सौ चौदह सूक्त हैं।

आठवें मण्डल के ४९ से ५९ तक ११ वालखिल्य सूक्तों की गणना यहां नहीं की गई है ॥१३-१५॥

मण्डलों के सूक्तों की संख्या की रक्षा के लिए (स्मरणार्थ) क्रमशः दस वाक्य है—कलायः, लवनम्, रतिनाः, दमूनाः, सदनम्, मथनम्, वनाय, क्रोधतः, भयकृत्, युद्धकृत्। सम्पूर्ण सूक्त-संख्या के लिए वाक्य है—सायाह्नः स्यात्।

पृथक्-पृथक् सूक्तों तथा ऋचाओं आदि की संख्या को स्मरण रखने के लिए पृथक्-पृथक् पदों या पदसमूहों की कल्पना का आधार क्या है, यह ज्ञात नहीं हो सका ॥१६-१७॥

यदि वामदेव तृतीय, भरद्वाज पञ्चम और कण्व सप्तम हो जाय, तो क्रम से बढ़ते हुए सूक्तों के अनुसार क्रम हो सकता है।

वर्तमान क्रम है—(२) गृत्समद (३) विश्वामित्र (४) वामदेव (५) अत्रि (६) भरद्वाज (७) वसिष्ठ (८) कण्व (९) मधुच्छन्दा आदि। सूक्तसंख्यावृद्धि के अनुसार क्रम होगा—गृत्समद, वामदेव, विश्वामित्र, भरद्वाज, अत्रि, कण्व, वसिष्ठ, मधुच्छन्दा आदि ॥१८॥

न च क्रमेण वर्धन्त ऋचो गार्त्समदादिषु ।
तस्माद् ऋक्क्रोऽपि नैतेषाम्, अष्टानां सिध्यति क्रमः ॥१९॥
वाक्यैरेतैर्विजानीयाद् मण्डलानामृचः क्रमात् ।
दशानां दशभिः प्राज्ञः तथाधेयो धरावनिः ॥२०॥
साध्यं च नो धेहि मेऽन्नं शूरसूनुर्मतोऽसि नः ।
गुरुदाने युगान्तस्य सिद्धान्नस्य निशीथके ॥२१॥
शतैश्चतुर्भिरधिकम्, अयुतं गणितं मया ।
द्वे चर्चातिरिच्येते द्विपदाश्चात्र सङ्गताः ॥२२॥
पृथक्पदा तु गणनं द्विपदानां तदाधिका ।
चतुश्शतादशीतिश्च वाक्यं च ग्रहवानयम् ॥२३॥

गृत्समद आदि से दृष्ट सूक्तों में ऋचाएं भी क्रम से नहीं बढ़ती हैं। इस लिए इन आठों मण्डलों का क्रम ऋक्संख्या के अनुसार भी नहीं है ॥१९॥

विद्वान् दस मण्डलों की ऋचाओं (की संख्याओं) को क्रमशः इन दस वाक्यों से जाने— तथाधेयः, धरावनिः, साध्यं च नः, धेहि मेऽन्नम्, शूरसूनुः, मतोऽसि नः, गुरुदाने, युगान्तस्य, सिद्धान्नस्य, निशीथके ।

मण्डल	वाक्य	संख्या	मण्डल	वाक्य	संख्या
प्रथम	तथाधेयः	१९७६	षष्ठ	मतोऽसि नः	७६५
द्वितीय	धरावनिः	४२९	सप्तम	गुरुदाने	८२३
तृतीय	साध्यं च नः	६१७	अष्टम	युगान्तस्य	१६३१
चतुर्थ	धेहि मेऽन्नम्	५८९	नवम	सिद्धान्नस्य	१०९७
पञ्चम	शूरसूनुः	७२५	दशम	निशीथके	१७५० ॥२०-२१॥

मैंने दस हजार चार सौ दो (१०४०२) ऋचाएं गिनी हैं, इन में द्विपदा ऋचाएं भी सम्मिलित हैं।

इस गणना में ग्यारह वालखिल्य सूक्तों की अस्सी ऋचाएं नहीं जोड़ीं गई हैं ॥२२॥

जब द्विपदाओं की पृथक् गणना की जाती है, तब दस हजार चार सौ अस्सी ऋचाएं होती हैं और सङ्केतिक वाक्य होता है—ग्रहवानयम् ।

कारिका में 'पृथक्पदा' पाठ उपलब्ध होता है, 'पृथग्पदा' पाठ ही उचित प्रतीत होता है जैसा कि मद्रास संस्करण में मुद्रित है।

एकर्चे एकवर्गः स्याद् द्व्यृचौ द्वौ नवकावुभौ ।
एकोनं स्यात् त्रिकशतं चतुष्कं पञ्चसप्ततिः ॥२४॥
अधिकं च शतं तस्याः चतुः पञ्चाशदष्टकाः ।
एकविंशशतं प्राहुः सप्तकानां च वैदिकाः ॥२५॥

ऋग्वेद में १५७ द्विपदा ऋचाएं हैं । इन में से १७ नित्य द्विपदा ऋचाएं हैं और १४० नैमित्तिक द्विपदा ऋचाएं हैं । नित्य द्विपदा ऋचाएं सदा अपने इसी स्वरूप में रहती हैं, परन्तु नैमित्तिक द्विपदा केवल यज्ञकर्म में अपने स्वरूप में रहती हैं, अध्ययन आदि के समय वे दो-दो मिलकर एक चतुष्पदा ऋक् के रूप में रहती हैं (ऋक्सर्वानुक्रमणी, वेदार्थदीपिका आदि) । इस प्रकार १४० नैमित्तिक द्विपदा ऋचाएं वस्तुत: ७० ऋचाएं ही हैं । अतः पृथक् गणना करते समय केवल ७० को जोड़ना चाहिए । इस प्रकार योग १०४७२ होना चाहिए । परन्तु माधव ने १०४८० लिखा है । आचार्यों का अनुमान है कि माधव ने भूल से सम्पूर्ण १५७ द्विपदाओं की आधी ७८ चतुष्पदाएं बना कर योग १०४८० लिखा है (ऋग्वेद की ऋक्संख्या पृ० १२) । आगे तालिका दी जा रही है जिस से प्रतिमण्डल सूक्तसंख्या, द्विपदा सहित ऋक्संख्या, द्विपदा-रहित ऋक्संख्या तथा वालखिल्य सहित योग दर्शाया गया है ।

मण्डल	सूक्तसंख्या	द्विपदारहित ऋक्संख्या	द्विपदासहित ऋक्संख्या
प्रथम	१९१	१९७६	२००६
द्वितीय	४३	४२९	४२९
तृतीय	६२	६१७	६१७
चतुर्थ	५८	५८९	५८९
पञ्चम	८७	७२५	७२७
षष्ठ	७५	७६५	७६५
सप्तम	१०४	८२३	८४१
अष्टम	९२	१६३१	१६३६
नवम	११४	१०९७	११०८
दशम	१९१	१७५०	१७५४
योग	१०१७	१०४०२	१०४७२
वालखिल्य	११	८०	८०
पूर्ण योग	१०२८	१०४८२	१०५५२ ॥२३॥

एक ऋक्वाला एक वर्ग है । दो ऋचाओंवाले दो वर्ग है । नौ ऋचाओंवाले दो वर्ग

शतानि त्रीणि षट्कानां चत्वारिंशत्त्रयस्तथा ।
पञ्चकानां सहस्रं च द्वे शते नवकं तथा ॥२६॥

हैं। तीन ऋचाओंवाले ९९ वर्ग हैं। चार ऋचाओंवाले १७५ वर्ग हैं। आठ ऋचाओंवाले ५४ वर्ग हैं और वैदिक विद्वान सात ऋचाओंवाले १२१ वर्ग बताते हैं। छह ऋचाओंवाले ३४३ वर्ग हैं और पांच ऋचाओंवाले १२०९ वर्ग हैं।

माधव ने ऋग्वेद में २००६ वर्ग तथा १०४०२ ऋचाएं गिनी हैं। शौनकप्रोक्त अनुवाकानुक्रमणी में वर्गसंख्या २००६ एवं ऋक्संख्या १०४१७ दी गई है। चरणव्यूह के टीकाकार महीदास की गणना के अनुसार वर्गसंख्या २०१०तथा ऋक्संख्या १०४१९ है। ऋक्संख्या में भेद का कारण शाखाभेद हो सकता है। माधव शौनक तथा महीदास प्रदर्शित गणना की तुलनात्मक सारणी आगे प्रस्तुत की जाती है—

	माधवकृत		शौनककृत		महीदासकृत	
प्रतिवर्ग ऋक्संख्या	वर्गसंख्या	ऋक्संख्या	वर्गसंख्या	ऋक्संख्या	वर्गसंख्या	ऋक्संख्या
१	१	१	१	१	१	१
२	२	४	२	४	२	४
३	९९	२९७	९७	२९१	१००	३००
४	१७५	७००	१७४	६९६	१७५	७००
५	१२०९	६०४५	१२०७	६०३५	१२११	६०५५
६	३४३	२०५८	३४६	२०७६	३४५	२०७०
७	१२१	८४७	११९	८३३	१२०	८४०
८	५४	४३२	५९	४७२	५५	४४०
९	२	१८	१	९	१	९
योग	२००६	१०४०२	२००६	१०४१७	२०१०	१०४१९

डा० कुञ्जनराज ने दक्षिण भारत में प्रचलित दो श्लोक उद्धृत किये हैं, जिन में गणना प्रदर्शित की गई है। श्लोक तथा गणनाएं आगे दी जा रही हैं—

जानन् अपि द्विषा मोदं स यज्ञः पातना नरः ।
रसं भिन्नाय मांसादो नरस् तस्य जलाधिपः ॥१॥

सङ्केतित	साङ्केतिक पद	संख्या
अष्टक	जानन्	८
मण्डल	अपि	१०

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च।
ऋचामशीति पादश्च पाठोऽयं न समञ्जसः ॥२७॥

अध्याय	द्विषा	६४
अनुवाक	मोदम्	७५
सूक्त	स यज्ञः पा	१०१७
वर्ग	तना नरः	२००६
ऋचाएं	रसं भिन्नाय	१०४७२
अर्द्धर्च	मांसादो नरः	२०८७५
शब्द	तस्य जलाधिपः	१९३८१६

स्यान्-नः-श्रीर्-मधु-रा-नाथस्या-त्मा-प-योधि कन्या-भूत् ।
चलगा-श्री-दिव्येडचा-स-विष्णोः-का-मिनी-पु-ष्टये ॥२॥

इस श्लोक के बीस साङ्केतिक पदों से दो से इक्कीस अर्द्धर्चों तक वाले वर्गों की संख्या प्रदर्शित की गई है। क्रमशः संख्या हैं—१, ०, २, १, ९५, २, १७०, १५, ११९१, ४, ३३६, २, ११७, ७, ५४, १, ५, ०, १, १। इन संख्याओं में सम्भवतः एक संख्या की भूल है, क्यों कि योग २००५ बनता है ॥२४-२६॥

ऋचाओं की संख्या दस हजार पांच सौ अस्सी तथा एक पाद है, यह पाठ ठीक नहीं है।

ऋचाओं के विशिष्ट गणना-प्रकार एवं शाखाओं के भेद के कारण ऋग्वेद की ऋक्संख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों तथा विद्वानों ने भिन्न-भिन्न लिखी है। आचार्य शौनक ने अनुवाकानुक्रमणी में कहा है—

ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च।
ऋचामशीतिः पादश्च पारणं सम्प्रकीर्त्तितम् ॥

अर्थात् ऋग्वेद के पारायण में ऋचाओं की संख्या दस हजार पांचसौ अस्सी तथा एक पाद है। इसी प्रकार चरण व्यूह में पाठ है—

ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च।
ऋचामशीतिः पादश्चैतत् पारायणमुच्यते ॥

लौगाक्षिस्मृति में भी इसी प्रकार का वचन उपलब्ध होता है। आचार्य युधिष्ठिर जी मीमांसक ने अपने 'ऋग्वेद की ऋक्संख्या' नामक लघु ग्रन्थ में इस विषय का विशद विवेचन किया है। इस ग्रन्थ में आचार्यवर ने सभी प्राचीन एवं नवीन विद्वानों के द्वारा मान्य 'ऋग्वेद की ऋक्संख्याओं' को दर्शाकर उनकी समीक्षा की है। अन्त (पृ०२५) में उनका निर्णय है—'कात्यायनकृत सर्वा-

अपहायाथ पादस्याक्षराण्यादाय पण्डितः ।
ऋचः कालेन गणयेत् तत्तु शुद्धिर्भविष्यति ॥२८॥

मण्डलं वामदेवस्य तृतीयं चेत्तथाष्टमम् ।
स्यान्मण्डलं पावमानं क्रमाद् वृद्धेः क्रमो भवेत् ॥२९॥

विश्वामित्रो वामदेवात् सम्पन्नो व्यतिरिच्यते ।
अतिरेकश्च विज्ञेयो गायत्रीकरणाद् बुधैः ॥३०॥

नुक्रमणी के अनुसार वालखिल्य और नैमित्तिक द्विपदाओं सहित ऋग्वेद की ऋक्संख्या १०५५२ है। यदि अध्ययनकाल में १४० नैमित्तिक द्विपदाओं को चतुष्पदा बनाकर गिना जाय, तो १४०÷२=७० संख्या न्यून करके १०४८२ ऋक्संख्या होगी' ।

चरणव्यूह के टीकाकार महीदास ने १०५८० तथा एक पाद संख्या का सामञ्जस्य दर्शाया है। उस ने पहले वालखिल्यरहित ऋक्संख्या १०४०२ में ९४ ऋचाओं को जोड़कर योग १०४-९६ किया है। उसने ऋग्वेद की ९४ ऐसी ऋचाएं परिगणित की हैं, जिन में तीन-तीन अर्द्धर्च हैं। अध्ययनकाल में उनके दो अर्द्धर्च की एक ऋक् तथा एक अर्द्धर्च की एक ऋक् गिनी जाती है। इस प्रकार ९४ संख्या की वृद्धि होती है। १०४९६ में नैमित्तिक द्विपदा की ७० ऋचाएं और संज्ञानसूक्त की १५ ऋचाएं जोड़ने पर १०५८० संख्या पूरी हो जाती है। एक संख्या बचती है, वह है—'भुद्रं नो अपि वातय मनः' (ऋ० १०।२०।१) यह एकपदा ऋक्। आचार्यों का कथन है कि यहां संज्ञान सूक्त की १५ ऋचाओं को जोड़ना ठीक नहीं, क्योंकि इन के विना ही अनुवाकानुक्रमणी में १०४१७ ऋक्संख्या दी गई है (ऋग्वेद की ऋक्संख्या, पृ० ७) ॥२७॥

पूर्व गणना को छोड़कर, पाद के अक्षरों को लेकर विद्वान् समय-समय पर ऋचाओं की गणना करे। इस प्रकार संख्या शुद्ध रहेगी।

कारिका का अर्थ स्पष्ट नहीं है॥२८॥

यदि वामदेव का मण्डल तृतीय हो जाय और पावमान मण्डल अष्टम हो जाय, तो क्रम से वृद्धि का क्रम हो सकता है।

इस कारिका के अनुसार क्रम होगा—२. गृत्समद (४२९) ३. वामदेव (५८९) ४. विश्वामित्र (६१७) ५. अत्रि (७२५) ६. भरद्वाज (७६५) ७. वसिष्ठ (८२३) ८. पावमान (१०९७) ९. कण्व (१६३१) ॥२९॥

वामदेव की अपेक्षा विश्वामित्र सम्पन्न एवं विशिष्ट है। विद्वानों को उसका वैशिष्ट्य गायत्रीमन्त्र के दर्शन के कारण समझना चाहिये ॥३०॥

अत्र ब्रूमो गृत्समदः क्षत्रियो ब्राह्मणोऽभवत् ।
इन्द्रप्रसादाद् अस्यासन् वाचश्च हृदयङ्गमाः ॥३१॥
अग्रे तस्मात् प्रादुरभूद् विश्वामित्रस्ततोऽभवत् ।
तस्यापि मधुरा मन्त्रा ब्राह्मण्यमपि लब्धवान् ॥३२॥
दृष्टवेदास्ततोऽपश्यन् पुनश्च तपसाऽन्विताः ।
मण्डलं नवमं तेन तदन्ते सन्निवेशितम् ॥३३॥
प्रगाथे मण्डले बह्व्यो नाराशंस्य ऋचस्ततः ।
सन्निवेशोऽन्ततस्तस्य मध्यस्थेष्विति मन्यते ॥३४॥
अन्येषां क्रमवृद्धानां सन्निवेशः क्रमादभूत् ।
चतुर्णां वामदेवादेर्मण्डलानामिति स्थितिः ॥३५॥

पूर्वोक्त क्रमविषयक शङ्काओं के समाधानार्थ हम कहते हैं कि गृत्समद क्षत्रिय था, वह ब्राह्मण हो गया । इन्द्र के प्रसाद से इस (गृत्समद) की वाणियाँ (ऋचाएं) हृदयंगम थीं ।

गृत्समद की ब्राह्मणत्व-प्राप्ति की कथा महाभारत अनुशासनपर्व (अ० ३०) वीतहव्यो-पाख्यान में वर्णित है ॥३१॥

अतः मध्यममण्डलों में वह (गृत्समद) सर्वप्रथम हुआ । उसके पश्चात् विश्वामित्र हुआ, क्योंकि उसके मन्त्र भी मधुर हैं और उसने भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया था ।

विश्वामित्र के ब्राह्मणत्व प्राप्त करने की कथा महाभारत अनुशासन पर्व (अ० ४) विश्वा-मित्रोपाख्यान में वर्णित है (तु०—बृहद्देवता ३।९५) ॥३२॥

एक बार मन्त्रों का दर्शन करके तप से युक्त ऋषियों ने पुनः नवम मण्डल के मन्त्रों का दर्शन किया । अतः उसको मध्यममण्डलों के अन्त में रखा गया ।

नवें मण्डल में पूर्व मण्डलों में आये हुए ऋषियों के 'पावमान सोम' विषयक सूक्त संगृहीत हैं ॥३३॥

प्रगाथ (अष्टम) मण्डल में नाराशंसी (यज्ञ या अग्नि सम्बन्धी) ऋचाएं अधिक हैं । अतः उसे मध्यस्थ मण्डलों में अन्त में रखा गया है, ऐसा माना जाता है ।

अष्टम मण्डल में प्रायः कण्व कुल के ऋषि हैं, अतः इसको कण्वमण्डल भी कहा जाता है ॥३४॥

अन्य चार वामदेव आदि के मण्डलों को बढ़ती हुई ऋक्संख्या के क्रम से रखा गया है, यह स्थिति है ॥३५॥

अथानुवाकविच्छेदो बहुभिर्हेतुभिः कृतः ।
'सुरूपकृत्नुम्' इत्यैन्द्रात्, प्रागेकः कल्पितो बुधैः ॥३६॥
ऐन्द्राण्यथाष्टौ सूक्तानि विभक्तानि समन्वितैः ।
षट्सूक्तावनुवाकौ द्वौ समौ मेधातिथेरपि ॥३७॥
शौनश्शेपोऽनुवाकस्तु शुनश्शेपेन कल्पितः ।
हैरण्यस्तूपकाण्वौ च प्रास्कण्वाद्याश्च सप्तकाः ॥३८॥
गौतमस्यो [स्य 'उ]पप्रयन्ते'—सूक्तानां विंशतिं विदुः ।
एकादशकनवकावनुवाकौ च कल्पितौ ॥३९॥
ऐन्द्रमेकादशं सूक्तं ऐन्द्रैः पूर्वसमन्वितम् ।
इति सर्वानुवाकेषु कार्या सूक्ष्मेक्षिका बुधैः ॥४०॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

अनेक कारणों से अनुवाकों का विच्छेद किया गया है । विद्वानों ने 'सुरूपकृत्नुम्' (ऋ० १।४।१) इस इन्द्र देवतावाले सूक्त से पूर्व एक अनुवाक बनाया है ।

शौनकीय अनुवाकानुक्रमणी में अनुवाक-विभाग दर्शाया गया है । ऋ० १।१ से ऋ० १।३ तक प्रथम अनुवाक है ॥३६॥

उसके बाद इन्द्र देवतावाले आठ सूक्त हैं, वे दो समान भागों में विभक्त हैं । मेधातिथि के भी छह-छह सूक्तोंवाले दो समान अनुवाक हैं ।

ऋ० १।४ से ऋ० १।७ तक दूसरा, ऋ० १।८ से ऋ० १।११तक तीसरा, ऋ० १।१२–१७ चौथा, और ऋ० १।१८–२३ पांचवां अनुवाक है ॥३७॥

इसके पश्चात् शुनःशेप द्वारा रचित अनुवाक है । तदनन्तर हिरण्यस्तूप तथा कण्व के अनुवाक हैं । उसके पश्चात् प्रस्कण्व आदि के सात-सात सूक्तों के अनुवाक हैं ।

ऋ० १।२४–३० छठा, ऋ०१।३१–३५ सातवां, ऋ०१।३६–४३ आठवां, ऋ०१।४४–५० नवां, ऋ० १।५१–५७ दसवां,ऋ० १।५८–६४ ग्यारहवां,ऋ० १।६५–७३ बारहवां अनुवाक है । यहां अन्तिम अनुवाक नौ सूक्तों का है, सात का नहीं ॥३८॥

गोतम के 'उपप्रयन्तः' (ऋ० १।७४।१) इत्यादि बीस सूक्त समझे जाते हैं । उनके ११ सूक्तों और ९ सूक्तों के दो अनुवाक बनाये गये है ।

ऋ० १।७४–८४ तेरहवां, ऋ० १।८५–९३ चौदहवां अनुवाक है ॥३९॥

ग्यारवां सूक्त इन्द्र देवतावाला है, अतः इन्द्र देवतावाले पूर्व सूक्तों से सङ्गत है । विद्वानों

षष्ठोऽध्यायः

'प्रत्यु अदर्श्यायती [ति' इ]ति, व्याचिख्यासति माधवः ।
कारणं सूक्तभेदस्य मुखतः सम्प्रदर्शयन् ॥१॥
ऋषिच्छन्दोदेवताऽर्थाः सूक्तभेदस्य हेतवः ।
मन्यन्ते बह्वृचाः केचिद् अर्थमेव विभेदकम् ॥२॥
नवमे मण्डले भेदः सूक्तानामृषिभिः कृतः ।
'स्वादिष्ठया मदिष्ठया', चत्वार्याहुर्निदर्शनम् ॥३॥

को इसी प्रकार सब अनुवाकों के विषय में सूक्ष्म दृष्टि रखनी चाहिये ।

तेरहवें अनुवाक में ग्यारह सूक्त हैं । पहले छह सूक्तों (७४–७९) का देवता अग्नि है तथा अन्तिम पांच सूक्तों का इन्द्र देवता है । इसके पश्चात् मरुत् देवता के सूक्त आरम्भ होते हैं, अतः इन्द्र देवता के सूक्त की समाप्ति पर अनुवाक भी समाप्त कर दिया गया ॥४०॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

—:०:—

षष्ठोऽध्यायः

सूक्तों के भेद के कारण को आरम्भ में प्रदर्शित करता हुआ माधव 'प्रत्युं अदर्श्यायुती' (ऋ० ७।८१।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

ऋषि, छन्द, देवता और अर्थ सूक्तभेद के कारण हैं । कुछ ऋग्वेदी अर्थ को ही सूक्तभेद का कारण मानते हैं ।

शौनक भी बृहद्देवता (१।१४) में कहता है—

देवतार्षार्थछन्दस्तो वैविध्यं च प्रजायते ।

अर्थात् देवता, ऋषि, अर्थ एवं छन्द के कारण सूक्तभेद उत्पन्न होता है ॥२॥

नवें मण्डल में सूक्तों का भेद ऋषियों के अनुसार किया गया है । स्वादिष्ठया मदिष्ठया (ऋ० ९।१।१) इत्यादि चार सूक्तों को उदाहरण बताते हैं ॥३॥

गायत्राण्येव चत्वारि सोम एव च देवता ।
मधुच्छन्दः प्रभृतयः चत्वार ऋषयोऽभवन् ॥४॥
छन्दोदेवतयोः साम्ये सन्ति सूक्तानि मण्डले ।
ऋषिभेदेन भिन्नानि पावमानाभिशब्दिते ॥५॥
'इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्', छन्दोभेदेन भिद्यते ।
देवताभेदभिन्नानि, 'वायवा याहि दर्शत' ॥६॥
आत्मदृष्टेषु सूक्तेषु क्वचित् संयोजयन्ति च ।
दृष्टानन्येन ऋषिणा मन्त्रानिह महर्षयः ॥७॥
आङ्गिरसेन घोरेण दृष्टामेकामिमामृचम् ।
'अस्मे प्र यन्धि मघवन्', विश्वामित्रस्तथाऽकरोत् ॥८॥

चारों सूक्तों का छन्द गायत्री है और देवता सोम ही है । मधुच्छन्दा आदि चार ऋषि इन सूक्तों के ऋषि हैं । इस प्रकार छन्द तथा देवता के समान होने पर पावमान नामक मण्डल में ऋषियों के भेद से सूक्त भिन्न हो गये हैं ।

ऋग्वेद नवम मण्डल के प्रथम चार सूक्तों के देवता तथा छन्द समान हैं, परन्तु ऋषि क्रमशः हैं—मधुच्छन्दा वैश्वामित्र, मेधातिथि काण्व, शुनःशेप आजीगर्त्ति, हिरण्यस्तूप आङ्गिरस ॥४-५॥

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन् (ऋ० १।११।१) सूक्त छन्दोभेद के कारण भिन्न है । वायवा याहि दर्शत (ऋ० १।२।१) इत्यादि सूक्त देवताभेद के कारण भिन्न हैं।

ऋ० १।१० तथा ऋ० १।११ दोनों सूक्तों का छन्द अनुष्टुप् तथा देवता इन्द्र है । क्रमशः ऋषि मधुच्छन्दा एवं जेता हैं, अतः यहां ऋषिभेद है न कि छन्दोभेद । ऋ० १।१२ का छन्द गायत्री ऋ० १।११ से भिन्न है, परन्तु देवता अग्नि तथा ऋषि मेधातिथि भी भिन्न हैं । इसलिए माधव प्रदर्शित छन्दोभेद का उदाहरण समीचीन नहीं प्रतीत होता । ऋ० १।१ का देवता अग्नि हैं तथा ऋ० १।२ का देवता वायु है, इन दोनों का छन्द गायत्री एवं ऋषि मधुच्छन्दा है ॥६॥

वेद में कहीं-कहीं महर्षि अपने दृष्ट सूक्तों में अन्य ऋषि के द्वारा दृष्ट मन्त्रों को जोड़ लेते हैं । उदाहरणार्थ—घोर आङ्गिरस के द्वारा दृष्ट अस्मे प्र यन्धि मघवन् (ऋ० ३।३६।१०) इस ऋक् को विश्वामित्र ने अपने सूक्त में जोड़ दिया ।

ऋ० ३।३६ सूक्त में ११ ऋचाएं हैं, जिनमें से सं० १—९ तथा सं० ११ ऋचाएं विश्वामित्रदृष्ट हैं और प्रकृत दसवीं ऋक् घोर आङ्गिरसदृष्ट है ॥७-८॥

अन्त्यं तृचं मण्डलस्य जामदग्न्यं वदन्ति हि ।
'आ नो मित्रावरुणे [णा' इ]ति,सूक्तान्ते च न्यवेदयेत् ॥९॥
सहासनकृतां तत्र सम्प्रीतिं कारणं विदुः ।
आत्ममन्त्रसमाश्चैते मन्त्रान् पश्यन्ति सङ्गताः ॥१०॥
बहवः सन्ति ननु च द्रष्टारो द्वैपदस्य ये ।
बन्धुः सुबन्धुरित्येते सत्यं ते भ्रातरोऽभवन् ॥११॥
द्विपदाश्च समानीताः सूक्तमेकमतोऽभवत् ।
ददृशुः काल एकस्मिन् सर्वे च सह सङ्गताः ॥१२॥
तदेतच्छाट्यायनके विस्पष्टं प्रतिपादितम् ।
यथा दृष्टमिदं सूक्तं तत्तत्रैवावधार्यताम् ॥१३॥
ऋष्यादिभेदः प्रायेण सूक्तभेदस्य कारणम् ।
कारणान्तरमप्यस्ति दृश्यते यत् क्वचित्क्वचित् ॥१४॥

इसी प्रकार मण्डल के अन्तिम तृच आ नो मित्रावरुणा: (ऋ० ३।६२।१६) इत्यादि को जमदग्नि द्वारा दृष्ट बताते हैं, जिसको विश्वामित्र ने स्वदृष्ट सूक्त के अन्त में निवेदन कर दिया ।

ऋ० ३।६२ सूक्त में १८ ऋचाएं हैं, जिनमें से सं० १—१५ ऋचाएं विश्वामित्रदृष्ट हैं और सं० १६—१८ ऋचाएं विकल्प से जमदग्निदृष्ट मानी जाती हैं ॥९॥

इस का कारण साथ-साथ आसनों पर बैठने से उत्पन्न हुई गाढ प्रीति को समझते हैं । ये परस्पर मिले हुए ऋषि अन्यदृष्ट मन्त्रों को स्वदृष्ट मन्त्रों के समान ही मानते हैं ॥१०॥

द्विपदा ऋचाओंवाले सूक्त के जो अनेक द्रष्टा बन्धु सुबन्धु इत्यादि थे, वे वस्तुतः भाई थे । द्विपदाएं इकट्ठी कर दी गईं, अत: एक सूक्त बन गया । सब ने एक साथ मिलकर एक काल में दर्शन किया । यह शाट्यायन ब्राह्मण में स्पष्ट प्रतिपादित है । जिस प्रकार सूक्त का दर्शन हुआ, उसे वहीं देखा जा सकता है ।

ऋ० ५।२४ सूक्त में चार द्विपदा ऋचाएं हैं, सूक्त के द्रष्टा गौपायन या लौपायन गोत्रीय बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु तथा विप्रबन्धु हैं । शाट्यायन ब्राह्मण अनुपलब्ध है । तुलनार्थ जैमिनीय ब्राह्मण (३।१६८—१७०) द्रष्टव्य है ॥११-१३॥

ऋषि आदि का भेद प्रायः सूक्तभेद का कारण है । अन्य कारण भी है, जो कहीं-कहीं देखा जाता है ॥१४॥

कर्मानुरोधादपि च सूक्तानां भेद इष्यते ।
ऋषिच्छन्दोदैवतेषु समानेष्वपि च क्वचित् ॥१५॥
तत्रोदाहरणान्याहुर्नवमे मण्डले बुधाः ।
एकर्षिकाणि सूक्तानि, 'मन्द्रया सोम धारया' ॥१६॥
'सुरूपकृत्नुमूतये', इति सूक्तेषु सप्तसु ।
देवनेन्द्र ऋषिश्चैको भिद्यते केन हेतुना ॥१७॥
छन्दश्च षण्णां गायत्री सप्तमेऽनुष्टुबागता ।
'गायन्ति त्वा गायत्रिणः', कामं तत्तेन भिद्यताम् ॥१८॥
नोपपादयितुं शक्यं मनुष्यैरत्र कारणम् ।
अथापि वासनां कांचित् कथ्यमानामिमां शृणु ॥१९॥
सुरूपकृत्नु-सूक्तेन यज्ञ आगन्तुमिच्छति ।
आगते सति कर्तव्यं, 'आ त्वेते [ता' इ]ति च भाषते ॥२०॥

ऋषि, छन्द तथा देवता के समान होने पर भी कहीं-कहीं अर्थ के अनुरोध से भी सूक्तों का भेद इष्ट है। इस के उदाहरण विद्वान् लोग नवें मण्डल में एक ऋषिदृष्ट सूक्तों को बताते हैं, जैसे —मन्द्रया सोम धारया (ऋ० ९।१।१)।

ऋ०९।६-२४सूक्तों का ऋषि असित,छन्द गायत्री एवं देवता पवमान सोम है ॥१५-१६॥

सुरूपकृत्नुमूतये (ऋ० १।४।१) इत्यादि सात सूक्तों में देवता इन्द्र है और ऋषि भी एक ही है, तो भेद का कारण क्या है ? छह सूक्तों का छन्द गायत्री है, सातवें—गायन्ति त्वा गायत्रिणः (ऋ० १।१०।१) इत्यादि सूक्त में अनुष्टुप् छन्द आ गया है। इसलिए भले ही वह छन्दोभेद के कारण भिन्न हो,परन्तु अन्यों के भेद का कारण क्या है ?

ऋ० १।४–१० सूक्तों का द्रष्टा मधुच्छन्दा है और देवता इन्द्र है ॥१७-१८॥

मनुष्यों के लिए इसके कारण को खोज निकालना सम्भव नहीं है, तो भी आगे व्यक्त की जानेवाली इस कल्पना को सुनिये।

माधव ने विभिन्न सूक्तों में विभिन्न भावों को मानते हुए सूक्तों की भेदसंगति दर्शाई हैं ॥१९॥

सुरूपकृत्नु-सूक्त से यज्ञ में आगमन की इच्छा करता है और आ जाने पर करने योग्य कार्य को आ त्वेता (ऋ० १।५।१) सूक्त से कहता है।

'युञ्जन्ति ब्रध्नम्' इत्यस्मिन्, यथा वै सहकारिभिः ।
यस्मिंश्च काल आयाति तत्सर्वं कथितं विदुः ॥२१॥

'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्', इति सूक्तेन भाषते ।
अनेकाह्वातृसद्भावम्, इन्द्रमाहात्म्यमेव च ॥२२॥

बहवो यद्यपीन्द्र त्वां विह्वयन्त इमे जनाः ।
तान् सर्वानपहाय त्वम्, अस्माकं भव केवलः ॥२३॥

'एन्द्र सानसिम्' इत्यत्र, स्तुतादिन्द्रात् स हीच्छति ।
धनमात्माभिलषितं सञ्जिहीर्षति च स्तुतिम् ॥२४॥

स्तुतमिन्द्रं जिगमिषुम्, ऋषिस्त्यक्तुमशक्नुवन् ।
'इन्द्रेही[हि' इ]ति पुनः स्तौति, याचते च धनं पुनः ॥२५॥

ऋ० १।४ सूक्त में मधुच्छन्दा ऋषि इन्द्र से अपने यज्ञ में आने की प्रार्थना करता है । अगले सूक्त (ऋ० १।५) में यज्ञ में समागत इन्द्र के प्रति स्तुतिगान, सोमाभिषव आदि कर्त्तव्यों का उल्लेख है । अत: पांचवें सूक्त को पृथक् किया गया है ।।२०।।

युञ्जन्ति ब्रध्नम् (ऋ० १।६।१) इस सूक्त में [इन्द्र] जिस प्रकार तथा जिस काल में सहकारियों के साथ जाता है, वह सब कहा गया है, ऐसा समझते हैं ।

ऋ० १।६ सूक्त में घोड़ों से युक्त रथ में बैठकर मरुतों के साथ उषःकाल में इन्द्र के आगमन का वर्णन है ।।२१।।

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहद् (ऋ० १।७।१) इस सूक्त से अनेक आह्वान करनेवालों की उपस्थिति और इन्द्र के माहात्म्य को ऋषि बताता है— हे इन्द्र ! यद्यपि ये बहुत से लोग तुझे बुलाते हैं, तथापि उन सब को छोड़कर तू केवल हमारा होकर रह ।

ऋ० १।७ सूक्त में अनेक लोगों के द्वारा इन्द्र को बुलाने तथा उसके कर्मों का वर्णन करके अन्तिम (ऋ० १।७।१०) ऋक् में तेईसवीं कारिका में उल्लिखित प्रार्थना की गई है ।।२२-२३।।

एन्द्र सानसिम् (ऋ० १।८।१) इस सूक्त में वह (ऋषि) स्तुति किये हुए इन्द्र से अभीष्ट धन की इच्छा करता है और स्तुति को समाप्त करना चाहता है ।।२४।।

स्तुति किए हुए, जाने के इच्छुक इन्द्र को छोड़ने में असमर्थ ऋषि पुन: इन्द्रेहिं (ऋ० १।९।१) सूक्त से स्तुति करता है और पुन: धन की याचना करता है ।।२५।।

उक्तमर्थमिमं सर्वं सप्तमेनानु भाषते ।
आनुष्टुभेन सूक्तेन,'गायन्ति त्वे[त्वा' इ]त्यृषिः पुनः ॥२६॥

कवित्वस्यानुरोधाय तमेवार्थं पुनः क्वचित् ।
अन्यं प्रकारमाश्रित्य पश्यन्ति च महर्षयः ॥२७॥

भेदस्तत्रापि सूक्तानां भवतीति विनिश्चयः ।
'नासत्याभ्यां बर्हिरिव', सूक्तान्याहुर्निदर्शनम् ॥२८॥

स्तौत्यश्विनावृषिस्तेषु सङ्गृह्य च विगृह्य च ।
कक्षीवान् दैर्घतमसः कवित्वं सम्प्रदर्शयन् ॥२९॥

पश्यन्ति तांस्तानुद्दिश्य कामानपि महर्षयः ।
ये ये सूक्तेषु दृश्यन्ते ते च भेदस्य हेतवः ॥३०॥

तथा दर्शनकालस्य भेदश्चैषां विभेदकः ।
स च भेदो ब्राह्मणेषु मन्त्रेष्वपि च दृश्यते ॥३१॥

गायन्ति त्वा (ऋ० १।१०।१) इस अनुष्टुप् छन्दवाले अपने सप्तम सूक्त से एक बार फिर ऋषि (मधुच्छन्दा) पूर्वोक्त सम्पूर्ण अर्थ को बोलता है।

इस प्रकार ऋ० १।४ से इन्द्र-विषय को आरम्भ करके, अर्थभेद के कारण सूक्तों में भेद करते हुए उपसंहार के रूप में मधुच्छन्दा ने अपने दर्शन को ऋ० १।१० सूक्त पर समाप्त कर दिया ॥२६॥

काव्य के अनुरोध से महर्षि कहीं-कहीं उसी अर्थ को अन्य विधा का आश्रय लेकर पुनः देखते हैं। वहां भी सूक्तों का भेद हो जाता है, यह निश्चय है। नासत्याभ्यां बर्हिरिव (ऋ० १। ११६।१) इत्यादि सूक्त उदाहरण हैं। उन सूक्तों में कक्षीवान् दैर्घतमस् ऋषि अपने काव्य को प्रदर्शित करता हुआ संक्षेप एवं विस्तार करके अश्वियों की स्तुति करता है।

ऋ० १।११६–११८ सूक्तों का छन्द त्रिष्टुप् तथा देवता अश्विद्वय है ॥२७-२९॥

महर्षियों ने उन-उन कामनाओं को भी लक्ष्य करके मन्त्रों का दर्शन किया है, जो-जो सूक्तों में दिखाई देती हैं। अतः वे कामनायें भी सूक्तों के भेद में कारण हैं ॥३०॥

इसी प्रकार दर्शनकाल के भेद से भी सूक्तों का भेद हुआ है। वह भेद ब्राह्मणग्रन्थों में तो है ही, मन्त्रों में भी दिखाई देता है ॥३१॥

महावाक्यानुसारेण सैषा सूक्ष्मेक्षिका बुधैः ।
कार्या भिन्नेषु सूक्तेषु शुद्धमर्थमभीप्सुभिः ॥३२॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

—:०:—

सप्तमोऽध्यायः

'तिस्रो वाचो'ऽधुनाध्यायं, व्याचिख्यासति माधवः ।
ऋषौ चार्षे च वक्तव्यं प्रागनुक्तं प्रदर्शयन् ॥१॥
मनुष्यत्वे मन्त्रकृत ऋषयः परिकीर्तिताः ।
आर्षेयवरणं तेषां तथा च ब्राह्मणं शृणु—

शुद्ध अर्थ को प्राप्त करने के इच्छुक विद्वानों को महावाक्य के अनुसार विभिन्न सूक्तों में ऐसी ही सूक्ष्म दृष्टि रखनी चाहिये, जैसी यहाँ दिखाई गई है।

महावाक्य का तात्पर्य है—सम्पूर्ण सूक्त में अनुस्यूत एक भाव। इसी लिए शौनक ने बृहद्देवता (१।१३) में कहा है—

सम्पूर्णम् ऋषिवाक्यं तु सूक्तमित्यभिधीयते ।
दृश्यन्ते देवता यस्मिन्नेकस्मिन् बहुषु द्वयोः ॥

अर्थात् ऋषि के सम्पूर्ण भाव को प्रकट करनेवाले वाक्य को सूक्त कहा जाता है, जिस के एक, दो या बहुत मन्त्रों में देवता हो सकते हैं ॥३२॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

—:०:—

सप्तमोऽध्यायः

ऋषि एवं आर्ष के विषय में पूर्व अध्यायों में न बताये गये तथ्यों को प्रकट करता हुआ माधव अब 'तिस्रो वाचः' (ऋ० ७।१०१।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

मनुष्य होने पर भी मन्त्रद्रष्टाओं को ऋषि कहा गया है। उन्हीं का आर्षेय वरण होता

'न देवैर्न मनुष्यैरार्षेयं वृणीत ऋषिभिरेवार्षेयं
वृणीत' (आप०श्रौ०२४, ५, ३) इति ॥२॥
न मन्त्रदर्शनात्पूर्वम्, ऋषित्वं प्रत्यपद्यत ।
श्यावाश्व इत्यवोचाम पञ्चमे मण्डले वयम् ॥३॥
तेषामृषीणां ज्ञातव्यं गोत्रमित्याह शौनकः ।
देवा देव्योऽप्सरो नद्यो गन्धर्वाश्च स्वयम्भुवः ॥४॥
कार्याण्युद्दिश्य जायन्ते यदि देवादयोऽपि च ।
मानुषेषु कुलेष्वंशैर्गोत्रं ज्ञेयमिति स्थितिः ॥५॥

है। इस सम्बन्ध में ब्राह्मणवचन सुनिये—न देवैर्न मनुष्यैरार्षेयं वृणीत ऋषिभिरेवार्षेयं वृणीत (तु०—आप० श्रौ० २४।५।३) इति। अर्थात् न देवों से न मनुष्यों से आर्षेय वरण करे, ऋषियों से ही आर्षेय वरण करे।

आर्षेय वरण के विषय में इसी अष्टक के प्रथम अध्याय को भी देखें ॥२॥

श्यावाश्व मन्त्रदर्शन से पूर्व ऋषि नहीं बना था, यह हम पांचवें मण्डल में कह चुके हैं।

ऋ० ५।५२—६१ सूक्त श्यावाश्व आत्रेय दृष्ट हैं। ऋ० ५।६१ के भाष्य में माधव ने वृहद्देवता (५।५०-८०) में वर्णित श्यावाश्व की ऋषित्व-प्राप्ति की कथा उद्धृत की है। संक्षेपतः कथा है—'राजा रथवीति ने यज्ञ के लिए अर्चनानस् आत्रेय का वरण किया। अर्चनानस् अपने पुत्र श्यावाश्व को, जो साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ चुका था, साथ ले गया। यज्ञकाल में श्यावाश्व राजपुत्री की ओर आकृष्ट हुआ और अर्चनानस् के मन में भी राजपुत्री को अपनी पुत्रवधू बनाने की इच्छा हुई। राजकन्या के साथ श्यावाश्व के विवाह का प्रस्ताव राजा-रानी के सामने रखा गया। रानी ने श्यावाश्व के मन्त्रद्रष्टा न होने के कारण प्रस्ताव को ठुकरा दिया। श्यावाश्व के चित्त को इस घटना से बड़ी ठेस लगी। एक दिन वह उस घटना से मन ही मन दुःखी होकर विचारों में खोया हुआ था। उसके सामने सहसा मरुद्गण उपस्थित हो गये। श्यावाश्व ने हड़बड़ाकर 'के ष्ठा' (ऋ० ५।६१।१) प्रश्न किया, परन्तु बाद में भूल का पता लगने पर 'य ईं वहन्त' (ऋ० ५।६१।११) इत्यादि मन्त्रों से मरुद्गण की स्तुति की। मरुतों की कृपा से ऋषित्व प्राप्त होने पर श्यावाश्व ने रात्रि के माध्यम से रथवीति के पास अपनी नवीन उपलब्धि का सन्देश भेजा और राजा ने क्षमा-याचना करते हुए अपनी कन्या का हाथ श्यावाश्व को थमा दिया ॥३॥

शौनक ने कहा है कि उन ऋषियों के गोत्र को जानना चाहिए। देव, देवियां, अप्सरायें, नदियां, गन्धर्व एवं स्वयंभू—ये देव आदि भी यदि कार्यों को लक्ष्य करके मनुष्यों के कुलों में अंशतः जन्म लेते हैं, तो इन का वही गोत्र जानना चाहिये, यह सिद्धान्त है।

विपाट्छुतुद्र्योरिन्द्रस्य मरुतामदितेस्तथा ।
नोवाच शौनको गोत्रं इति तत्र निदर्शनम् ॥६॥

इच्छन्निन्द्रसमं पुत्रं अभ्यध्यादङ्गिरा ऋषिः ।
अभूदिन्द्रः स्वयं तस्य तनयः सव्यनामकः ॥७॥

इच्छन्निन्द्रसमं पुत्रं चचार कुशिकः पुरा ।
ऐषीरथिब्र ह्मचर्यं गाधिनोऽस्य सुतोऽभवत् ॥८॥

कुञ्जन्राज का कथन है कि चतुर्थ कारिका में सम्भवतः शौनकीय आर्षानुक्रमणी अभिप्रेत है और गन्धर्व एवं स्वयंभू के ऋषित्व के विषय में सर्वानुक्रमणी पर उव्वट-व्याख्या द्रष्टव्य है। शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्र में कहा है—प्रजापतेरार्षं देवानामग्नेर्गन्धर्वाणां वा (१।१०); सर्वमेधं ब्रह्म स्वयंस्वेक्षत (३।१५)। अर्थात् प्रजापति, देव, अग्नि, गन्धर्व, स्वयंभू ऋषि द्रष्टा हैं ॥४-५॥

विपाट्, शुतुद्री, इन्द्र, मरुद्गण और अदिति के गोत्र को शौनक ने नहीं बताया। ये ही उसके उदाहरण हैं।

इसी अष्टक के द्वितीय अध्याय की नवीं कारिका में इन्द्र तथा मरुतों के गोत्र को स्वीकार किया गया है। अतः कुञ्जन्राज ने 'नोवाच' के स्थान में 'प्रोवाच' पाठ का सुझाव दिया है ॥६॥

इन्द्र के समान पुत्र की इच्छा करते हुए अङ्गिरा ऋषि ने ध्यान किया, स्वयं इन्द्र उस का सव्य नामक पुत्र हुआ।

सर्वानुक्रमणी में कहा गया है—'अङ्गिरा इन्द्रतुल्यं पुत्रमिच्छन्नभ्यध्यायत् सव्य इतीन्द्र एवास्य पुत्रोऽजायत'। इसी प्रकार बृहद्देवता (३।११५) में शौनक का कथन है—

स्वयमिन्द्रसमं पुत्रमिच्छतोऽङ्गिरसो मुनेः ।
वज्रयेव सव्यो भूत्वर्षेर्योगित्वात् पुत्रतां गतः ॥

ऋ० १।५१–५७ सूक्त सव्य आङ्गिरस दृष्ट हैं ॥७॥

इन्द्र के समान पुत्र की इच्छा करते हुए इषीरथ के पुत्र कुशिक ने प्राचीन काल में ब्रह्मचर्य का पालन किया। उसका पुत्र गाथी हुआ।

सर्वानुक्रमणी में कहा गया है—'कुशिकस्त्वैषीरथिरिन्द्रतुल्यं पुत्रमिच्छन् ब्रह्मचर्यं चचार, तस्येन्द्र एव गाथी पुत्रो जज्ञे'। षड्गुरुशिष्य ने भी वेदार्थदीपिका (तृतीय मण्डल) में यह इतिहास दर्शाया है ॥८॥

ज्ञातव्यमनयोर्गोत्रं विद्यमानमिति स्थितिः ।
नामार्षयोस्तु विज्ञानं कार्यं सर्वत्र पण्डितैः ॥६॥
ऋषिः शाक्त्यो गौरिवीतिरत्रीणां मण्डले कथम् ।
आजगाम परित्यज्य वसिष्ठं मण्डलं स्वकम् ॥१०॥
'समिद्धो अग्निर्दिवी [वि' इ]ति, विश्ववाराषमुच्यते ।
तस्याः पतिर्गौरिवीतिरपश्यत् सूक्तमुत्तरम् ॥११॥
'सञ्जास्पत्यम्' इति ब्रूते, विश्ववारा ततो वयम् ।
मन्यामहे पतिं तस्या गौरिवीतिमिहागतम् ॥१२॥

इन दोनों (सव्य तथा गाथी) के विद्यमान गोत्र को जानना चाहिए, यही वास्तविक स्थिति है। विद्वानों को सर्वत्र ऋषिनाम एवं गोत्र का विशिष्ट ज्ञान करना चाहिये ॥६॥

शक्ति का पौत्र गौरवीति ऋषि अपने वासिष्ठ (सप्तम) मण्डल को छोड़कर आत्रेय (पञ्चम) मण्डल में कैसे आगया ?

ऋग्वेद का पांचवां मण्डल अत्रिकुल और सातवां मण्डल वसिष्ठकुल से सम्बद्ध है, जैसा कि सर्वानुक्रमणी में कहा गया है—'पञ्चमे मण्डलेऽनुक्तगोत्रमात्रेयं विद्यात्' । 'सप्तमं मण्डलं वसिष्ठोऽपश्यत्' । वसिष्ठ का पुत्र शक्ति और शक्ति का पौत्र (द्र०—इसी अष्टक के द्वितीय अध्याय की तृतीय कारिका) गौरिवीति था, अतः गौरिवीतिदृष्ट सूक्त (ऋ० ५।२६) सप्तम मण्डल में होना चाहिये, यह शङ्का है ॥१०॥

समिद्धो अग्निर्दिवि (ऋ० ५।२८।१) यह सूक्त विश्ववारादृष्ट बताया जाता है। उसके पति गौरिवीति ने अग्रिम (ऋ० ५।२६) सूक्त का दर्शन किया। विश्ववारा ने सं जास्पत्यम् (ऋ० ५।२८।३) इत्यादि कहा है। इसलिए हम उसके पति गौरिवीति को इस मण्डल में आया हुआ मानते हैं।

वेङ्कट माधव ने कल्पना की है कि अत्रिकुल में उत्पन्न विश्ववारा ऋषिका का पति होने के नाते वसिष्ठकुल में उत्पन्न गौरवीति को अत्रिमण्डल में विश्ववारा के तत्काल बाद स्थान प्राप्त हुआ। इसका संङ्केत, माधव के अनुसार, स्वयं विश्ववारा ने स्वदृष्ट सूक्त (ऋ० ५।२८) में—सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व (ऋ० ५।२८।३) अर्थात् हे अग्नि ! दम्पती को सुसगत कर— इस वचन से किया है। परन्तु इस कल्पना का कोई संकेत सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता तथा ब्राह्मणो में उपलब्ध नहीं होता ॥११-१२॥

मध्येऽत्रीणामाङ्गिरसो धरुणो नाम कश्चन ।
सूक्तं 'प्र वेधसे' इति, प्रसङ्गाद् दृष्टवानृषिः ॥१३॥
तेनाभिषज्यत् सूक्तेन धरुणोऽत्रिमृषिं पुरा ।
तथैव तत्रात्रिम् 'अस्पर', इति सूक्तान्ततः श्रुतम् ॥१४॥
वर्तमाना मातृकुले तत्रन्यैर्ऋषिभिः सह ।
तादृशान् ददृशुर्मन्त्रान् इति केचिदवस्थिताः ॥१५॥
समानोदकसामान्याच्छ्यावाश्वः कण्वमण्डले ।
'अग्निनेन्द्रेण' सूक्तानि, ददर्श पुनरागतः ॥१६॥

अत्रिकुलदृष्ट सूक्तों के बीच धरुण आङ्गिरस नामक किसी ऋषि के द्वारा दृष्ट प्र वे_धसे (ऋ० ५।१५।१) सूक्त प्रसङ्ग से आ गया है । प्राचीन काल में धरुण ने इस सूक्त से अत्रि ऋषि की चिकित्सा की थी , ऐसा ही उस सूक्त के अन्त में श्रु_त अत्रिंमस्पः (ऋ० ५।१५।५) से प्रकट होता है ।

यहां भी माधव ने चिकित्सा के माध्यम से अत्रि तथा धरुण के सम्बन्ध की कल्पना की है, अन्यत्र यह सम्बन्ध प्रतिपादित नहीं है । ऋ०५।१५।५ के भाष्य में भी माधव ने कहा है कि अग्नि ने असुरों के द्वारा घायल अत्रि ऋषि को दुःख से मुक्त किया । सायण ने भी 'तमापद्भ्योऽपारयः' (अत्रि ऋषि को विपत्तियों से पार किया) लिखकर माधवकृत अर्थ को मान लिया है ॥१३-१४॥

कुछ विद्वानों का मत है कि माता के कुल में रहते हुए इन ऋषियों ने वहां के ऋषियों के साथ उन मन्त्रों का दर्शन किया ।

इन विद्वानों की कल्पना है कि गौरिवीति, धरुण आदि ने अपनी ननिहाल (अत्रिकुल) में निवास करते हुए इन सूक्तों का दर्शन किया । अतः उसी कुल के अन्तर्गत इन सूक्तों को संगृहीत किया गया ॥१५॥

समानोदक सम्बन्ध के कारण श्यावाश्व पुनः कण्वमण्डल में आ गया । और अग्निनेन्द्रेण (ऋ० ८।३५।१) इत्यादि सूक्तों का दर्शन किया ।

श्यावाश्व आत्रेय अत्रिमण्डल (पञ्चम) में बारह सूक्तों (५२–६१,८१,८२) का द्रष्टा है । कण्वमण्डल (अष्टम) में भी उसके द्वारा दृष्ट चार सूक्त (३५–३८) संगृहीत हैं । इस का कारण, माधव के मत में, श्यावाश्व का कण्व के साथ समानोदक सम्बन्ध है । याज्ञवल्क्य स्मृति व्यवहाराध्याय श्लोक १३६ की मिताक्षरा व्याख्या में समानोदक सम्बन्ध को बृहन्मनु के शब्दों में बताया गया है—

ऊह्यानि कारणान्येवं मण्डलान्तरसङ्क्रमे ।
अन्येषामपि दृष्टानामिति वृद्धेभ्य आगमः ॥१७॥
ऋषयो बह्वृचैरित्थं स्मर्यन्ते सामगैरपि ।
स्मरन्त्यध्वर्यवः नैवं तत्र किं कारणं भवेत् ॥१८॥
प्रजापतिश्च सोमश्च तृतीयोऽग्निस्तथैव च ।
विश्वेदेवाः स्वयम्भूश्च तेषां काण्डर्षयो मताः ॥१९॥
यजूंष्यृचश्च बहुभिः दृष्टा ह्य तैर्महर्षिभिः ।
काण्डान्यकुर्वन्नृषयः स्मर्यन्तेऽध्वर्युभिश्च ते ॥२०॥

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ।
समानोदकभावस्तु निवर्तताचतुर्दशात् ॥
जन्मनाम्नोः स्मृतेरेके तत्परं गोत्रमुच्यते ।

अर्थात् सातवें पुरुष (पीढ़ी) पर सपिण्डता समाप्त होती है। समानोदकता चौदहवें पुरुष (पीढ़ी) तक निवृत्त होती है। किन्हीं के मत में जन्म तथा नाम के स्मरण तक चलती है। उसके पश्चात् गोत्र कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि श्यावाश्व की पिछली चौदह पीढ़ियों में कण्व था। यह माधव की कल्पनामात्र ही प्रतीत होती है? ॥१६॥

इसी प्रकार मण्डलों के मध्य अन्य ऋषियों के द्वारा दृष्ट सूक्तों के आ जाने पर कारणों को खोज लेना चाहिये, यही वृद्ध-परम्परा है ॥१७॥

ऋग्वेदियों के द्वारा इस प्रकार ऋषियों का स्मरण किया जाता है। सामवेदियों के द्वारा भी ऋषि स्मृत हैं। परन्तु यजुर्वेदी विद्वान् इस प्रकार ऋषियों का स्मरण नहीं करते। इसका क्या कारण हो सकता है? ॥१८॥

प्रजापति, सोम, अग्नि, विश्वेदेवाः और स्वयंभू—ये यजुर्वेदियों के काण्ड-ऋषि माने गये हैं।

कृष्णयजुःकाण्डानुक्रमणी (तै० सं०, भट्टभास्करभाष्य प्रथमभाग के अन्त में परिशिष्ट के रूप में मैसूर से मुद्रित) में तैत्तिरीयशाखा के ४४ काण्डों एवं काठक शाखा के आठ काण्डों के ऋषि—प्रजापति, सोम, अग्नि, विश्वेदेव, सौपनिषद (तत्तत् उपनिषद् ऋषि), हव्यवाट्, अरुण, विश्वेदेव, स्वयम्भू दिये गये हैं। तैत्तिरीयसंहिता के भाष्य में भट्टभास्कर ने प्रारम्भ में इन ऋषियों का उल्लेख किया है ॥१९॥

इन अनेक ऋषियों ने यजुओं तथा ऋचाओं का दर्शन किया। ऋषियों ने काण्डों की रचना की, ऐसा यजुर्वेदी स्मरण करते हैं ॥२०॥

पठन्त्यवान्तरानादौ ब्राह्मणानां कठाः पुनः ।
ऋषीन् व्याख्यानभूतानाम्, अनेकान् यजुषामपि ॥२१॥
काण्डर्षिस्मरणादेव भवत्यभ्युदयस्ततः ।
स्मरन्त्यवान्तरान्नैत इति वृद्धेभ्य आगमः ॥२२॥
ब्राह्मणान्नामधेयाच्च शाखास्वन्यास्वपि द्विजाः ।
तानेवर्षीन् विजानन्ति य ऋग्वेदे व्यवस्थिताः ॥२३॥

कठ शाखा के अध्येता व्याख्यानभूत ब्राह्मणों के अनेक अवान्तर ऋषियों को भी यजुमंन्त्रों से पूर्व पढ़ते हैं ॥२१॥

काण्ड-ऋषियों के स्मरण से हो अभ्युदय हो जाता है, अतः ये (तैत्तिरीय आदि) अवान्तर ऋषियों को स्मरण नहीं करते । यह वृद्ध आचार्यों का मत है ।

अभ्युदय के सम्बन्ध में कृष्णयजुःकाण्डानुक्रमणी (३।३४) में कहा गया है—

एतान् ऋषीन् यजुर्वेदे यः पठेत् स वेदवित् ।
ऋषीणामेति सालोक्यं स्वयंभोश्चैति सात्मताम् ॥

अर्थात् यजुर्वेद में ऋषिपाठ करनेवाला व्यक्ति वेद का ज्ञाता, ऋषियों के समान दूरदर्शी तथा स्वयंभू के समान आनन्दी हो जाता है ॥२२॥

ब्राह्मणग्रन्थ से और मन्त्र में उल्लिखित नाम से अन्य शाखाओं में भी वैदिक विद्वान् उन्हीं को ऋषि जानते हैं, जो ऋग्वेद में नियत कर दिये गये हैं ।

शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेय चरण की माध्यन्दिन शाखा के भाष्यकार उव्वट, महीधर और दयानन्द ने अपने भाष्यों में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का निर्देश किया है । उव्वट ने गुरु (परम्परा), तर्क एवं शतपथ ब्राह्मण के आधार पर ऋषियों का उल्लेख किया है । भाष्य के आरम्भ में उव्वट का कथन है—

गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः ।
ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवतां छान्दसं च यत् ॥

अर्थात् मैं गुरु, तर्क तथा शतपथ के आधार पर मन्त्रों के ऋषि-देवताच्छन्दों को बताऊंगा । उव्वट के इस कथन से प्रतीत होता है कि सम्भवतः उसके सामने वर्तमानकाल में उपलभ्यमान कात्यायन प्रोक्त (?) सर्वानुक्रमसूत्र नहीं था । दोनों के ऋषि निर्देश प्रायः समान हैं और कहीं-कहीं वाक्यसाम्य भी है । जैसे—'अग्निर्वर्चो द्वे तक्षापश्यत् परां जीवलश्चैलकिः' (शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्र १।११) । तर्क से ऋषिज्ञान का अभिप्राय सम्भवतः वही है, जिसकी ओर माधव ने प्रकृत

साम्नां रथन्तरादीनां भिन्नैवात्यन्तमाकृतिः।
ताण्डके शाट्यायनके भिद्यन्त ऋषयो न तु ॥२४॥

कारिका में 'नामधेय' शब्द से सङ्केत किया है। महीधर ने शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्र के अनुसार ऋषियों का उल्लेख किया है।

कात्यायनप्रोक्त शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्र में कर्मकाण्ड के अनुसार ऋषि बताये गये हैं, जैसे दर्शपूर्णमास (अ० १,२) मन्त्रों का ऋषि परमेष्ठी प्राजापत्य, अग्निष्टोम (अ० ४–अ० ८) मन्त्रों का ऋषि प्रजापति। इन सामान्य ऋषियों के साथ अवान्तर ऋषियों का उल्लेख भी है। सर्वत्र ऋचाओं के पृथक् ऋषि उल्लिखित हैं, जो प्रायः ऋग्वेद के समान हैं, जैसे—मा. सं० १।२८ (त्रिष्टुप्) का ऋषि अघशंस। कण्डिकाओं के अन्तर्गत यजुर्मन्त्रों के ऋषियों का भी पृथक् उल्लेख मिलता है, जैसे—मा० सं० ३.६ के ऋषि प्रजापति, तक्षा, जीवलश्चैलकि। ऋग्वेद के समान यहां भी वैकल्पिक ऋषि हैं, जैसे—मा० सं० ३.१ में प्रजापति, देव, अग्नि, गन्धर्व, विरूप आङ्गिरस।

स्वामी दयानन्द ने यद्यपि प्रधानतः शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्र (अनन्त व्याख्या ?) के आधार पर ऋषियों का उल्लेख किया है, तथापि अनेक स्थलों पर भिन्न ऋषियों को भी स्वीकार किया है। कहा नहीं जा सकता कि इन ऋषियों का ज्ञान उन्हें गुरुतः (परम्परा) से प्राप्त हुआ या अपने 'तर्क' से? उदाहरणार्थ, मा० सं० २।२१–३४ वामदेव, मा० सं० ३।२०,२१ याज्ञवल्क्य। सर्वानुक्रम के अनुसार औत्सर्गिक ऋषि का निर्देश कण्डिकाओं में नहीं है। ऐसे स्थलों में दयानन्दीय भाष्य में विगत कण्डिका के ऋषि की अनुवृत्ति अग्रिम कण्डिकाओं में भी की गई है, जैसे—सर्वानुक्रमानुसार मा० सं० ३।१६ का ऋषि अवत्सार है तथा मा० सं० ३।१७–१९ के औत्सर्गिक ऋषि देव हैं, परन्तु दयानन्दीय भाष्य में मा० ३।१६–१९ अवत्सार ऋषि लिखा गया है। सर्वानुक्रमानुसार मा० सं० ३।२५, २६ की चार द्विपदाओं के बन्धु आदि चार ऋषि हैं, परन्तु दयानन्दीय भाष्य में मा० सं० ३।२५–२८ चार कण्डिकाओं के बन्धु आदि चार ऋषि उल्लिखित हैं ॥२३॥

रथन्तर आदि सामों की आकृति ऋचाओं से भिन्न ही है, परन्तु ताण्ड्य तथा शाट्यायन में ऋषि भिन्न नहीं हैं।

रथन्तर आदि साम ऋचाओं पर गाये जाते हैं और उनका स्वरूप ऋचाओं से भिन्न होता है। परन्तु सामवेद के ताण्ड्य ब्राह्मण तथा शाट्यायन ब्राह्मण में कहे गये ऋषियों में भेद नहीं है। शाट्यायन सम्प्रति उपलब्ध नहीं है ॥२४॥

भरद्वाजोऽकामयत वसिष्ठोऽकामयतेति ।
उभयत्रार्थवादानां पश्यामो ह्येकरूपताम् ॥

अध्वर्यूणां ब्राह्मणानि—

'कृणुष्व पाजः' इत्यत्र वामदेवस्यर्चौ याज्यानुवाक्या भवन्तीत्युक्तम् । 'दिवस्परि प्रथमम्' इत्यत्रैतेन वै वत्सप्रीर्भालन्दन इत्युक्तम् । 'अयं सो अग्निः' इति विश्वामित्रस्य सूक्तं भवन्तीत्युक्तम् । ऋषेर्ऋषेर्वा एता निर्मिता यत् सामिधेन्य इत्युक्तम् ॥२५॥

एवमैक्ये रूपभेदः पाठभेदश्च किंकृतः ।
साम्नामृचां च विविधः कथयन्त्यत्र वैदिकाः ॥२६॥

भूयोभूयस्तपस्तप्त्वा वेदान्नानाविधानिति ।
ऋषयो ददृशुः पूर्वे तंतमर्थमभीप्सवः ॥२७॥

दोनों (ताण्ड्य एवं शाट्यायन) में 'भरद्वाजोऽकामयत', 'वसिष्ठोऽकामयत' इत्यादि ऋषि-निर्देशों में हम अर्थवादों की समानरूपता को देखते हैं।

यजुर्वेद के ब्राह्मण—

'कृणुष्व पाजः' (ऋ० ४।४।१) इत्यादि में वामदेव की ऋचाएं याज्या-अनुवाक्या होती है, यह कहा गया। 'दिवस्परि प्रथमम्'(ऋ० १०।४५।१) इत्यादि में इसके द्वारा वत्सप्री भालन्दन ऐसा कहा गया। 'अयं सो अग्निः' (ऋ० ३।२२।१) इत्यादि ऋचाएं विश्वामित्र का सूक्त है, यह कहा गया। ऋषि-ऋषि से ये निर्मित्त हैं, जो सामिधेनी कही जाती है, ऐसा कहा गया।

ये वचन यजुर्वेद के किस ब्राह्मण से उद्धृत किये गये हैं, यह ज्ञात नहीं हो सका। यह पाठ तेईसवीं कारिका के पश्चात् होना चाहिये? सर्वानुक्रमणी के अनुसार 'अयं सो अग्निः' (ऋ० ३।२२।१) यह सूक्त गाथी कौशिक (विश्वामित्र के पिता) दृष्ट है और शुक्लयजुःसर्वानुक्रम के अनुसार ये (मा० सं० १२।४७–५१) विश्वामित्रदृष्ट हैं ॥२५॥

इस प्रकार समानता होने पर भी सामों और ऋचाओं के रूपभेद एवं विविध पाठ का क्या कारण है? इस विषय में वैदिक विद्वान् कहते हैं ॥२६॥

उन-उन अर्थों को प्राप्त करने के इच्छुक पूर्व ऋषियों ने पुनः-पुनः तप करके नाना प्रकार के वेदों का दर्शन किया था ॥२७॥

यजुःष्वृक्षु च वैरूप्ये रूपस्वरकृते बुधाः ।
अर्थद्वैरूप्यमपि च कारणं प्रतिजानते ॥२८॥
ऋग् 'विश्वो देवस्य नेतुः' भवेत्तत्र निदर्शनम् ।
'विश्वे' बहुवचनान्तं पठन्त्यध्वर्यवः पदम् ॥२९॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

—:०:—

अष्टमोऽध्यायः

'दूरादिहेव यत्सती', व्याचिख्यासति माधवः ।
पितृपुत्रसमावेशे वक्तव्यं सम्प्रदर्शयन् ॥१॥
कण्वस्य पुत्रः प्रस्कण्वः, 'प्रवो यह्वम्' पितुः स्मृतम् ।
आर्षम् 'अग्ने विवस्वत्' च, पुत्रस्य तदनन्तरम् ॥२॥

---

२८ विद्वान् लोग यजुर्वेद तथा ऋग्वेद में पठित मन्त्रों में रूपभेद एवं स्वरभेद का कारण दो प्रकार के अर्थ को भी मानते हैं ॥२८॥

२९ विश्वो देवस्य नेतुः (ऋ० ५।५०।१) ऋक् रूपभेद का उदाहरण है। यजुर्वेदी 'विश्वे' बहुवचनान्त पद का पाठ करते हैं।

तैत्तिरीय संहिता (१।२।२।१) में प्रस्तुत ऋक् के पाठ में 'विश्वे' बहुवचनान्त पद मिलता है और ऋक् के अन्त में 'स्वाहर्कसामयोः०' इत्यादि यजुःपाठ है। परन्तु माध्यन्दिन संहिता (४।८) तथा मैत्रायणी संहिता (१।२।२) में 'विश्वः' एकवचनान्त पद ही मिलता है ॥२९॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

—:०:—

अष्टमोऽध्यायः

पिता-पुत्र द्वारा दृष्ट सूक्तों के समावेश के विषय में वक्तव्य को प्रकाशित करता हुआ माधव 'दूरादिहेव यत्सती' (ऋ० ८।५।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

कण्व का पुत्र प्रस्कण्व है। प्र वो यह्वम् (ऋ० १।३३।१) इत्यादि सूक्त पिता के

मधुच्छन्दाः पिता पुत्रम् आहुस्तस्य धनञ्जयम् ।
'अग्निमीळे' मधुच्छन्दाः, 'इन्द्रं विश्वाः' धनञ्जयः ॥३॥

विश्वामित्रः पिता पुत्र ऋषभस्तस्य कीर्तितः ।
पितुः 'सोमस्य' इत्यार्षम, ऋषभस्य 'प्र वः' स्मृतम् ॥४॥

अर्चनानाः पिता पुत्रः श्यावाश्वस्तस्य कीर्तितः ।
'ऋतस्य गोपावधि तिष्ठथः', पितुरार्षं विदुः ॥५॥

'प्र श्यावाश्व' पितुः पूर्वं पुत्रः श्यावाश्व आगतः ।
पितृपुत्रविपर्यासे किन्नु स्यादत्र कारणम् ॥६॥

द्वारा दृष्ट हैं। उसके पश्चात् पुत्र द्वारा दृष्ट अग्ने विवस्वत् (ऋ० १।४४।१) इत्यादि सूक्त पठित हैं।

ऋ० १।३६–४३ सूक्तों का दृष्टा कण्व घोर है और ऋ० १।४४–५० सूक्तों का द्रष्टा प्रस्कण्व काण्व है ॥२॥

मधुच्छन्दा पिता है और धनञ्जय को उसका पुत्र बताते हैं। अग्निमीळे (ऋ० १।१।१) इत्यादि सूक्तों का द्रष्टा मधुच्छन्दा है तथा इन्द्रं विश्वाः (ऋ० १।११।१) का द्रष्टा धनञ्जय है।

वेद तथा सर्वानुक्रमणी में 'जेता' पद प्रयुक्त हुआ है, धनञ्जय नहीं। छन्दोऽनुरोध से पर्याय शब्दों के प्रयोग की परम्परा भारत में रही है। अतः माधव ने जेता के स्थान में धनञ्जय का प्रयोग कर दिया। ऋ० १।१–१० सूक्तों का द्रष्टा मधुच्छन्दा वैश्वामित्र है। ऋ० १।११ सूक्त जेता माधुच्छन्दस का आर्ष है ॥३॥

विश्वामित्र पिता है और उसका पुत्र ऋषभ कहा जाता है। सोमस्य (ऋ० ३।१।१) इत्यादि पिता का आर्ष है। प्र वः (ऋ० ३।१३।१) इत्यादि पुत्र का आर्ष स्मरण किया जाता है।

ऋ० ३।१–१२ सूक्तों का द्रष्टा विश्वामित्र गाथिन है और ऋ० ३।१३,१४ सूक्तों का द्रष्टा ऋषभ वैश्वामित्र है ॥४॥

अर्चनानस् पिता है। और श्यावाश्व उसका पुत्र कहा गया है। ऋतस्य गोपावधि तिष्ठथः (ऋ० ५।६३।१) इत्यादि पिता का आर्ष है। प्र श्यावाश्व (ऋ० ५।५२।१) इत्यादि सूक्तों का द्रष्टा पुत्र श्यावाश्व पिता से पूर्व आ गया है। इस पिता-पुत्र के उलट-फेर का क्या कारण हो सकता है? ॥५-६॥

बहूनि पश्यन् सूक्तानि श्यावाश्वः पूर्वमागतः।
अर्चनानाः पिता पश्चाद् इति वृद्धेभ्य आगमः ॥७॥
विश्वामित्रपिता गाधिः स विश्वामित्रमण्डले।
पश्चात् पुत्राद् आजगाम स चासीदपिरल्पदृक् ॥८॥
कतस्य पुत्र उत्कीलस्तस्य सूक्ते 'वि पाजसा'।
पितुश्च सूक्ते द्वे एव, 'समिध्यमानः' 'भवा नः' ॥९॥
ऋचस्त्रयोदशाऽपश्यत् सूनुर्दश पिता ततः।
अनाश्रित्य सूक्तसाम्यं पिता पश्चात् समागतः॥१०॥

अधिक सूक्तों का द्रष्टा होने के कारण श्यावाश्व पूर्व आ गया है और न्यून सूक्तों का द्रष्टा पिता अर्चनानस् पश्चात् आया है, यह वृद्धों से प्राप्त आगम है।

श्यावाश्व ने ऋ० ५।५२-६१ दस सूक्तों का दर्शन किया, जबकि अर्चनानस् ने ऋ० ५।६३, ६४ केवल दो सूक्तों का दर्शन किया था ॥७॥

गाधि (=गाथी) विश्वामित्र का पिता था । वह विश्वामित्र के मण्डल में पुत्र के पश्चात् आया है, क्योंकि वह ऋषि अल्प सूक्तों द्रष्टा था।

ऋग्वेद के तृतीय मण्डल में सं० १—१२, २४—५३, ५७—६२ सूक्त विश्वामित्र गाथिन के आर्ष हैं, और सं० १९—२२ केवल चार सूक्त गाथी कौशिक द्वारा दृष्ट हैं ॥८॥

कत का पुत्र उत्कील है । वि पाजसा (ऋ० ३।१५।१) इत्यादि दो सूक्त उस के द्वारा दृष्ट हैं और पिता के द्वारा दृष्ट समिध्यमानः (ऋ० ३।१७।१), भवा नः (ऋ० ३।१८।१) ये दो ही सूक्त हैं।

ऋ० ३।१५,१६ ये दो सूक्त उत्कील कात्यदृष्ट हैं और कत वैश्वामित्रदृष्ट भी ऋ० ३।१७,१८ ये दो ही सूक्त हैं। तब पिता के सूक्त पीछे क्यों रखे गये ? ॥९॥

पुत्र (=उत्कील) ने तेरह ऋचाओं का दर्शन किया था, जब कि पिता (=कत) ने दस ऋचाओं का दर्शन किया। इसलिये सूक्तों की समानता का आश्रय न करके ऋक्संख्या के आधार पर पिता पश्चात् आया है।

यहां सूक्तसंख्या एवं ऋक्संख्या के आधार पर पौर्वापर्य-क्रम का निर्धारण किया गया है। माधव ने इस पर प्रकाश नहीं डाला कि पौत्र (=कत) तथा प्रपौत्र (=उत्कील) से भी परे अधिक सूक्तों एवं ऋचाओं के द्रष्टा गाथी को क्यों रखा गया ? सम्भव है, गाथी के सूक्तों में अग्नि के अतिरिक्त विश्वेदेवों के भी आजाने के कारण उसे बाद में स्थान मिला हो ॥१०॥

सुहोत्रश्शुनहोत्रश्च भारद्वाजा नरस्तथा ।
समागता यथाज्येष्ठं भरद्वाजस्य मण्डले ॥११॥
'अभूरेको रयिपते', षट् सूक्तानि यथाक्रमम् ।
अपश्यन्नृषयो द्वे-द्वे सन्त्यन्यत्र च तादृशाः ॥१२॥
भ्रातॄणामपरो मध्य ऋषिः कश्चिन्न दृश्यते ।
त्रिशोकनाभाकमध्ये विरूपः कथमागतः ॥१३॥
'अग्निमस्तोष्यृग्मियम्', नाभाकार्षं विदुर्बुधाः ।
एवमादीनि सूक्तानि विरूपस्तत आगतः ॥१४॥
'इमे विप्रस्य मेधसः', तद्विरूपार्षमुच्यते ।
'आ घा ये अग्निमिन्धते', त्रैशोकं सूक्तमुच्यते ॥१५॥
नाभाकश्च त्रिशोकश्च भ्रातराविति कोऽब्रवीत् ।
शाटयायने श्रूयते हि त्रैशोकब्राह्मणे तथा ॥

भरद्वाज के मण्डल (षष्ठ) में भरद्वाज के पुत्र सुहोत्र, शुनहोत्र तथा नर ज्येष्ठता के क्रम से आये हैं।

ऋ० ६।३१,३२ सूक्तों का द्रष्टा ज्येष्ठ भ्राता सुहोत्र, ऋ० ६।३३,३४ सूक्तों का द्रष्टा मध्यम भ्राता शुनहोत्र और ऋ० ६।३५,३६ सूक्तों का द्रष्टा कनिष्ठ भ्राता नर है ॥११॥

अभूरेको रयिपते (ऋ० ६।३१।१) इत्यादि छह सूक्तों में से क्रम से दो-दो सूक्तों का दर्शन ऋषियों (सुहोत्र, शुनहोत्र, नर) ने किया। अन्य स्थलों में भी ऐसे उदाहरण विद्यमान हैं ॥१२॥

भ्राताओं के मध्य में अन्य कोई ऋषि नहीं देखा जाता, तब नाभाक और त्रिशोक के बीच में विरूप कैसे आ गया? अग्निमस्तोष्यृग्मियम् (ऋ० ८।३९।१) इत्यादि सूक्तों को विद्वान् लोग नाभाक का आर्ष मानते हैं। उसके बाद विरूप आ गया है। इमे विप्रस्य वेधसः (ऋ० ८।४३।१) इत्यादि सूक्त विरूप का आर्ष कहे जाते हैं। आ घा ये अग्निमिन्धते (ऋ० ८।४५।१) यह त्रिशोक दृष्ट सूक्त कहा जाता है।

ऋ० ८।३९–४२ सूक्तों का द्रष्टा नाभाक काण्व, ऋ० ८।४३,४३ सूक्तों का द्रष्टा विरूप आङ्गिरस और ऋ० ८।४५ सूक्त का द्रष्टा त्रिशोक काण्व है ॥१३-१५॥

नाभाक और त्रिशोक भाई थे, ऐसा किसने कहा? उत्तर है—शाटयायन में त्रिशोकब्राह्मण में ऐसी ही श्रुति है।

अत्र शाट्यायनकम्—
'कण्वो वै नार्षदो बकस्यासुरस्य दुहितरमविन्दत ।
तस्यां हास्य त्रिशोकनाभाकौ पुत्रौ जज्ञाते' । इति ॥१६॥
श्रूयतां परिहारोऽत्र, 'यो यजाति यजात इत्' ।
इत्येवमादिकः कश्चिदनुवाकः स्मृतो बुधैः ॥१७॥
अन्ते तस्यानुवाकस्य नाभाकः पर्यवस्थितः ।
उत्तरस्यानुवाकस्य विरूपो मुखतः स्थितः ॥१८॥
'इमे विप्रस्य वेधसः', सूक्तमाग्नेयमुच्यते ।
'आ घा ये अग्निमिन्धते', ऐन्द्रं त्रैशोकमुच्यते ॥१९॥
मण्डलादिष्विवाग्नेयम्, ऐन्द्रात्प्राक् स्थापितं बुधैः ।
अनुवाकान्तरत्वाच्च न भ्रातृत्वं नियामकम् ॥२०॥
अथायं केन विन्यासः सर्वो दृष्टो महर्षिणा ।
सर्वस्यां संहितायां यः सर्वैरिति विपश्चितः ॥२१॥

इस विषय में शाट्यायन में कहा गया है—'नृषद के पुत्र कण्व ने बक असुर की पुत्री से विवाह किया । उससे इस (कण्व) के त्रिशोक तथा नाभाक नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए ।

जैमिनीय ब्राह्मण (३।७२–७४) में भी यह सन्दर्भ मिलता है, वहां 'नार्षदो बकस्य' के स्थान पर 'नार्षदोऽखगस्य' पाठ है' ॥१६॥

इस शङ्का का समाधान सुनिये—यो यजाति यजात इत् (ऋ० ८।३१।१) इत्यादि सूक्तों (सं० ३१–४२) को विद्वानों ने एक अनुवाक (पञ्चम) माना है । उस (पञ्चम) अनुवाक के अन्त (४२वें सूक्त) में नाभाकदृष्ट सूक्त (सं० ३९–४२) समाप्त हो जाते हैं । अगले (छठे) अनुवाक के आदि में विरूपदृष्ट सूक्त स्थित है । इमे विप्रस्य वेधसः (ऋ० ८।४३।१) यह सूक्त अग्नि देवतावाला बताया जाता है । त्रिशोक द्वारा दृष्ट आ घा ये अग्निमिन्धते (ऋ० ८।४५।१) यह सूक्त इन्द्र देवतावाला कहा जाता है । मण्डल के आदि में जिस प्रकार अग्नि देवतावाला सूक्त इन्द्र देवतावाले सूक्त से पूर्व रखा जाता है, उसी प्रकार यहां छठे अनुवाक के आदि में विद्वानों ने ऐन्द्र सूक्त से पूर्व आग्नेय सूक्त रखे हैं और अनुवाक के भिन्न हो जाने के कारण यहां भ्रातृत्व क्रम का नियामक नहीं है ॥१७-२०॥

अब प्रश्न यह है—'सम्पूर्ण संहिता में जो सूक्तों का विन्यास है, इस सम्पूर्ण विन्यास

मण्डलान्यृषयो दृष्ट्वा सर्व एव समागताः ।
विन्यासं ददृशुः पश्चादिति वृद्धेभ्य आगमः ॥२२॥
कल्पनं चानुवाकानां ऋषिदृष्टमिति स्थितिः ।
नह्यनार्षमिदं युक्तं यद् दृष्टं ब्राह्मणेष्विति ॥२३॥
'स्वादिष्ठया मदिष्ठया', तासामध्ययने फलम् ।
प्रादर्शयद्वसिष्ठोऽन्ते, 'यः पावमानीरध्येति' ॥२४॥

का दर्शन किस महर्षि ने किया ?' विद्वानों का उत्तर है—'सब ऋषियों ने इस विन्यास का दर्शन किया'।

अनेक ऋषियों द्वारा एक सूक्त के सामूहिक दर्शन को माधव स्वीकार नहीं करता (द्र०—इसी अष्टक के चतुर्थ अध्याय की द्वितीय कारिका) ॥२१॥

मण्डलों का दर्शन करके सभी ऋषि इकट्ठे हुए। इसके पश्चात् उन्होंने सूक्त-विन्यास का दर्शन किया। यह वृद्ध-परम्परा से ज्ञात हुआ है।

ऋषियों की पांच-छह पीढ़ियों का सङ्गम, तथा सामूहिक सूक्त-विन्यास-दर्शन वर्त्तमान युग में गले नहीं उतरता ॥२२॥

अनुवाकों की कल्पना भी ऋषियों के द्वारा दृष्ट हैं, यह सिद्धान्त है। जो ब्राह्मणग्रन्थों में देखा जाता है, उसको अनार्ष मानना उचित नहीं।

शौनकीय अनुवाकानुक्रमणी (श्लोक ४) में भी कहा गया है—

मधुच्छन्दःप्रभृतिभिर्ऋषिभिर्हि तपोबलात् ।
दृष्टानामनुवाकानामृजु वक्ष्याम्यतन्द्रितः ॥

अर्थात् मधुच्छन्दा आदि ऋषियों ने तपोबल से अनुवाकों का दर्शन किया, उनके सूक्तादि को बताऊंगा ॥२३॥

स्वादिष्ठया मदिष्ठया (ऋ० ९।१।१) इत्यादि ऋचाएं भी सङ्गत होकर अनेक ऋषियों के द्वारा दृष्ट हैं। उनके अध्ययन का फल अन्त में वसिष्ठ ने यः पावमानीरध्येति (ऋ० ९।६७।३१) इन दो ऋचाओं में बताया है।

ऋग्वेद के नवें मण्डल में विभिन्न ऋषियों के पवमान सोमविषयक आर्ष का संग्रह है। ऋ० ९।६७।३१,३२ में पावमानी ऋचाओं के अध्ययन का फल बताया गया है—पावमानी का अध्येता ऋषियों द्वारा सम्भृत रस का पान करता है, सरस्वती उसके लिए दूध, घी, मधु, जल का दोहन करती है ॥२४॥

एवं सर्वैः प्रदृष्टानां सूक्तानां क्रमदर्शनम् ।
युक्तमन्ते सङ्गतानाम्; अत्र वृद्धेषु निर्णयः ॥२५॥
तथैवान्येन दृष्टेषु मन्त्रेष्वन्ये महर्षयः ।
नानाविधानि सूक्तानि पश्यन्त्यपि च सङ्गताः ॥२६॥
अचिन्त्यमद्भुतं वेदं साङ्गोपाङ्गमधीयते ।
अस्यागमं यथातत्त्वं ऋषिरेवावगच्छति ॥२७॥
ऋषिनामार्षगोत्रेषु पञ्चमेऽस्माभिरष्टके ।
अध्यायादिषु वक्तव्यं विभज्योक्तं क्रमादिति ॥२८॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इति पञ्चमोऽष्टकः ॥५॥

—:०:—

इस प्रकार अन्त में इकट्ठे हुए ऋषियों का सब के द्वारा साक्षात्कृत सूक्तों के क्रमविन्यास का दर्शन युक्त ही है, यही वृद्धों का निर्णय है ॥२५॥

इसी प्रकार अन्य ऋषि के द्वारा दृष्ट मन्त्रों में अन्य ऋषि नाना प्रकार के सूक्तों का दर्शन करते हैं। सङ्गत होकर भी ऋषि सूक्तों का दर्शन करते हैं ॥२६॥

अचिन्तनीय, अद्भुत अङ्गों तथा उपाङ्गों सहित वेद का अध्ययन विद्वान् करते हैं। इसके यथार्थ तात्त्विक बोध को ऋषि ही जानता है ॥२७॥

हम ने पञ्चम अष्टक में अध्यायों के आरम्भ में ऋषियों के नाम तथा आर्ष गोत्रों के विषय में कहने योग्य बातों को विभाग करके क्रम से कह दिया ॥२८॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इति पञ्चमोऽष्टकः ॥५॥

—:०:—

षष्ठोऽष्टकः

६. छन्दोऽनुक्रमणी

प्रथमोऽध्यायः

अथ षष्ठोऽष्टकस्तस्मिन्नध्यायादिषु वक्ष्यते
यच्छन्दसीह वक्तव्यं विद्यते छान्दसैर्द्विजैः ॥१॥

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप च बृहती पङ्क्तिरेव च ।
त्रिष्टुब्जगत्यौ सप्तेति च्छन्दांसि कवयो विदुः ॥२॥

षष्ठोऽष्टकः

६. छन्दोऽनुक्रमणी

प्रथमोऽध्यायः

अब छठा अष्टक (ऋ० ८।१२) आरम्भ होता है। उसमें अध्यायों के आदि में छन्दों के ज्ञाता विद्वानों के द्वारा प्रतिपादनयोग्य छन्दोविषयक तथ्यों को बताया जायेगा।

शौनकीय ऋक्प्रातिशाख्य, कात्यायनीय सर्वानुक्रमणी, पतञ्जलिकृत निदानसूत्र, गार्ग्यकृत उपनिदानसूत्र, शाङ्खायन श्रौतसूत्र, पिङ्गलकृत छन्दःसूत्र तथा जयदेवकृत छन्दः सूत्र— इन ग्रन्थों में वैदिक छन्दों का निरूपण किया गया है। आचार्य युधिष्ठिर जी मीमांसक प्रणीत 'वैदिक छन्दोमीमांसा' में वैदिक छन्दों का विस्तृत विवेचन किया गया है। आधुनिक दृष्टि से वैदिक छन्दों का विशद विवेचन प्रो० आर्नल्ड ने 'वैदिक मीटर' नामक ग्रन्थ में किया है ॥१॥

कवि गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती इन सात छन्दों को मानते हैं।

उपर्युक्त सात छन्दों में क्रमशः २४, २८, ३२, ३६, ४०, ४४, ४८ अक्षर होते हैं ॥२॥

ननु चातिजगत्यस्ति शक्वर्यप्यतिशक्वरि ।
तथैव चाष्टिरत्यष्टिधृतिश्चातिधृतिस्तथा ॥३॥
सर्वाणि दृष्टानि च संहितायाम्, तथैव चासंश्चतुरुत्तराणि ।
ततश्च वेदे वचनीयमित्थम्, इमानि छन्दांसि चतुर्दशेति ॥४॥
ननु च त्रीणि छन्दांसि चत्वारीति च दृश्यते ।
आहुः प्रवादौ भाक्तौ तौ सप्तत्वञ्चैव तादृशम् ॥५॥
भवन्ति च्छान्दसानीह पदानि त्रीणि तद्यथा ।
एकमष्टाक्षरं दृष्टम्, एकमेकादशाक्षरम् ॥६॥
द्वादशाक्षरमप्येकं तेन त्रीणीति भाषते ।
पदं दशाक्षरं चाल्पं वैराजं तदुपेक्षितम् ॥७॥

अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति तथा अतिधृति ये सात छन्द भी हैं। उपर्युक्त सात छन्दों में क्रमश: ५२, ५६, ६०, ६४, ६८, ७२, ७६ अक्षर होते हैं ॥३॥

ये सभी छन्द ऋग्वेद संहिता में देखे जाते हैं, जो उसी प्रकार चार-चार अक्षर की वृद्धि करके बने हैं। इस लिए इस प्रकार कहना चाहिए कि वेद में ये चौदह छन्द हैं।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।२) तथा सर्वानुक्रमणी (३।३) में चतुरक्षर वृद्धिक्रम बताया गया है। कात्यायन ने भी उक्त चौदह छन्दों का उल्लेख किया है (सर्वा० ३।२)। कुछ आचार्यों ने इक्कीस तथा छब्बीस छन्द माने हैं (वैदिक छन्दोमीमांसा पृ० ८४, ८५) ॥४॥

शङ्का है—'तीन छन्द हैं' और 'चार छन्द हैं' ये दो मत भी देखे जाते हैं? समाधान है—विद्वान् लोग इन दोनों प्रवादों को गौण कहते हैं और इसी प्रकार सात छन्द होने का कथन भी गौण है।

ऋ० १।१६४।२३ में पादानुसार तीन छन्दों (गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती) का उल्लेख है। कहीं-कहीं चार छन्द माने जाते हैं। द्वितीय कारिका में उक्त सात छन्दों का उल्लेख ही अधिकांश ग्रन्थों में मिलता है। जैसे—ऋ० १०।१३०।४-५; अथर्व० ८।६।१६; शत० ब्रा० ६।५।२।८; ऋ० प्रा० १६।१ ॥५॥

ऋग्वेद में छन्दों के पाद तीन प्रकार के हैं। जैसे—प्रथम आठ अक्षरोंवाला पाद, दूसरा ग्यारह अक्षरोंवाला पाद और तीसरा बारह अक्षरोंवाला पाद देखा जाता है। इसी हेतु से तीन छन्द (गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती) कहे जाते हैं। दस अक्षरोंवाला 'वैराज' नामक पाद विरल है, अत: उसकी अपेक्षा कर दी गई है।

गायत्र्येवोष्णिगभवत् पङ्क्तिमल्पाम् उपेक्षते ।
अनुष्टुबेव बृहती तेन चत्वारि भाषते ॥८॥

तद्वद् भूयांसि सप्तैव प्राधानान्यपि वा पुनः ।
कथ्यन्ते नामभिश्चैव गायत्री जगतीति च ॥९॥

निचृतो भूरिजश्चाहुस्ताश्चेदूनाधिकाक्षराः ।
द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ च निचृदुष्णिग्भुरिक्ककुप् ॥१०॥

ऋग्वेद में गायत्री, त्रिष्टुप जगती इन तीन छन्दों का प्रयोग अधिक मिलता है, ऋग्वेद का लगभग $\frac{4}{5}$ भाग इन्हीं छन्दों में निबद्ध है। इन तीन छन्दों में भी त्रिष्टुप का स्थान प्रथम (४२५३ ऋचाएं); गायत्री का स्थान द्वितीय (२४५१ ऋचाएं) और जगती का स्थान तृतीय (लगभग १३४८ ऋचाएं) है (छन्दःसंख्या परिशिष्ट)। प्राचीन आचार्यों ने मुख्यतः अष्टाक्षर (गायत्र); एकादशाक्षर (त्रैष्टुभ); द्वादशाक्षर (जागत) इन तीन प्रकार के पादों को छन्दों का आधार माना है, परन्तु कुछ छन्दों की उत्पत्ति के लिए उन्होंने दशाक्षर पाद (वैराज) को भी स्वीकार किया है (ऋ० प्रा० १७।३७-४०; सर्वा० ३।१०-११; पिङ्गल ३।३-६; निदानसूत्र १।१)। आधुनिक विद्वानों के अनुसार केवल गायत्र तथा त्रैष्टुभ पाद ही मौलिक हैं (वैदिक मीटर पृ० ७) ॥६-७॥

गायत्री ही उष्णिक् हो गया, पंक्ति अल्प है, इसलिए उसकी उपेक्षा कर देते हैं और अनुष्टुप् ही बृहती हो जाता है। अतः चार (गायत्री-अनुष्टुप्-त्रिष्टुप्-जगती) छन्द कहे जाते हैं ॥८॥

इसी प्रकार छन्द तो अनेक हैं, परन्तु प्रधान छन्द सात ही हैं, जो गायत्री से जगती तक नामों द्वारा कहे जाते है ॥९॥

वे (ऋचाएं) यदि एक अक्षर न्यून या एक अक्षर अधिक हों, तो उनको क्रमशः 'निचृत्' तथा 'भुरिक्' कहते हैं। दो अक्षरों के न्यून या अधिक होने पर उनको क्रमश 'विराट्' तथा 'स्वराट्' कहते हैं। उदाहरण हैं— निचृद् उष्णिक, भुरिक् ककुप्।

एक या दो अक्षरों की न्यूनता या अधिकता से छन्द में भेद नहीं होता। ऐतरेय ब्राह्मण (१।६) का वचन है—न वा एकाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम् (एक या दो अक्षरों से छन्द भिन्न नहीं होता)। शतपथ ब्राह्मण (१३।२।३।३) तथा कौषीतकि ब्राह्मण (२७।१) में भी ऐसे ही वचन मिलते हैं। उष्णिक् तथा ककुप् छन्दों में २८ अक्षर होते हैं। पिङ्गलसूत्र (३।१८,१९) के अनुसार—उष्णिग्गायत्रौ जागतश्च, ककुम्मध्ये चेदन्त्यः—यदि प्रथम-द्वितीय पाद गायत्र एवं तृतीय पाद जागत हो, तो उष्णिक् छन्द होता है और यदि मध्य में जागत पाद एवं

'अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः', गायत्री निचृदुच्यते ।
'विद्वांसाविद् दुरः पृच्छेद्', गायत्री सा भूरिक्स्मृता ॥११॥
विराजमाहुः 'राजन्तमध्वराणाम्', इमामृचम् ।
'इन्द्र जुषस्व प्र वहा', सैषानुष्टुप्स्वराडिति ॥१२॥

दोनों ओर गायत्र पाद हों, तो ककुप् छन्द होता है । एक अक्षर की न्यूनता होने पर 'निचृद् उष्णिक्' तथा एक अक्षर की अधिकता होने पर 'भुरिक् ककुप्' कहा जाता है। सर्वानुक्रमणी (३।४,५); ऋक्प्रातिशाख्य (१७।२,३); पिङ्गलसूत्र (३।५९ ६०); निदानसूत्र (१।६) और उपनिदानसूत्र (पृ० ५।२-४) में उपर्युक्त चारों विशेषणों के प्रयोग का विधान मिलता है। परन्तु सर्वानुक्रमणी में छन्दोनिर्देश करते समय इन विशेषणों का प्रयोग नहीं किया गया है। षड्गुरुशिष्य ने इसका कारण बताया है अत्र शास्त्रे निचृदादिविशेषणचतुष्टयस्य क्वचिदप्यनुक्तिर्लाघवार्था (वेदार्थदीपिका ३।५) अर्थात् इस शास्त्र में निचृद् आदि चारों विशेषणों का कथन लाघव के उद्देश्य से कहीं भी नहीं किया गया ।।१०।।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः (ऋ० १।२।१) यह ऋक् निचृद् गायत्री (२३ अक्षर) कही जाती है। विद्वांसाविद् दुरः पृच्छेद् (ऋ० १।१२०।२) यह ऋक् भुरिग्गायत्री (२५ अक्षर) स्मृत की गई है।

षड्गुरुशिष्य ने सर्वानुक्रमणी (३।४) की व्याख्या में निचृद् गायत्री एवं भुरिग् गायत्री के उदाहरण के रूप में इन दोनों ऋचाओं का ही उल्लेख किया है। ऋक्प्रातिशाख्य (१६।२०) में भुरिग् गायत्री का उदाहरण प्रस्तुत कारिका में उद्धृत ऋक उपस्थित की है। परन्तु कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी (ऋ० १।१२०।२) इस ऋक् का छन्द ककुप् लिखा है। षड्गुरुशिष्य ने दोनों मतों में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए लिखा है—ब्राह्मणद्वयदर्शनादेवमुक्तम, व्यूहेन चाक्षरसम्पत्तिः (वेदार्थदीपिका ऋ०१।१२०।२) अर्थात् ब्राह्मण (?) में दोनों छन्द देखे जाते हैं, ककुप् पक्ष में पाद के अक्षरों की पूर्ति व्यूह द्वारा की जाती है। सर्वानुक्रमणी में प्रथम छन्दःसप्तक की संज्ञाएं प्रायः पाद विशेष के अनुसार हैं (सर्वा० ३।७) ॥११॥

राजन्तमध्वराणाम् (ऋ०१।१।८) इस ऋक् को विराट् गायत्री (२२ अक्षर) कहते हैं। इन्द्र जुषस्व प्र वहा (साम० २।३।२२) यह ऋक् स्वराट् अनुष्टुप् (३४ अक्षर) है।

षड्गुरुशिष्य ने भी विराट्-स्वराट् के उदाहरण के रूप में इन्हीं ऋचाओं का उल्लेख किया है (वेदार्थदीपिका ३।५)। द्वितीय ऋक् में व्यूहकृत ३४ अक्षर हैं। ऋक्प्रातिशाख्य (१७।३) के भाष्य में उवट ने स्वराट् गायत्री का उदाहरण दिया है—जोषा सवितुर्यस्य ते (ऋ० १०।१५८।

चत्वारः पञ्चकाः पादाः षट्कश्चैको यदा भवेत् ।
गायत्री पदपङ्क्तिः सा, 'अधा ह्यग्ने क्रतोः' इति ॥१३॥
चतुष्को वा चतुर्थः स्यात्, तत्रोदाहरणं त्विदम् ।
'अग्ने तमद्याश्वम्' इति, चतुष्को हि 'हृदिस्पृशः' ।१४॥
पदपङ्क्तिन्तु पठति पङ्क्तिष्वेव पतञ्जलिः ।
कात्यायनस्य गायत्री पदपङ्क्तिरिति स्थितिः ॥१५॥

---

२) वेङ्कट माधव और षड्गुरुशिष्य ने सामवेदीय ऋक् को उदाहरण के लिए क्यों चुना ? ऋक्प्रातिशाख्य (१६।१६) में यही ऋक् पदपंक्ति के उदाहरण के रूप में निर्दिष्ट है । यहां उवट ने इसे षोडशी ग्रह की स्तोत्रिय कहा है और अन्तिम आठ अक्षर छोड़कर पांच पञ्चाक्षर पाद माने हैं । इससे प्रतीत होता है कि यह ऋक् शाङ्खायन श्रौतसूत्र (६।५।२) के अनुसार निर्दिष्ट है ॥१२॥

जिस छन्द में पांच अक्षरवाले चार पाद हों और छह अक्षरवाला एक पाद हो, वह पदपंक्ति गायत्री कहलाता है । जैसे—अधा ह्यग्ने क्रतोः (ऋ० ४।१०।२) ।

उदाहृत ऋक् के पांच पाद इस प्रकार हैं—

अधा हि अग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः ।
रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ॥१३॥

अथवा, यदि चतुर्थ पाद चार अक्षरवाला हो (और तीन पाद पञ्चाक्षर एवं एक पाद षडक्षर हो); तो पदपंक्ति गायत्री छन्द होता है । उसका उदाहरण है—अग्ने तमद्याश्वन् (ऋ० ४।१०।१) । यहां चार अक्षरवाला पाद है—हृदिस्पृशम् ।

उदाहृत ऋक् के पांच पाद इस प्रकार हैं—

अग्ने तमद्य अश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम् ।
ऋध्यामा त ओहैः ॥१४॥

पतञ्जलि पदपंक्ति को पंक्ति छन्दों के अन्तर्गत पढ़ता है । कात्यायन के मतानुसार पदपंक्ति गायत्री है, यह स्थिति है ।

पतञ्जलि ने पंक्तिछन्द के प्रकरण में लिखा है—'पञ्चविंशत्यक्षरापि भवति पञ्चपदा पञ्चाक्षरपादा । तां पदपंक्तिरित्याचक्षते (निदानसूत्र १।३) अर्थात् पञ्चाक्षर पञ्चपदा पच्चीस अक्षरोंवाली भी होती है, उसको पदपंक्ति भी कहते हैं । पिङ्गल ने भी—पदपङ्क्तिः पञ्च (पिङ्गलसूत्र ३।४६) कहकर पदपंक्ति को पंक्ति के अन्तर्गत रखा है । कात्यायन ने पदपंक्ति-

षटसप्तैकादशाः पादा उष्णिग्गर्भेति तां विदुः ।
सा 'ता मे अश्व्यानां' इति, त्रयश्च यदि सप्तकाः ॥१६॥
सा तु पादनिचृत्प्रोक्ता, 'युवाकु हि शची [ची' इ]ति सा ।
यदि सप्तकयोर्मध्ये षटकः साऽतिनिचृत्स्मृता ॥१७॥

गायत्री के दो प्रकारों का उल्लेख किया है—पञ्चकाश्चत्वारः षट्कश्चैकश्चतुर्थश्चतुष्को वा पदपङ्क्तिः (सर्वा० ४।२) अर्थात् (१) चार पाद पञ्चाक्षर, एक पाद षडक्षर (२) तीन पाद पञ्चाक्षर, चतुर्थ पाद चतुरक्षर, एक पाद षडक्षर 'पदपंक्ति' छन्द है। शौनक ने इसके तीन भेद बताये हैं—

पञ्चकाः पञ्च षड् वान्त्यः पदपङ्क्तिस्तर्हि सा भुरिक् ।
द्वौ वा पादौ चतुष्कश्च षट्कश्चैकस्त्रिपञ्चकाः ॥ ऋ० प्रा० १६।१८॥

अर्थात् (१) पञ्चाक्षर पांच पादवाला छन्द 'पदपंक्ति गायत्री' है, (२) चार पञ्चाक्षर पाद, अन्तिम षडक्षर पाद 'भुरिक् पदपंक्ति गायत्री' है; अथवा (३) तीन पञ्चाक्षर पाद, एक चतुरक्षर पाद, एक षड्क्षर पाद ॥१५॥

यदि क्रमशः षडक्षर, सप्ताक्षर, एकादशाक्षर पाद हों, तो उसको 'उष्णिग्गर्भा गायत्री' मानते हैं। उदाहरण है—ता मे अश्व्यानाम् (ऋ० ८।२५।२३) ।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।२८) तथा सर्वानुक्रमणी (४।३) में भी यही लक्षण दिया गया है और शौनक तथा षड्गुरुशिष्य ने यही ऋक् उदाहृत की है। प्रकृत ऋक् में २२ अक्षर हैं, व्यूह द्वारा प्रथम तथा तृतीय चरण में एक-एक अक्षर बढ़ाकर क्रम हो जाता है–६+७+११=२४। ऋक् का व्यूहकृत रूप होगा—

ता मे अश्वियानां हरीणां नितोशना ।
उतो नु कृत्वियानां नृवाहसा ॥ ऋ० ८।२५।२३॥

यदि तीनों पाद सप्ताक्षर हों, तो वह 'पादनिचृद् गायत्री' कही जाती है। उसका उदाहरण है—युवाकु हि शचीनाम् (ऋ० १।१७।४) ।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।२१); सर्वानुक्रमणी (४।४) और पिङ्गलसूत्र (३।९,१०) में इस का निर्देश है। शौनक ने इसको 'विराट्' भी कहा है। प्रत्येक पाद में एक अक्षर की न्यूनता के कारण इसको 'पादनिचृद्' कहा गया है। उदाहरण में पादों (७+७+७) की स्थिति निम्न प्रकार है—

सा 'पुरूतमं पुरूणां स्तोतॄणाम्' इति दृश्यते ।
यदि सप्तकयोर्मध्ये दशकः स्यात् प्रतिष्ठितः ॥१८॥
यवमध्या सा भवति, 'स सुन्वे यो वसूनाम्' ।
षट्कसप्तकाष्टकाश्चेद् वर्धमानेति कीर्तिता ॥१९॥
विपरीता प्रतिष्ठेति तत्रोदाहरणं शृणु ।
'त्वमसि प्रशस्यः' इति, 'त्वमग्ने व्रतपा असि' ॥२०॥

युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम् ।
भूयाम वाजदाव्नाम् ॥ ऋ० १।१७।४॥

यदि दो सप्ताक्षर पादों के बीच में एक षडक्षर पाद हो, तो उसे 'अतिनिचृद गायत्री' के नाम से स्मरण किया जाता है। पुरूतमं पुरूणां स्तोतॄणाम् (ऋ० ६।४५।२९) इस ऋक् में वह देखी जाती है।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।२९) तथा सर्वानुक्रमणी (४।५) में भी इस छन्द का लक्षण तथा उदाहरण दिया गया है। ऋक् में पादों (७+६+७) की स्थिति निम्न है—

पुरूतमं पुरूणां स्तोतॄणां विवाचि ।
वाजेभिर्वाजयताम् ॥ ऋ० ६।४५।२९॥

यदि दो सप्ताक्षर पादों के बीच में एक दशाक्षर पाद स्थित हो, तो वह 'यवमध्या गायत्री' होती है। उदाहरण है—स सुन्वे यो वसूनाम् (ऋ० ९।१०८।१३)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।२७) तथा सर्वानुक्रमणी (४।६) में यह छन्द प्रतिपादित है। पिङ्गल (३।५८)ने सभी त्रिपाद छन्दों के विशेषण के रूप में यवमध्या का विधान किया है। प्रथम एवं तृतीय पाद अल्पाक्षर तथा द्वितीय पाद के अधिकाक्षर होने पर इस विशेषण का प्रयोग हो सकता है। उदाहृत ऋक् के पादों (७+१०+७) की स्थिति निम्न प्रकार है—

स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इळानाम् ।
सोमो यः सुक्षितीनाम् ॥ ऋ० ९।१०८।१३॥

यदि छन्द में क्रमशः षडक्षर, सप्ताक्षर, तथा अष्टाक्षर पाद हों, तो 'वर्धमाना गायत्री' कही जाती है। इस के विपरीत (अष्टाक्षर, सप्ताक्षर, षडक्षर) क्रम होने पर 'प्रतिष्ठा गायत्री' नाम होता है। इन के उदाहरण सुनिये—त्वमसि प्रशस्यः (ऋ० ८।११।२); त्वमग्ने व्रतपा असि (ऋ० ८।११।१)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।२४), सर्वानुक्रमणी (४।७) तथा पिङ्गलसूत्र (३।१४) में वर्धमान-

पट्कैश्चतुर्भिर्गायत्री पदैस्तु भवति क्वचित् ।
'इन्द्रश्शचीपतिः' इति, तत्राहुस्तन्निदर्शनम् ॥२१॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

—:०:—

गायत्री प्रतिपादित है। शौनक ने अन्य के मतानुसार क्रमशः ८+६+८=२२ अक्षरों के छन्द की भी 'वर्धमान गायत्री' संज्ञा लिखी है। उदाहरण में पादों (६+७+८) की स्थिति है—

त्वम॑सि प्र॒शस्यो॑ वि॒दथे॑षु सहन्त्य ।
अग्ने॑ र॒थीर॑ध्व॒राणा॑म् ॥ ऋ० ८।११।२॥

प्रतिष्ठा गायत्री सर्वानुक्रमणी (४।८) तथा पिङ्गलसूत्र (३।१५) में उल्लिखित है। उदाहृत ऋक् में पादों (८+७+६) की स्थिति है—

त्वम॑ग्ने व्रत॒पा अ॑सि दे॒व आ मर्त्ये॒ष्वा । त्वं य॒ज्ञेष्वीड्य॑ः ॥ ऋ० ८।११।१॥

यहां दूसरे और तीसरे चरण में व्यूह के द्वारा पादों के अक्षरों की पूर्त्ति होती है ॥१६-२०॥

कहीं-कहीं चार षडक्षर पादों से भी गायत्री होती है। उस का उदाहरण बताते हैं—इन्द्रश्शचीपतिः ।

इस छन्द को चतुष्पाद् गायत्री के नाम से आचार्यों ने स्मरण किया है। ऋक्प्रातिशाख्य (१६।१६,१७); पिङ्गलसूत्र (३।८); निदानसूत्र (१।२); उपनिदानसूत्र (पृ० १।८) में इस का उल्लेख किया गया है। माधव, पिङ्गलसूत्र के टीकाकार हलायुध तथा निदानसूत्र के वृत्तिकार लातप्रसाद ने ऋक्प्रातिशाख्य (१६।१७) में दिए उदाहरण को ही उद्धृत किया है, जिस के विषय में ज्ञात नहीं हो सका कि यह ऋग्वेद की किस शाखा की ऋक् है। ऋक् इस प्रकार है—

इन्द्रः शचीपति बलेन वीळितः ।
दुश्च्यवनो वृषा समत्सु सासहिः ॥

इन के अतिरिक्त अन्य भी गायत्री के अनेक भेद हैं। इन का विस्तृत निरूपण 'वैदिक छन्दोमीमांसा' (पृ० १२२–१३०) में किया गया है ॥२१॥

(गायत्री-प्रकरण समाप्त)

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

—:०:—

द्वितीयोऽध्यायः

'वयमु त्वामपूर्व्यें [व्यं' इ]ति, व्याचिख्यासति माधवः ।
उष्णिगादिषु वक्तव्यम् आदावेव प्रदर्शयन् ॥१॥
पादे द्वितीये ककुभोऽपि वृद्धिं
पुरोऽपि वृद्धिं प्रवदन्ति युक्ताः ।
छन्दस्सु तेनोष्णिगभूद् द्वितीया
तस्याष्टकौ द्वादशकाश्च पादाः ॥२॥
पादो यदा द्वादशकः पुरस्तात्
तदा भवेत् सा पुरउष्णिगाख्या ।
'अप्स्वश्ँन्तर्' एतां प्रवदन्ति तां च
ककुप् 'प्र सो अग्ने' इतीरितार्यैः ॥३॥

द्वितीयोऽध्यायः

उष्णिक् आदि के विषय में वक्तव्य को आरम्भ में प्रदर्शित करता हुआ माधव 'वयमु त्वामपूर्व्य'० (ऋ० ८।२१।१) इस अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

विद्वान् बताते हैं कि ककुप् के द्वितीय पाद में भी वृद्धि होती है और अन्यत्र पूर्व पाद में भी वृद्धि होती है । इसलिए छन्दों में उष्णिक् द्वितीय छन्द हुआ । उस के दो पाद अष्टाक्षर होते हैं और एक पाद द्वादशाक्षर होता है ।

उष्णिक् में गायत्री से चार अक्षर अधिक होते हैं । ऋक्प्रातिशाख्य (१६।२९); सर्वानुक्रमणी (५।१); पिङ्गलसूत्र (३।१८); निदानसूत्र (१।२) तथा उपनिदानसूत्र (पृ० २।२); में उष्णिक् छन्द का लक्षण दिया गया है ॥२॥

जब पूर्व (प्रथम) पाद बारह अक्षरवाला होता है (तथा शेष दो पाद आठ-आठ अक्षरवाले होते हैं), तब वह 'पुर उष्णिक्' नामक छन्द होता है । इस का उदाहरण है—अप्स्व१न्तर् (ऋ० १।२३।१९) । द्वादशक्षर पाद जब मध्य में स्थित होता है, तो विद्वान् उसे 'ककुप्' कहते हैं । उदाहरण है—प्र सो अग्ने (ऋ० ८।१९।३०) ।

'पुर उष्णिक्' का प्रतिपादन ऋक्प्रातिशाख्य (१६।३०); सर्वानुक्रमणी (५।२); निदानसूत्र (१।२); उपनिदानसूत्र (पृ० २।२) तथा पिङ्गलसूत्र (३।२०) में किया गया है । उदाहरण में पादों (१२+८+८) की स्थिति है—

पादो यदैकादशकः पुरस्तात्
मध्ये भवेज्जागतपाद एकः ।
सा स्यात् ककुम्न्यङ्कुशिरास्तृतीयः
पादो भवेत् 'नूनमथे [थ' इ]ति तस्याः ॥४॥
पादौ यदैकादशिनौ पुरस्तात्
'प्र या घोषे भृगवाणे न शोभे' ।
षट्को भवेत्तस्य शिरस्तृतीयो
वदन्ति विप्रास्तनुशीर्षनाम्नीम् ॥५॥

अ॒प्स्व॑१॒न्तर॒मृत॑म॒प्सु भे॑ष॒जम॒पामु॒त प्रश॑स्तये ।

देवा॒ भव॑त वा॒जिनः॑ ॥ ऋ० १।२३।१९॥

प्रथम पाद में व्यूह से अक्षरपूर्ति होती है। ऋक्प्रातिशाख्य (१६।२९); सर्वानुक्रमणी (५।३); पिङ्गलसूत्र (३।१८); निदानसूत्र (१.२) तथा उपनिदानसूत्र (पृ० २।३) में 'ककुप्' का निर्देश है। उदाहरण में पादों (८+१२+८) की स्थिति है—

प्र सो अ॑ग्ने॒ तवो॒तिभिः॑ सु॒वीरा॑भिस्तिरते॒ वाज॑भर्मभिः ।

यस्य॒ त्वं स॒ख्यमा॒वरः॑ ॥ ऋ० ८।१९।३० ।।३॥

जब प्रथम पाद ग्यारह अक्षरवाला हो, मध्य में एक जागत (द्वादशाक्षर) पाद हो और तृतीय पाद नूनमथं (ऋ० ८।४६।१५) के समान चार अक्षर वाला हो, तो वह 'ककुम्न्यङ्कुशिरा उष्णिक्' छन्द कहलाता है।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।३३) तथा सर्वानुक्रमणी (५।४) में यह छन्द प्रतिपादित है। उदाहरण में पादों (११+१२+४) की स्थिति है—

दु॒दी रेक्ण॑स्त॒न्वे॑ दु॒दिर्वसु॑ दु॒दिर्वाजे॑षु पुरुहूत वा॒जिन॑म् । नू॒नमथ॑ ॥ ऋ० ८।४६।१५॥

मन्त्र में २६ अक्षर हैं। प्रथम पाद के अक्षरों की पूर्ति व्यूह से होती है। सत्ताईस अक्षर होने के कारण ऋक्प्रातिशाख्य (१६।३३) में इसका विशेषण 'निचृद्' प्रयुक्त हुआ है ॥४॥

जब आरम्भिक दो पाद ग्यारह अक्षरवाले हों और सिररूपी तृतीय पाद छह अक्षरवाला हो, तो विद्वान् उस छन्द का नाम तनुशीर्ष (तनुशिरा) बताते हैं। जैसे—प्र या घोषे॒ भृग॑वाणे॒ न शोभे॑ (ऋ० १।१२०।५)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।३५) तथा सर्वानुक्रमणी (५।५) में इस छन्द का निर्देश है। उदाहरण में पादों (११+११+६) की स्थिति है—

'हरी यस्य सुयुजा विव्रता वेः'
अस्या मध्ये षट्कपादो निविष्टः ।
पिपीलिकापूर्वकमध्यशब्दम्
समस्तमस्याः प्रवदन्ति संज्ञाम् ॥६॥
त्रयोऽष्टकाः पञ्चक आद्य एकः
सा 'पितुं नु स्तोषम्' अनुष्टुब्गर्भा ।
'नदं वः' इत्युष्णिगियं चतुर्भिः
पदैरुपेताक्षरसप्तसङ्ख्यैः ॥

प्र या घोषे भृगवाणे न शोभे यया वाचा यजति पज्रियो वाम् ।
प्रैषयुर्न विद्वान् ॥५॥

हरी यस्य सुयुजा विव्रता वेः (ऋ० १०।१०५।२) यह उदाहृत ऋक् है । इस के मध्य में छह अक्षरवाला पाद रखा हुआ है । अतः पिपीलिकापूर्वक मध्य शब्द के समास किए हुए रूप 'पिपीलिकमध्या' को इस की संज्ञा बताते हैं ।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।३४) तथा सर्वानुक्रमणी (५।६) में कहा गया है कि दो एकादशाक्षर पादों के बीच में षडक्षर पाद आने पर 'पिपीलिकमध्या उष्णिक्' छन्द होता है । उदाहरण में पादों (११+६+११) की स्थिति है—

हरी यस्य सुयुजा विव्रता वेरर्वन्तानु शेपा । उभा रजी न केशिना पतिर्दन् ॥६॥

आदिम पाद पांच अक्षरोंवाला तथा तीन पाद आठ-आठ अक्षरवाले हों, तो वह छन्द 'अनुष्टुब्गर्भा उष्णिक्' कहलाता है । उदाहरण है—पितुं नु स्तोषम् (ऋ० १।१८७।१) । सात-सात अक्षरोंवाले चार पादों से युक्त भी उष्णिक् छन्द होता है । जैसे—नदं वः (ऋ० ८।६९।२) ।

'अनुष्टुब्गर्भा उष्णिक्'छन्द का निर्देश ऋक्प्रातिशाख्य (१६।३६) तथा सर्वानुक्रमणी (५।७) में किया गया है । पिङ्गलसूत्र (३।५५) एवं उपनिदानसूत्र (पृ० ५।१) के अनुसार इस छन्द को 'शङ्कुमती उष्णिक्' भी कहा जा सकता है । उदाहरण में पादों (५+८+८+८) की स्थिति है—

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम् ।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ॥ ऋ० १।१८७।१॥

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।३२); सर्वानुक्रमणी (५।८); पिङ्गलसूत्र (३।२२); निदानसूत्र

अत्र शाट्यायनकम्—"सा ककुबब्रवीद् बलिष्ठावाऽहमस्मीति।
पराक्रममाणः खलु मेऽक्षराणि समौहीत् पूर्वां मा प्रयुञ्जतामिति।
अथोष्णिगब्रवीत् अथ वै मां पूर्वामाचक्षन्ता इति। तथेति।
तस्मिन् समपादयेताम्। पूर्वप्रयोगमन्यावृणीत पूर्वाख्यानमन्या।
तस्मादेने एवं प्रयुञ्जते। तस्मादुष्णिक्ककुभावित्याख्यायते" ॥७॥
(तु०—जैब्रा० ३,२९५)

चतुष्पदाऽनुष्टुबथो यदा स्युः
पदानि पञ्चापि च पञ्चकानि।
महापदाद्यां प्रवदन्ति पङ्क्तिम्
षष्ठं च षट्कं 'रोचत उपाके' ॥८॥

(१।२) तथा उपनिदानसूत्र (पृ० ७।६) में चतुष्पाद् उष्णिक् का उल्लेख किया गया है। शौनक ने इसे अक्षरों (२८ अक्षर) की दृष्टि से उष्णिक् और पाद की दृष्टि से अनुष्टुप् (चार पाद) कहा है। उदाहरण में पादों (७+७+७+७) की स्थिति है—

नुदं व ओदतीनां नुदं यो युवतीनाम्।
पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि ॥ ऋ० ८।६९।२।

उष्णिक् छन्द का विस्तृत विवरण 'वैदिक छन्दोमीमांसा'(पृ० १३१-१३४)में किया गया है।

इस विषय में शाट्यायन ब्राह्मण का कथन है—"वह ककुप् बोली—'मैं बलवती हूं। पराक्रमी ही मेरे अक्षरों को इकट्ठे कर सकता है। पहले मेरा प्रयोग करें'। तदनन्तर उष्णिक् बोली—'पहले मेरा आख्यान करें'। वैसा ही हुआ। उस (यज्ञ) में दोनों ने सम्पन्न कराया। पूर्व प्रयोग एक ने वरण किया, पूर्व आख्यान दूसरी ने। इस लिए इन दोनों का ही प्रयोग करते हैं। इस लिए उष्णिक्-ककुप् ऐसा कहा जाता है।"

इस वचन की तुलना जैमिनीय ब्राह्मण (३।२९५) से की जा सकती है ॥७॥

(उष्णिक् प्रकरण समाप्त)

अनुष्टुप् चार पादवाला छन्द होता है। परन्तु जब पांच पञ्चाक्षर पाद हों और छठा पाद—रोचत उपाके (ऋ० ४।१०।५) के समान षडक्षर हो, तो उसे 'महापदपङ्क्ति' कहते हैं।

सामान्यतः अनुष्टुप् छन्द में चार अष्टाक्षर पाद होते हैं। ऋक्प्रातिशाख्य (१६।३७); सर्वानुक्रमणी (६।१); पिङ्गलसूत्र (३।२३); निदानसूत्र (१।२)तथा उपनिदानसूत्र (पृ० २।७) में इस का उल्लेख है। ऋक्प्रातिशाख्य (१६।४३) तथा सर्वानुक्रमणी (६।२)में 'महापदपङ्क्ति'छन्द प्रतिपादित है। उदाहरण में पादों (५+५+५+५+५+६) की स्थिति निम्न प्रकार है—

कृतिराद्यौ जागतावष्टकोऽन्ते
'मा कस्मै धातमभ्यमित्रिणे :' ।
स्यादष्टको मध्यमश्चेत् तदा स्यात्
'पर्यू षु प्र' [प्र' इ]ति पिपीलिकमध्या ॥९॥
मध्ये भवेज्जागतपाद एकः
पूर्वोत्तरौ नवकौ चापि पादौ ।
सा काविराण्णाम भवेदनुष्टुप्
सैषा 'ता विद्वांसा हवामहे वाम्' ॥१०॥

तव॒ स्वादि॑ष्ठाऽग्ने॒ संदृ॑ष्टिरि॒दा चि॒दह्न॑ इ॒दा चि॒दक्तोः ।
श्रि॒ये रु॒क्मो न रो॑चत उपा॒के ॥ ऋ० ४।१०।५॥

यहां दूसरे चरण में व्यूह के द्वारा पञ्चाक्षर की पूर्ति की गई है । आचार्यों के मतानुसार यह पदकल्पना समीचीन नहीं है, क्यों कि छठे पाद के आदि में अनुदात्त तिङ् आ जाता है (वैदिक छन्दो-मीमांसा पृ० १३८) ॥८॥

यदि आदिम दो पाद जागत (द्वादशाक्षर) हों और अन्त में अष्टाक्षर पाद हो, तो वह 'कृति अनुष्टुप्' है । जैसे—मा कस्मै धातम॒भ्य॑मि॒त्रिणे॑ नः (ऋ० १।१२०।८) । यदि अष्टाक्षर पाद मध्य में हो (और जागत पाद दोनों ओर हों), तो 'पिपीलिकमध्या अनुष्टुप्' होती है । जैसे— पर्यू॒ षु प्र (ऋ० ९।११०।१) ।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।३८) तथा सर्वानुक्रमणी (९।३) में 'कृति' छन्द का प्रतिपादन है । पिङ्गलसूत्र (३।२४) में सामान्य त्रिपाद् और निदानसूत्र (१।२) एवं उपनिदानसूत्र (पृ० २।८) में इस को 'उपरिष्टाज्ज्योति' नाम दिया गया है । उदाहरण में पादों (१२+१२+८) की स्थिति है—

मा कस्मै॑ धातम॒भ्य॑मि॒त्रिणे॑ नो॒ मा कु॒त्रा नो॑ गृ॒हेभ्यो॑ धे॒नवो॑ गुः ।
स्त॒न॒भुजो॒ अशि॑श्वीः ॥ ऋ० १।१२०।८॥

यहां तीनों पादों में एक-एक अक्षर की पूर्ति व्यूह से की गई है । 'पिपीलिकमध्या अनुष्टुप्' का उल्लेख ऋक्प्रातिशाख्य (१६।३९) तथा सर्वानुक्रमणी (६।४) में है । पिङ्गलसूत्र में सामान्य त्रिपाद् और निदानसूत्र (१।२) एवं उपनिदानसूत्र (पृ० २।९) में 'मध्येज्योति' नाम से इस का स्मरण है । उदाहरण में पादों (१२+८+१२) की स्थिति है—

पर्यू॒ षु प्र ध॑न्व॒ वाज॑सातये॒ परि॑ वृ॒त्राणि॑ स॒क्षणिः॑ ।
द्वि॒षस्त॒रध्या॑ ऋण॒या न॑ ईयसे ॥ ऋ० ९।११०।१॥
प्रथम पाद में एक अक्षर की पूर्ति व्यूहकृत है ॥९॥
यदि मध्य में एक जागत (द्वादशाक्षर) पाद हो और पूर्व एवं उत्तर पाद नौ अक्षर-

नववैराजत्रयोदशकैः युताम्
तां नष्टरूपां कवयो वदन्ति ।
"वि पृच्छामि पाक्या न देवान्"
पादैर्विराट् स्याद् दशकैस्त्रिभिश्च ॥११॥
इयं "पिबा सोमम्" इतीरितार्यैः
यद्वा स्युरेकादशकास्त्रयोऽपि ।
"अग्निं नरो दीधितिभिररण्योः"
"दुहीयन् मित्रधितये युवाकु" ॥१२॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

वाले हों, तो उस अनुष्टुप् का नाम 'काविराट्' होता है। इस का उदाहरण है—ता विद्वांसा हवामहे वाम् (ऋ० १।१२०।३)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।४०) तथा सर्वानुक्रमणी (६।५) में इस छन्द का निर्देश है। शौनक ने पादक्रम-निर्देश नहीं किया है (नवकौ द्वादशी द्व्यूना ता विद्वांसेति काविराट्), परन्तु भाष्यकार उव्वट ने—नवकौ आद्यन्तौ पादौ मध्ये च द्वादशी पादः—कहकर स्थिति स्पष्ट कर दी है। उदाहरण में पादों (९+१२+९) की स्थिति है—

ता विद्वांसा हवामहे वां ता नो विद्वांसा मन्म वेचेतमद्य ।
प्रार्चद् दयमानो युवाकुः ॥ ऋ० १।१२०।३ ॥१०॥

क्रमशः नवाक्षर, वैराज (दशाक्षर), त्रयोदशाक्षर पादों से युक्त छन्दों को कविजन 'नष्टरूपा अनुष्टुप्' कहते हैं। उदाहरण है—वि पृच्छामि पाक्या न देवान् (ऋ० १।१२०।४)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।४१) में कहा गया है—तेषामेकाधिकावन्त्यो नष्टरूपा विपृच्छामि। यहां शौनक ने अन्तिम दो पादों के क्रम-परिवर्तन को सूचित नहीं किया है, उव्वट ने भाष्य में स्पष्ट कर दिया है। सर्वानुक्रमणी (६।६) में पादक्रम निर्देशपूर्वक नष्टरूपा का उल्लेख है। उदाहरण में पादों (९+१०+१३) की स्थिति है—

वि पृच्छामि पाक्या न देवान् वषट्कृतस्याद्भुतस्य दस्रा ।
पातं च सह्यसो युवं च रभ्यसो नः ॥ ऋ० १।१२०।४॥

तीन दशाक्षर पादों से 'विराट् अनुष्टुप्'-नामक छन्द होता है। इस का उदहारण विद्वानों ने बताया है—पिबा सोमम् (ऋ० ७।२२।१)। अथवा तीनों ही पाद एकादशाक्षर हों, तो 'विराट् अनुष्टुप्' छन्द होता है। उदाहरण हैं—अग्निं नरो दीधितिभिररण्योः (ऋ० ७।१।१); दुहीयन् मित्रधितये युवाकु (ऋ० १।१२०।९)।

तृतीयोऽध्यायः

"प्र कृतान्यृजीषिणो [णः" अ]थ, व्याचिख्यासति माधवः ।
प्रदर्शयन् बृहत्यादेर्लक्षणानि पृथक् पृथक् ॥१॥

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।४२) तथा सर्वानुक्रमणी (६।७,८) में विराट् अनुष्टुप् का प्रतिपादन किया गया है। नियत अक्षरों से दो अक्षरों की न्यूनता होने पर सभी छन्दों के विशेषण के रूप में भी विराट् शब्द का प्रयोग होता है (द्र०—इसी अनुक्रमणी का १।१०); जैसे विराट् गायत्री (२२ अक्षर)। प्रथम उदाहरण में पादों (१०+१०+१०) की स्थिति है—

पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः ।
सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥ ऋ० ७।२२।१॥

यहां दूसरे चरण में व्यूह से दस अक्षर हैं। दूसरे तथा तीसरे उदाहरणों के पादों (११+११+११) की स्थिति है—

अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर् हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम् ।
दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम् ॥ ऋ० ७।१।१॥

दृहीयन् मित्रधितये युवाकु राये च नो मिमीतं वाजवत्यै ।
इषे च नो मिमीतं धेनुमत्यै ॥ ऋ० १।१२०।९॥

अनुष्टुप् छन्द का विस्तृत विवरण 'वैदिक छन्दोमीमांसा' (पृ० १३५-१३९) में देखा जा सकता है ॥११-१२॥

(अनुष्टुप्-प्रकरण समाप्त)

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

—:o:—

तृतीयोऽध्यायः

बृहती आदि छन्दों के लक्षण पृथक्-पृथक् दिखाता हुआ माधव 'प्र कृतान्यृजीषिणः' (ऋ० ८।३२।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

पदैः समेता बृहती चतुर्भि—
स्त्रयोऽष्टका द्वादशकस्तृतीयः ।
सा स्याद् "अभि त्वे[त्वा]" इ]ति रथन्तराद्या
सोक्ता निदानेऽपि च स्कन्धोग्रीवी ॥२॥
यस्या भवेद् द्वादशकः पुरस्तात्
सोक्ता पुरस्ताद् बृहतीति विप्रैः ।
"महो यस्पतिः शवसो असाम्या"
तस्मिन् द्वितीये बहुधा प्रवादः ॥३॥

चार पादों से युक्त बृहती छन्द होता है । उस में यदि तीन पाद अष्टाक्षर हों और तृतीय पाद द्वादशाक्षर हो, तो वह 'रथन्तरा बृहती' कही जाती है । निदान में उस को 'स्कन्धोग्रीवी' भी कहा गया है । उदाहरण है—अ॒भि त्वा (ऋ० ८।३।७) ।

शौनक (ऋ० प्रा० १६।४५) और कात्यायन (सर्वा० ७।१) ने सामान्य बृहती के अन्तर्गत ही रथन्तरा बृहती को भी रखा है । पिङ्गल (सूत्र ३।२७); पतञ्जलि (निदान १।२) तथा गार्ग्य (उपनिदान पृ० २।११) ने इसे 'पथ्या बृहती' कहा है । निदानसूत्रकार ने—अपि च स्कन्धोग्रीवीति कहकर इसी को स्कन्धोग्रीवी नाम भी दिया है । आचार्यों का अनुमान है कि यहां पाठविपर्यास हुआ है (द्र०—वैदिक छन्दोमीमांसा पृ० १४३) । उदाहरण में पादों (८+८+१२+८) की स्थिति है—

अ॒भि त्वा॑ पू॒र्वपी॑तय॒ इन्द्र॒ स्तोमे॑भिरा॒यवः॑ ।
स॒मी॒ची॒नास॑ ऋ॒भवः॒ सम॑स्वरन् रु॒द्रा गृ॑णन्त॒ पूर्व्य॑म् ॥ऋ० ८।३।७॥
यहां अन्तिम चरण में व्यूहकृत अक्षरपूर्ति है ॥२॥

जिस बृहती का प्रथम पाद बारह अक्षरों का हो (और शेष आठ-आठ अक्षरों के हों), उस को विद्वानों ने 'पुरस्ताद्बृहती' कहा है । उदाहरण है—म॒हो यस्पति॒ः शव॑सो॒ असा॒म्या (ऋ० १०।२२।३) । द्वितीय पाद के बारह अक्षरोंवाला होने पर बहुत विवाद है ।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।४६); सर्वानुक्रमणी (७।२); पिङ्गलसूत्र (३।३२); निदानसूत्र (१।२); उपनिदानसूत्र (पृ० २।१७) में पुरस्ताद् बृहती का निरूपण किया गया है । उदाहरण में पादों (१२+८+८+८) की स्थिति है—

म॒हो यस्पति॒ः शव॑सो॒ असा॒म्या म॒हो नृ॒म्णस्य॑ तू॒तु॒जिः ।
भ॒र्ता वज्र॑स्य धृ॒ष्णोः पि॒ता पु॒त्रमि॑व प्रि॒यम् ॥ ऋ० १०।२२।३॥
यहां प्रथम तथा तृतीय पाद में एक-एक अक्षर की पूर्ति व्यूह से होती है ॥३॥

पिङ्गलस्य मते सा स्यान् महर्षेर्न्यङ्कुसारिणी।
स्कन्धोग्रीवी क्रौष्टुकेस्तु यास्कस्योरोबृहत्यपि ॥४॥
सा "मत्स्यपायि ते महः", अन्त्यो द्वादशको यदि।
उपरिष्टाद्बृहत्येषा, "न तमंहः" च तादृशी ॥५॥
यद्यष्टाक्षरयोर्मध्ये पादौ स्यातां दशाक्षरौ।
सा स्याद्विष्टारबृहती, "युवं ह्यास्तं महो" इति ॥६॥

महर्षि पिङ्गल के मत में वह (=द्वितीय पाद द्वादशाक्षर, शेष तीन पाद अष्टाक्षर) 'न्यङ्कुसारिणी' है। क्रौष्टुकि के मत में स्कन्धोग्रीवी और यास्क के मत में उरोबृहती है। उस का उदाहरण है—मत्स्यपायि ते महः (ऋ० १।१७५।१)। यदि अन्तिम पाद बारह अक्षरवाला हो (और शेष तीन आठ-आठ अक्षरवाले हों), तो वह 'उपरिष्टाद् बृहती' कहलाती है। उदाहरण है —न तमंहः (ऋ० १०।१२६।१)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।४६); सर्वानुक्रमणी (७।३); पिङ्गलसूत्र (३।२८—३०) तथा उपनिदानसूत्र (पृ० २।१३—१५) में न्यङ्कुसारिणी-स्कन्धोग्रीवी-उरोबृहती तीन संज्ञाएं दी गई हैं। निदानसूत्र (१।२) में स्कन्धोग्रीवी संज्ञा नहीं दी गई, वह पथ्या बृहती के साथ उल्लिखित है, जिस का निर्देश माधव ने दूसरी कारिका में किया है। उदाहरण में पादों (८+१२+८+८) की स्थिति है—

मत्स्यपायि ते महः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः।
वृषा ते वृष्ण इन्दुर् वाजी सहस्रसातमः ॥ ऋ० १।१७५।१॥

यहां प्रथम तथा तृतीय चरण में सात-सात अक्षर हैं। अतः व्यूह से प्रथम चरण में 'मत्सि अपायि' तथा तृतीय चरण में 'इन्दुर्' के रेफ का व्यूह करके अक्षरपूर्ति की गई है (षड्गुरुशिष्य)। उव्वट (ऋ० प्रा० १७।२३) के अनुसार 'इन्दुरु' व्यूह होगा।

'उपरिष्टाद् बृहती' का निरूपण ऋक्प्रातिशाख्य (१६।४६); सर्वानुक्रमणी (७।४); पिङ्गलसूत्र (३।३१); निदानसूत्र (१।२) तथा उपनिदानसूत्र (पृ० २।१६) में हुआ है। उदाहरण में पादों (८+८+८+१२) की स्थिति है—

न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम्।
सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयन्ति वरुणो अति द्विषः ॥ ऋ० १०।१२६।१॥

यहां दूसरे पाद में व्यूह से अक्षरपूर्ति की गई है ॥४-५॥

यदि दो अष्टाक्षर पादों के मध्य दो दशाक्षर पाद हों, तो वह 'विष्टारबृहती' छन्द होता है। जैसे—युवं ह्यास्तं महो (ऋ० १।१२०।७)।

त्रयो द्वादशका यस्यास्तामूर्ध्वबृहतीं विदुः ।
"अजीजनो अमृत" सा, "प्रत्नं पीयूषम्" इत्यपि ॥७॥
यदि त्वष्टाक्षरो मध्ये त्रयोदशकयोर्भवेत् ।
सा पिपीलिकमध्या स्यात्, "अभि वो वीरमन्धसः" ॥८॥

यह छन्द ऋक्प्रातिशाख्य (१६।४९) तथा सर्वानुक्रमणी (७।५) में वर्णित है। उदाहरण में पादों (८+१०+१०+८) की स्थिति है—

युवं ह्यास्तं महो रन् युवं वा यन्निरततंसतम् ।
ता नो वसू सुगोपा स्यातं पातं नो वृकादघायोः ॥ ऋ० १।१२०।७॥

यहां प्रथम तथा तृतीय पाद में एक-एक अक्षर की न्यूनता है, जो व्यूह से पूरी की जाती है। आचार्यों को तृतीय पाद के व्यूह में सन्देह है (द्र०—वैदिक छन्दोमीमांसा पृ० १४३)। आधुनिकों के मत में यह सम्भव है (द्र०—वेदिक मीटर पृ० ५) ॥६॥

जिस (बृहती) के तीन पाद द्वादशाक्षर हों, उसे 'ऊर्ध्वबृहती' छन्द मानते हैं। उदाहरण हैं—अजीजनो अमृत (ऋ० ९।११०।४) तथा प्रत्नं पीयूषम् (सा० उ० ७।१।१।३)।

इस छन्द को शौनक ने विराडूर्ध्वबृहती (ऋ० प्रा० १६।४७); कात्यायन ने ऊर्ध्वबृहती (सर्वा० ७।६); पिङ्गल तथा गार्ग्य ने सतोबृहती एवं महाबृहती (पिङ्गलसूत्र ३।३५,३६); (उपनिदानसूत्र पृ० ३।२,३) और पतञ्जलि ने त्रिपदा एवं सतोबृहती (निदानसूत्र १।२) नाम से स्मरण किया है। उदाहरण में पादों (१२+१२+१२) की स्थिति है—

अजीजनो अमृत मर्त्येष्वाँ ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः ।
सदासरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ॥ ऋ० ९।११०।४॥

उदाहरण के प्रथम चरण में व्यूह से दो अक्षरों की पूर्ति होती है। यद्यपि व्यूह के बिना भी उदाहरण मिलते हैं (द्र०—वैदिक छन्दोमीमांसा पृ० १४४), तथापि प्राचीन अचार्यों ने दोनों में कोई भेद नहीं किया है ॥७॥

यदि तेरह-तेरह अक्षरवाले दो पादों के बीच में एक पाद आठ अक्षरोंवाला हो, तो वह 'पिपीलिकमध्या बृहती' छन्द होता है। उदाहरण है—अभि वो वीरमन्धसः (ऋ० ८।४६।१४)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।५२) तथा सर्वानुक्रमणी (७।७) में इस छन्द का निरूपण किया गया है। पिङ्गल ने अल्पाक्षर मध्यपाद छन्द के विशेषण के रूप में पिपीलिकमध्या का विधान किया है (पिङ्गलसूत्र ३।५७)। उदाहरण में पादों (१३+८+१३) की स्थिति है—

अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महा विचेतसम् ।
इन्द्रं नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो यथा ॥ ऋ० ८।४६।१४॥८॥

"सनितः सुसनितरुग्र", नवाष्टैकादशाष्टकाः ।
बृहत्येषा तु विषमपदेति कवयो विदुः ॥९॥
"तं त्वा वयं पितो", सैषा चतुर्भिर्नवकैर्युता ।
बृहत्येवेति कथिता बृहत्यो नव बह्वृचैः ॥१०॥
भवन्ति पाङ्क्तानि पदानि पञ्च
तामाहुर् "इन्द्रो मदाय वावृधे" ।
पादैश्चतुर्भिर्दशकैर्विराट् स्यात्
"ऋतस्य पथि वेधा अपायि" ॥११॥

यदि क्रमशः नौ, आठ, ग्यारह, आठ अक्षरोंवाले पाद हों, तो उस को कविजन 'विषमपदा बृहती' मानते हैं । जैसे - सनितः सुसनितरुग्र (ऋ० ८।४६।२०) ।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।५३) तथा सर्वानुक्रमणी (७।८) में इस छन्द का निरूपण किया गया है । उदाहरण में पादों (९+८+११+८) की स्थिति है—

सनितः सुसनितरुग्र चित्र चेतिष्ठ सूनृत ।
प्रासहा सम्राट् सहुरिं सहन्तं भुज्युं वाजेषु पूर्व्यम् ॥ ऋ० ८।४६।२०॥

यहां अन्तिम चरण में व्यूह से अक्षरपूर्ति होती है ॥९॥

नौ-नौ अक्षरोंवाले चार पादों से युक्त छन्द को 'बृहती' ही कहते हैं । जैसे—तं त्वा वयं पितो (ऋ० १।१८७।११)। इस प्रकार ऋग्वेदियों ने नौ (रथन्तरा, पुरस्ताद् बृहती, उरोबृहती, उपरिष्टाद् बृहती, विष्टार, ऊर्ध्व, पिपीलिकमध्या, विषमपदा, बृहती) प्रकार के बृहती छन्द बताये हैं ।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।५०); सर्वानुक्रमणी (७।९); पिङ्गलसूत्र (३।३३); निदानसूत्र (१।२) तथा उपनिदानसूत्र (पृ० ३।१) में इस का निरूपण है । उदाहरण में पादों (९+९+९+९) की स्थिति है—

तं त्वा वयं पितो वचोभिर् गावो न हव्या सुषूदिम ।
देवेभ्यस्त्वा सधमादम् अस्मभ्यं त्वा सधमादम् ॥ ऋ० १।१८७।११॥

यहां तीसरे तथा चौथे पाद में व्यूह से अक्षरपूर्ति होती है । कात्यायन ने इस ऋक् को अनुष्टुप् तथा बृहती दोनों ही माना है । वैदिक छन्दोमीमांसा (पृ० १४०-१४५) में बृहती छन्द का विस्तृत निरूपण है ॥१०॥

(बृहती-प्रकरण समाप्त)

पङ्क्ति छन्द में पांच (अष्टाक्षर) पाद होते हैं । उस का उदाहरण है—इन्द्रो मदाय वावृधे

आद्यं पदं द्वादशकं तृतीयम्
अथाष्टकौ द्वौ भवतश्च पादौ।
सतोबृहत्याख्यमिदं वदन्ति
"न त्वा वाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवः" ॥१२॥

(ऋ० १।८१।१)। चार दशाक्षर पादों से 'विराट् पङ्क्ति' छन्द बनता है। उदाहरण है—ऋ॒तस्यं प॒थि वे॒धा अ॑पायि (ऋ० ६।४४।८)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।५४); सर्वानुक्रमणी (८।१) तथा निदानसूत्र (१।३) में 'पञ्चपदा पङ्क्ति' का उल्लेख है। पिङ्गलसूत्र (३।४८) तथा उपनिदानसूत्र (पृ० ४।४) में इस को 'पथ्या' कहा गया है। उदाहरण में पादों (८+८+८+८+८) की स्थिति है—

इन्द्रो॒ मदा॑य वावृधे॒ शव॑से वृत्र॒हा नृभि॑ः।
तस्मि॑न् मह॒त्स्वा॒जिषु॒ तेमर्मे॑ हवामहे॒ स वाजे॑षु॒ प्र नो॑ऽविषत् ॥ ऋ० १।८१।१॥
यहां तीसरे-चौथे चरणों की अक्षरपूर्त्ति व्यूह से होती है।

'विराट् पङ्क्ति' का निर्देश ऋक्प्रातिशाख्य (१६।५५); सर्वानुक्रमणी (८।२,३) तथा उपनिदानसूत्र (पृ० ३।७) में हुआ है। उदाहरण में पादों (१०+१०+१०+१०) की स्थिति है—

ऋ॒तस्यं प॒थि वे॒धा अ॑पायि श्रि॒ये मनां॑सि दे॒वासो॑ अक्रन्।
दधा॑नो नाम॑ म॒हो वचो॑भि॒र् वपु॑र्दृ॒शये॑ वे॒न्यो व्या॑वः॥ ऋ० ६।४४।८॥
यहां चतुर्थ पाद के अक्षरों की पूर्ति व्यूह से होती है ॥११॥

प्रथम तथा तृतीय पाद बारह-बारह अक्षरवाले हों और शेष दो पाद आठ-आठ अक्षरवाले हों, तो उस छन्द को 'सतोबृहती पङ्क्ति' कहते हैं। जैसे—न त्वावाँ॑ अ॒न्यो दि॒व्यो न पार्थि॑वः (ऋ० ७।३२।२३)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।५७) तथा सर्वानुक्रमणी (८।४) में इस छन्द का निर्देश है। पिङ्गलसूत्र (३।३८) तथा उपनिदानसूत्र (पृ० ३।१५) में इसको 'सतः पङ्क्ति' कहा गया है। उपनिदानसूत्र (पृ० ३।१६) में इसको सिद्धापङ्क्ति और ताण्डिन के अनुसार विष्टारपङ्क्ति भी कहा गया है। पिङ्गल (३।३६) ने ताण्डिन के मत से महाबृहती को सतोबृहती कहा है। निदानसूत्र (१।३) में इस छन्द का नाम सिद्धाविष्टारपङ्क्ति बताया गया है है। उदाहरण में पादों (१२+८+१२+८) की स्थिति है—

न त्वावाँ॑ अ॒न्यो दि॒व्यो न पार्थि॑वो॒ न जा॒तो न ज॑निष्यते।
अ॒श्वा॒यन्तो॑ मघवन्निन्द्र वा॒जिनो॑ ग॒व्यन्त॑स्त्वा हवामहे ॥ऋ० ७।३२।२३॥
यहां प्रथम पाद में एक अक्षर की न्यूनता व्यूह से पूर्ण की जाती है ॥१२॥

विपर्यये सा विपरीतनाम्नी
तत्राष्टकावाद्यतृतीयपादौ ।
तामाहुर् "य ऋष्वः श्रावयत्सखा"
प्रस्तारपङ्क्तेरथ पादक्लृप्तिः ॥१३॥
आद्यौ पादौ जागतावष्टकौ च
"उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः" ।
आस्तारपङ्क्तिर्विपरीतपादा
'अग्निं न' सूक्तं कथयन्ति सर्वम् ॥१४॥

विपर्यय होने पर वह 'विपरीत पङ्क्ति' नामवाली होती है। उसमें प्रथम और तृतीय पाद आठ-आठ अक्षरवाले होते हैं, (और द्वितीय-चतुर्थ पाद द्वादशाक्षर होते हैं)। उदाहरण है—य ऋ॒ष्वः श्रा॑वयत्स॑खा (ऋ० ८।४६।१२)। इसके अनन्तर प्रस्तारपङ्क्ति नामक छन्द के पादों की कल्पना (अगली कारिका में बताई गई) है।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।५८); सर्वानुक्रमणी (८।५) तथा निदानसूत्र (१।३) में यह छन्द निर्दिष्ट है। पिङ्गलसूत्र (३।३९) तथा उपनिदानसूत्र (पृ० ३।१५) में इसको भी 'सतःपङ्क्ति' ही कहा गया है। उपनिदानसूत्र (पृ० ३।१६,१७) में इसको भी सिद्धा एवं विटाष्टारपङ्क्ति नाम दिया गया है। उदाहरण में पादों (८+१२+८+१२) की स्थिति है—

य ऋ॒ष्वः श्रा॑वयत्स॑खा विश्वेत् स वेद॒ जनि॑मा पुरुष्टुतः ।
तं विश्वे॒ मानु॑षा यु॒गे— न्द्रं हवन्ते तवि॒षं य॒तस्रु॑चः ॥ ऋ० ८।४६।१२॥
यहां चौथे पाद में व्यूह से बारह अक्षर होते हैं ॥१३॥

'प्रस्तार पङ्क्ति' के पादों का क्रम है—आदिवाले दो पाद (प्रथम-द्वितीय) जागत (=द्वादशाक्षर) होते हैं, और विशेष दो (तृतीय-चतुर्थ) पाद आठ-आठ अक्षरवाले होते हैं। जैसे—उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः (ऋ० १०।१८।११)। इसके विपरीत पादक्रम होने पर (अर्थात् प्रथम-द्वितीय पाद अष्टाक्षर तथा तृतीय-चतुर्थ पाद द्वादशाक्षर) छन्द का नाम 'आस्तारपङ्क्ति' होता है। अग्निं न (ऋ० १०।२१।१) इस सम्पूर्ण सूक्त को इस छन्द का उदाहरण बताते हैं।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।६०); सर्वानुक्रमणी (८।६); पिङ्गलसूत्र (३।४०); निदानसूत्र (१।३) तथा उपनिदानसूत्र (पृ० ३।११) में 'प्रस्तारपङ्क्ति' छन्द का निर्देश है। उदाहरणों में पादों (१२+१२+८+८) की स्थिति है—

आद्यान्त्यौ चेज्जागतौ सम्प्रदिष्टा
संस्तारपङ्क्तिः कविभिः पुराणैः ।
निदर्शनम् "पितुभृतो न तन्तु—
मित्" नु प्रदिष्टमिह शौनकेन ॥१५॥
आम्नायते च द्विपदासु सेयम्
अधीयते च द्विपदैव विप्रैः ।
संस्तारपङ्क्तिश्च भवेत् समस्ता
विष्टारपङ्क्तेरथ पादक्लृप्तिः ॥१६॥

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना ।
माता पुत्रं यथा सिचा ऽभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ऋ० १०।१८।११॥

यहां चतुर्थ पाद में व्यूह से आठ अक्षर होते हैं ।

'आस्तारपङ्क्ति' का निरूपण ऋक्प्रातिशाख्य (१६।५९); सर्वानुक्रमणी (८।७); पिङ्गल-सूत्र (३।४१); निदानसूत्र (१।३) तथा उपनिदानसूत्र (३।१२) में किया गया है । उदाहरण में पादों (८+८+१२+१२) की स्थिति है—

अग्निं न स्ववृक्तिभिर् होतारं त्वा वृणीमहे ।
यज्ञाय स्तीर्णबर्हिषे वि वो मदे शीरं पावकशोचिषं विवक्षसे ॥ ऋ० १०।२१।१॥ ॥१४॥

यदि प्रथम तथा अन्तिम पाद जागत (द्वादशाक्षर) हों और (मध्य दो पाद अष्टाक्षर हों), तो प्राचीन कवियों ने उसे 'संस्तारपङ्क्ति' नाम से निर्दिष्ट किया है । शौनक ने (ऋ० प्रा० १६। ६३) इस का उदाहरण बताया है—पितुभृतो न तन्तुमित् (ऋ० १०।१७२।२) ।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।६१); सर्वानुक्रमणी (८।८); पिङ्गलसूत्र (३।४३); निदानसूत्र (१।३) तथा उपनिदानसूत्र (पृ० ३।१४) में इस छन्द का निर्देश है । उदाहरण में पादों (१२+८+८+१२) की स्थिति है—

पितुभृतो न तन्तुमित् सुदानवः प्रतिदध्मो यजामसि ।
उषा अप स्वसुस्तमः संवर्तयति वर्तनिं सुजातता ॥ ऋ० १०।१७२।२ ॥१५॥

यह (पूर्व कारिका में उदाहृत) ऋक् द्विपदा ऋचाओं में उपदिष्ट है और विद्वान् भी इसको द्विपदा के रूप में ही पाठ करते हैं । परन्तु दो द्विपदाओं को एक साथ पढ़ने पर इस का छन्द 'संस्तारपङ्क्ति' होता है । अब (अगली कारिका में) विष्टारपङ्क्ति छन्द के पादों की कल्पना बताई जायेगी ।

अनुष्टुभोर्द्वादशकौ च मध्ये
सा चेयम् "अग्ने तव श्रवो वयः"।
विष्टारपङ्क्तिश्च निदानकारो
विष्टब्धावेतौ पङ्क्तिपादाविति ॥१७॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

—:०:—

चतुर्थोऽध्यायः

'त्वावतः पुरूवसो', व्याचिख्यासति माधवः।
प्रदर्शयँस्त्रिष्टुबादेर्लक्षणानि पृथक् पृथक् ॥१॥

द्विपदाओं के विषय में पञ्चम अष्टक के पञ्चम अध्याय की तेइसवीं कारिका में विचार किया जा चुका है ॥१६॥

अनुष्टुप् के दो अष्टाक्षर पादों के बीच में बारह-बारह अक्षर के दो पाद हों, तो उसे 'विष्टार-पङ्क्ति छन्द कहते हैं। निदानकार ने भी उसको 'विष्टारपङ्क्ति' ही कहा है, क्योंकि ये दोनों पङ्क्ति-पाद विष्टब्ध (मध्य पादों से बन्धे हुए) हैं। जैसे—अग्ने तव श्रवो वयः (ऋ० १०।१४०।१)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।६२); सर्वानुक्रमणी (८।६); पिङ्गलसूत्र (३।४२); निदानसूत्र (१।३) तथा उपनिदानसूत्र (पृ० ३।१३) में 'विष्टारपङ्क्ति' छन्द का निरूपण है। निदानकार पतञ्जलि ने भी दो पादों को 'विष्टब्ध से' कहा है (विष्टब्धाविवैतौ पङ्क्तिपादाविति)। उदाहरण में पादों (८+१२+१२+८) की स्थिति है—

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे ॥ ऋ० १०।१४०।१॥

यहां तृतीय पाद में एक अक्षर न्यून है, जिसकी पूर्त्ति व्यूह से होती है। पङ्क्ति छन्द का विशद निरूपण वैदिक छन्दो-मीमांसा (पृ० १४६-१५२) में किया गया है ॥१७॥

(पङ्क्ति-प्रकरण समाप्त)

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

—:०:—

चतुर्थोऽध्यायः

त्रिष्टुप् आदि छन्दों के लक्षणों को पृथक्-पृथक् दिखाता हुआ माधव 'त्वावतः पुरूवसो' (ऋ० ८।४६।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

स्यात् त्रिष्टुबेकादशकैश्चतुर्भिः
"कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम्" ।
पदे यदि द्वे भवतस्तु जागते
वदन्ति सूक्तेन तदा व्यवस्थाम् ॥२॥
"यस्मै त्वमायजसे स साधति"
"ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वम्" ।
पूर्वानयोर्जागतसूक्तनिष्ठा
ततश्च सा जगती त्रिष्टुबन्या ॥३॥

चार एकादशाक्षर पादों से त्रिष्टुप् छन्द होता है। उदाहरण है—कस्यं नूनं कतमस्यामृतानाम् (ऋ० १।२४।१)। यदि दो पाद जागत (=द्वादशाक्षर) होते हैं, तो सूक्त के अनुसार व्यवस्था होती है।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।६४); सर्वानुक्रमणी (६।१) तथा निदानसूत्र (१।४) में यह छन्द वर्णित है। उदाहरण में पादों (११+११+११+११) की स्थिति निम्न प्रकार है—

कस्यं नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारुदेवस्य नामं ।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥ ऋ० १।२४।१॥

किसी ऋक् में यदि दो पाद बारह-बारह अक्षरवाले हों, और दो पाद ग्यारह-ग्यारह अक्षर-वाले हों, तो सूक्त में अधिकांश ऋचाएं जिस छन्द (त्रिष्टुप् या जगती) में होती हैं, वह ऋक् भी उसी छन्दवाली मानी जाती है। उदाहरण अगली कारिका में दिया है ॥२॥

यस्मै त्वमायजसे स साधति (ऋ० १।९४।२); ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वम् (ऋ० १।१६२।१२) इन दोनों ऋचाओं में से पहली जागत (=जगती छन्दवाले) सूक्त में स्थित है, इस लिए वह जगती है। दूसरी त्रिष्टुप् है (क्योंकि वह त्रिष्टुप् छन्दवाले सूक्त में स्थित है)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।६५) तथा सर्वानुक्रमणी (६।२,३) में इस छन्द का निर्देश है। ऋ० १।९४ सूक्त में अन्तिम दो ऋचाओं को छोड़कर सभी ऋचाएं जगती छन्द में निबद्ध हैं। उदाहृत ऋक् का तीसरा (व्यूह से) तथा चौथा चरण द्वादशाक्षर है, और पहला-दूसरा चरण एकादशाक्षर हैं। सूक्त के अनुसार इसको जगती माना गया है। ऋ० १।१६२ ,सूक्त प्रायः त्रिष्टुप् छन्द में निबद्ध है। उदाहृत ऋक् भी त्रिष्टुप् है। इस में पादों (११+११+१२+१२) की स्थिति है—

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति ।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु ॥ ऋ० १।१६२।१२॥ ॥३॥

वैराजौ जागतौ चोभौ तां विद्यादभिसारिणीम् ।
"यो वाचा विवाचः" इति, तत्रोदाहरणं विदुः ॥४॥
नवकौ दशकश्चैकश्चतुर्थस्त्रैष्टुभस्तथा ।
सा स्यात् त्रिष्टुब्विराट्स्थाना, "स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः" ॥५॥
अपि वा दशकौ स्यातां नवकः त्रैष्टुभस्तथा ।
विराट्स्थानैव सा, "श्रुधी हवमिन्द्र मा रिषण्यः" ॥६॥

यदि दो पाद वैराज (=दशाक्षर) और दो पाद जागत (=द्वादशाक्षर) हों, तो उसे 'अभिसारिणी त्रिष्टुप्' समझें। इसका उदाहरण है—यो वाचा विवाचः (ऋ० १०।२३।५)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।६६) तथा सर्वानुक्रमणी (६।४) में इस छन्द का निरूपण किया गया है। उदाहरण में पादों (१०+१०+१२+१२) की स्थिति है—

यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान ।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः ॥ ऋ० १०।२३।५॥

तीसरे चरण में व्यूह के द्वारा बारह अक्षर होते हैं ॥४॥

यदि दो पाद नौ-नौ अक्षरवाले हों, एक पाद दस अक्षरवाला हो, तथा चतुर्थ पाद त्रैष्टुभ (ग्यारह अक्षरवाला) हो, तो वह 'विराट्स्थाना त्रिष्टुप्' छन्द होता है। उदाहरण है—स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः (ऋ० १।८९।६)।

ऋक्प्रातिशाक्य (१६।६७) तथा सर्वानुक्रमणी (६।५) में इस छन्द का निर्देश हुआ है। उदाहरणों में पादों (९+९+१०+११) की स्थिति है—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ऋ० १।८९।६॥

यहां चौथे पाद में व्यूह से अक्षरपूर्ति होती है ॥५॥

अथवा दो पाद दस-दस अक्षरोंवाले हों, एक पाद नौ अक्षरवाला तथा एक पाद त्रैष्टुभ (=ग्यारह अक्षरोंवाला) हो, तो वह भी 'विराट्स्थाना त्रिष्टुप्' ही है। उदाहरण है—श्रुधी हवमिन्द्र मा रिषण्यः (ऋ० २।११।१)।

इस छन्दोभेद का निरूपण भी पूर्व कारिका में उक्त ऋक्प्रातिशाख्य एवं सर्वानुक्रमणी में किया गया है। [कारिका में पादों की अक्षरसंख्या बताई गई है, क्रम नहीं]। उदाहरण में पादों (१०+९+१०+११) की स्थिति है—

श्रुधी हवमिन्द्र मा रिषण्यः स्याम ते दावने वसूनाम् ।
इमा हि त्वामूर्जो वर्धयन्ति वसूयवः सिन्धवो न क्षरन्तः ॥ ऋ० २।११।१॥ ॥६॥

पादा यदेकादशिनस्त्रयः स्युः
"तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः" ।
पादश्चतुर्थश्च तथाष्टकः स्याद्
विराड्रूपां तां कथयन्ति सन्तः ॥७॥
त्रयो यदि द्वादशिनोऽष्टकोऽन्त्यो
ज्योतिष्मतीं तां कवयो वदन्ति ।
तज्ज्योतिषञ्चापि यतोऽष्टकं स्यात्
पुरस्ताज्ज्योतिर्मध्येज्योतिरिति ॥८॥
"इमे त इन्द्र ते वयं ये त्वारभ्य चरामसि" ।
इत्यध्ययनमेकेषां मुख्यः पादस्तदाष्टकः ॥९॥

यदि तीन पाद ग्यारह-ग्यारह अक्षरवाले हों, तथा चतुर्थ पाद आठ अक्षरवाला हो, तो उसको विद्वान् 'विराड्रूपा त्रिष्टुप्' कहते हैं। उदाहरण है—तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः (ऋ० ३।२१।४)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।६९) तथा सर्वानुक्रमणी (९।६) में इस छन्द का निर्देश है। उदाहरण में पादों (११+११+११+८) की स्थिति है—

तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः स्तोकासो अग्ने मेदसो घृतस्य।
कविशस्तो बृहता भानुनागा हव्या जुषस्व मेधिर॥ ऋ० ३।२१।४॥ ॥७॥

यदि तीन पाद बारह-बारह अक्षरवाले हों, और अन्तिम पाद आठ अक्षरवाला हो, तो उसको कवि 'ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्' कहते हैं। ज्योति अष्टाक्षर पाद के अनुसार होती है, जैसे पुरस्ताज्ज्योति (प्रथम पाद अष्टाक्षर); मध्येज्योति (मध्य पाद अष्टाक्षर) इत्यादि।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।७०); सर्वानुक्रमणी (९।७,८) तथा उपनिदानसूत्र (पृ० ४।१०) में 'ज्योतिष्मती' छन्द का निरूपण किया गया है। कारिका में 'अन्त्यः' के स्थान पर 'अन्यः' पाठ उपयुक्ततर होगा, आदि-मध्य-अन्त्य किसी भी पाद के अष्टाक्षर होने पर ज्योतिष्मती संज्ञा अभीष्ट है। निदानसूत्र (१।४) में अन्तिम पाद के अष्टाक्षर होने पर ही 'ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्' छन्द माना गया ह। पिङ्गल (३।५०, ५२, ५४) ने ज्योतिष्मती के तीनों प्रकारों का उल्लेख किया है। पिङ्गल के टीकाकार हलायुध ने त्रैष्टुभ के अनुसार ज्योति को मानकर व्याख्या की है ॥८॥

इमे त इन्द्र ते वयं ये त्वारभ्य चरामसि (तु०—ऋ० १।५७।४) ऐसा पाठ किसी शाखा के अध्येताओं द्वारा किया जाता है। तब प्रथम पाद आठ अक्षरवाला होता है, (अतः यह पुरस्ता-

अस्माकं तु जगत्येषा पुरुष्टुतपदान्विता ।
"यद्वा यज्ञं मनवे" इति, मध्येज्योतिरुदाहृता ॥१०॥
तृतीयेनापि पादेन मध्येज्योतिरियं भवेत् ।
"तदश्विना भिषजे[जा" इ]ति, सा ज्ञेयाध्वर्युवेदतः ॥११॥
उपरिष्टाज्ज्योतिरियम्, "अग्निनेन्द्रेण" कीर्तिता ।
पादोऽष्टकश्चतुर्थोऽस्याः, "सोमं पिबतमश्विना" ॥१२॥
पदानि चत्वारि यदाष्टकानि
महाबृहत्युक्तिमियं लभेत ।

ज्ज्योति का उदाहरण हो सकता है) । हमारी शाखा के अनुसार तो यह जगती है, क्योंकि इसमें 'पुरुष्टुत' पद भी विद्यमान है ।

ऋग्वेद की शाकल शाखा में उपर्युक्त ऋक् का पाठ है—

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत् क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद् वचः ॥ ऋ० १।५७।४॥

इस ऋक् के प्रत्येक चरण में बारह-बारह अक्षर हैं, अतः यह जगती है । किसी शाखा में 'पुरुष्टुत' शब्दरहित पाठ देखकर माधव ने उसे 'पुरस्ताज्ज्योति त्रिष्टुप्' माना है ।

यद्वा यज्ञं मनवे (ऋ० ८।१०।२) यह 'मध्येज्योति त्रिष्टुप्' का उदाहरण है । यह 'मध्येज्योति त्रिष्टुप्' छन्द तृतीय पाद से भी हो सकता है । यजुर्वेद से इसका उदाहरण दिया जाता है —तदश्विना भिषजा (मा० सं० १९।८२) ।

उदाहृत ऋक् में पादों (१२+८+१२+१२) की स्थिति है—

यद्वा यज्ञं मनवे संमिमिक्षथुर् एवेत् काण्वस्य बोधतम् ।
बृहस्पतिं विश्वान् देवाँ अहं हुव इन्द्राविष्णू अश्विनावाशुहेषसा ॥ ऋ० ८।१०।२॥

यजुर्वेदीय ऋक् के पादों (१२+१२+८+१२) की स्थिति है—

तदश्विना भिषजा रुद्रवर्तनी सरस्वती वयति पेशो अन्तरम् ।
अस्थि मज्जानं मासरैः कारोतरेण दधतो गवां त्वचि ॥ मा० सं० १९।८२॥ ॥९-११॥

अग्निनेन्द्रेण (ऋ० ८।३५।१) यह ऋक् 'उपरिष्टाज्ज्योति त्रिष्टुप्' कही गई है । इस का चौथा पाद आठ अक्षरवाला है—सोमं पिबतमश्विना ।

उदाहृत ऋक् में पादों (१२+१२+१२+८) की स्थिति है—

अग्निनेन्द्रेण वरुणेन विष्णुना ऽऽदित्यै रुद्रैर्वसुभिः सचाभुवा ।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना ॥ ऋ० ८।३५।१॥ ॥१२॥

जब चार पाद आठ-आठ अक्षरवाले और प्रथम पाद बारह अक्षरवाला हो, तो वह त्रिष्टुप्

आद्यं पदं द्वादशकं च तस्याः
"नमोवाके प्रस्थिते अध्वरे नराः" ॥१३॥
मुख्यावष्टाक्षरौ यस्यास्तृतीयो द्वादशाक्षरः ।
पुनर्द्वावष्टकौ स्यातां यवमध्येति तां विदुः ॥१४॥
सा "सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः" ।
अथाद्यौ दशकौ पादावष्टकाश्च ततस्त्रयः ॥१५॥
पङ्क्त्युत्तरेति तामाहुर्विराट्पूर्वामथापरे ।
"एवेन्द्राग्निभ्यामहावि", त्रिष्टुभो दश कीर्तिताः ॥१६॥

छन्द 'महाबृहती' संज्ञा को प्राप्त करता है। उदाहरण है—नमोवाके प्रस्थिते अध्वरे नराः (ऋ० ८।३५।२३)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।७१) तथा सर्वानुक्रमणी (६।६) में इस छन्द का प्रतिपादन किया गया है। पिङ्गल (३।५१,५२) ने इस को 'पुरस्ताज्ज्योति जगती' नाम से स्मृत किया है। उदाहरण में पादों (१२+८+८+८+८) की स्थिति है—

नमोवाके प्रस्थिते अध्वरे नरा विवक्षणस्य पीतये।
आयातमश्विनागतम् अवस्युर्वामहं हुवे धत्तं रत्नानि दाशुषे॥ ऋ० ८।३५।२३॥ ॥१३॥

जिस के आरम्भिक दो पाद आठ-आठ अक्षरवाले, तृतीय पाद बारह अक्षरवाला, पुनः दो पाद आठ-आठ अक्षरवाले हों, उस को 'यवमध्या त्रिष्टुप्' मानते हैं। उदाहरण है—सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः (ऋ० १।१०५।८)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।७२) तथा सर्वानुक्रमणी (६।१०) में यह छन्द निर्दिष्ट है। पिङ्गल (३।५१,५३) ने इसे 'मध्येज्योति जगती' कहा है। उदाहरण में पादों (८+८+१२+८+८) की स्थिति है—

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः।
मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो वित्तं मे अस्य रोदसी॥
ऋ० १।१०५।८॥

यहां पहले पाद में एक तथा तीसरे पाद में दो अक्षरों की न्यूनता को व्यूह से पूर्ण किया गया है ॥१४-१५॥

आदिम दो पाद दस-दस अक्षरवाले और तदनन्तर तीन पाद आठ-आठ अक्षरवाले हों, तो उस को 'पङ्क्त्युत्तरा त्रिष्टुप्' कहते हैं। दूसरे आचार्य उस को 'विराट्पूर्वा' कहते हैं। जैसे—एवेन्द्राग्निभ्यामहावि (ऋ० ५।८६।६)। इस प्रकार त्रिष्टुप् के दस भेद कहे गये।

चत्वारो द्वादशाः पादा यदि स्युर्जगती भवेत् ।
"जनस्य गोपा अजनिष्टे[ष्ट", "[इ]मं स्तोमम्" इमे यथा ॥१७॥
अष्टाक्षरस्त्रयः पादा द्वौ च द्वादशकौ यदा ।
महासतोबृहतीत्युक्ता[क्ता "आ]यः पप्रौ भानुने[ना' इ]ति सा ॥१८॥

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।६८) तथा सर्वानुक्रमणी (६।११) में इस छन्द का निरूपण है। उदाहरण में पादों (१०+१०+८+८+८) की स्थिति है—

एवेन्द्राग्निभ्यामहावि हव्यं शूष्यं घृतं न पूतमद्रिभिः ।
ता सूरिषु श्रवो बृहद् रयिं गृणत्सु दिधृतम् इषं गृणत्सु दिधृतम् ॥
ऋ० ५।८६।६॥१५-१६॥

इस प्रकरण में माधव ने चतुष्पदा त्रिष्टुप्, जागती त्रिष्टुप्, अभिसारिणी, विराट्स्थाना, विराड्रूपा, मध्येज्योति, उपरिष्टाज्ज्योति, महाबृहती, यवमध्या, पङ्क्त्युत्तरा (विराट् पूर्वा)— इन दस त्रिष्टुप्-भेदों का विवरण प्रस्तुत किया है। वैदिक छन्दो-मीमांसा (पृ० १५३-१६१) में त्रिष्टुप् का विस्तृत वर्णन किया गया है।

(त्रिष्टुप्-प्रकरण समाप्त)

यदि बारह-बारह अक्षरोंवाले चार पाद हों, तो वह 'जगती' छन्द होता है। जैसे ये दो ऋचाएं—जनस्य गोपा अजनिष्ट (ऋ० ५।११।१); इमं स्तोमम् (ऋ० १।९४।१)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।७४); सर्वानुक्रमणी (१०।१); निदानसूत्र (१।४) तथा उपनिदानसूत्र (पृ० ४।५) में इस छन्द का निर्देश है। उदाहरणों में पादों (१२+१२+१२+१२) की स्थिति है—

जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविर् अग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे ।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद् विभाति भरतेभ्यः शुचिः ॥ ऋ० ५।११।१॥

यहां चतुर्थ चरण में एक अक्षर की न्यूनता व्यूह से पूर्ण की गई है।

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया ।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसदि अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥ ऋ० १।९४।१॥

तृतीय चरण के अन्त में व्यूह के द्वारा अक्षरपूर्ति करके यहां पाठ दर्शाया गया है ॥१७॥

जब तीन पाद आठ-आठ अक्षरवाले और दो पाद बारह-बारह अक्षरवाले हों, तो 'महासतो बृहती जगती' छन्द कहा जाता है। जैसे—आ यः पप्रौ भानुना (ऋ० ६।४८।६)।

अष्टकौ सप्तकः षट्को दशको नवकस्तथा ।
"सूर्ये विषमा सजामि", महापंक्तिं वदन्ति ताम् ॥१९॥
षट्स्वष्टकेष्वपि तथा, "अव द्रके अव त्रिका" ।
"उभे यदिन्द्र रोदसी", जगत्यस्तिस्र ईरिताः ॥२०॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

—:०:—

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।७७) तथा सर्वानुक्रमणी (१०।२) में यह छन्द वर्णित है। निदानसूत्र (१।४) तथा उपनिदानसूत्र (पृ० ४।६)में इसको 'पञ्चपदा' कहा गया है। पिङ्गल ने इसका उल्लेख नहीं किया। उदाहरण में पादों (१२+८+१२+८+८) की स्थिति है—

आ यः पप्रौ भानुना रोदसी उभे धूमेन धावते दिवि ।
तिरस्तमो ददृश ऊर्म्यास्वा श्यावास्वरुषो वृषा श्यावा अरुषो वृषा॥ ऋ० ६।४८।६॥

इस ऋक् में तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम पाद में अक्षरपूर्ति व्यूह से होती है ॥१८॥

दो पाद अष्टाक्षर, एक पाद सप्ताक्षर, एक पाद षडक्षर, एक पाद दशाक्षर तथा एक पाद नवाक्षर हो, तो उसको 'महापंक्ति जगती' कहते हैं। उदाहरण है—सूर्ये विषमा सजामि (ऋ० १।१९१।१०)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।७६) तथा सर्वानुक्रमणी (१०।३) में इस छन्द का वर्णन है। उदाहरण में पादों (८+८+७+६+१०+९) की स्थिति है—

सूर्ये विषमा सजामि दृतिं सुरावतो गृहे ।
सो चिन्नु न मराति नो वयं मरामा ऽऽरे अस्य योजनं हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार॥
ऋ० १।१९१।१०॥

यहां पांचवें चरण में व्यूह से अक्षरपूर्ति होती है ॥१९॥

छह अष्टाक्षर पादों के होने पर भी 'महापङ्क्ति जगती' छन्द होता है। उदाहरण हैं—अव द्रके अव त्रिका (ऋ० १०।५९।९); उभे यदिन्द्र रोदसी (ऋ० १०।१३४।१)। इस प्रकार जगती के तीन भेद बताये गये।

ऋक्प्रातिशाख्य (१६।७५) तथा सर्वानुक्रमणी (१०।३) में इस छन्द का निरूपण किया गया है। पिङ्गलसूत्र (३।४९); निदानसूत्र (१।४) तथा उपनिदानसूत्र (पृ० ४।६) में इसका स्मरण 'षट्पदा' नाम से किया गया है। उदाहरणों में पादों(८+८+८+८+८+८)की स्थिति है—

अव॑ द्व॒के अव॑ त्रि॒का दि॒वश्च॑रन्ति भेष॒जा ।
क्ष॒मा च॑रि॒ष्ण्वे॑क॒कं भर॑ता॒मप॒ यद्रपो॒ द्यौः पृ॑थिवि क्ष॒मा रपो॒ मो षु ते॒ किं च॒नाम॑मत् ॥
ऋ० १०।५९।९॥

यहां तीसरे चरण में एक अक्षर की न्यूनता व्यूह से पूर्ण की गई है ।

उ॒भे यदि॑न्द्र॒ रोद॑सी आप॒प्राथो॒षा इ॑व ।
म॒हान्तं॑ त्वा म॒हीनां॑ स॒म्राजं॑ चर्षणी॒नां दे॒वी जनि॑त्र्यजीजनद् भ॒द्रा जनि॑त्र्यजीजनत् ॥
ऋ० १०।१३४।१॥

यहां दूसरे, तीसरे तथा चौथे पाद में व्यूह से अक्षरपूर्ति होती है ।

चतुष्पदा, महासतोबृहती, महापङ्क्ति—ये तीन जगती-भेद यहां दर्शाये गये हैं । जगती का विशद वर्णन 'वैदिक छन्दोमीमांसा' (पृ० १६२–१६८) में किया गया है ॥२०॥

(जगती-प्रकरण समाप्त)

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

—:०:—

पञ्चमोऽध्यायः

"आ त्वा रथं यथोतये", व्याचिख्यासति माधवः ।
अतिच्छन्दस्सु वक्तव्यं द्विपदासु च दर्शयन् ॥१॥

पञ्चमोऽध्यायः

अतिच्छन्दों और द्विपदाओं के विषय में कथन योग्य बातों को कहता हुआ माधव 'आ त्वा रथं॒ यथो॒तये॑' (ऋ० ८।६८।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ।

द्वितीय सप्तक के छन्दों (अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अति-धृति) तथा तृतीय सप्तक के छन्दों (कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति, उत्कृति) को 'अतिच्छन्द' कहा जाता है । सर्वानुक्रमणी में प्रथम सप्तक के समान आरम्भ में इनका उल्लेख नहीं है (षड्गुरुशिष्य ने वेदार्थदीपिका में इनका निरूपण किया है), ऋचाओं में निर्देश मिलता है । ऋक्प्रातिशाख्य (१६।७६–९२); पिङ्गलसूत्र (४।१–७) तथा निदानसूत्र (१।५) में इन छन्दों के नाम तथा अक्षरसंख्या का उल्लेख है, पादविभाग का नहीं । उपनिदानसूत्र (पृ० ५।१५) में केवल नामों का उल्लेख है । वेङ्कट माधव तथा षड्गुरुशिष्य ने द्वितीय सप्तक की पादसंख्या एवं अक्षरसंख्या का निर्देश किया है । इन दोनों का आधार शौनक (?) प्रणीत 'पादविधान' है

त्रयः पादा जागताः स्युरष्टकौ च तथा परौ ।
आहुस्तामतिजगतीं, सा "प्र वो महे मतयः" ॥२॥
पदानि सप्त शक्वर्याः, सा "प्रो ष्वस्मै पुरोरथम्" ।
पदानि तत्राष्टकानि शृणुताप्यतिशक्वरीम् ॥३॥
पदे षोडशके पूर्वे जागतं च तथाष्टके ।
"साकं जातः क्रतुने [ना" इ]ति, पदैः पञ्चभिरन्विता ॥४॥

अडयार से प्रकाशित 'पादविधान' में १४ श्लोक हैं और अज्ञातकर्तृक भाष्य में ऋक्पाद उदाहृत हैं। 'वैदिक छन्दोमीमांसा' के ग्यारहवें अध्याय में अतिच्छन्दों का विस्तृत विवरण दिया गया है।॥१॥

तीन पाद जागत (द्वादशाक्षर) और अन्य दो पाठ आठ-आठ अक्षरवाले हों, तो उसको 'अतिजगती' कहते हैं। उदाहरण है—प्र वों मुहे मुतयः (ऋ० ५।८७।१)।

पादविधान (श्लोक ३) में इस छन्द के पादों का निर्देश है। ऋक्प्रातिशाख्य (१६।८०), पिङ्गलसूत्र, निदानसूत्र तथा उपनिदानसूत्र में नाम का उल्लेख है। वेदार्थदीपिका (पृ० ७६) में भी यही उदाहरण मिलता है, उव्वट ने भिन्न उदाहरण दिया है। सर्वानुक्रमणी में भी इस ऋक् को 'अतिजगती' कहा है। उदाहरण में पादों (१२+१२+१२+८+८) की स्थिति है—

प्र वों मुहे मुतयों यन्तु विष्णवे मुरुत्वते गिरिजा एवुयामरुत् ।
प्र शर्धाय प्रयज्यवे सुखादये तुवसे भुन्ददिष्टये धुनिव्रताय शवसे ॥
ऋ० ५।८७।१॥ ॥२॥

'शक्वरी' के सात पाद होते हैं, जो आठ-आठ अक्षरवाले होते हैं। उदाहरण है—प्रो ष्वस्मै पुरोरथम् (ऋ० १०।१३३।१)। अतिशक्वरी के विषय में भी सुनें (अगली कारिका में)।

पादविधान (श्लोक ३) में इसका निर्देश है। उव्वट आदि ने भी यही उदाहरण दिया है। सर्वानुक्रमणी में इस ऋक् को 'शक्वरी' कहा गया है। उदाहरण में पादों (८+८+८+८+८+८+८) की स्थिति है—

प्रो ष्वस्मै पुरोरथम् इन्द्राय शूषमर्चत ।
अभीके चिदु लोककृत् सङ्गे समत्सु वृत्रहा- ऽस्माकं बोधि चोदिता
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ऋ०१०।१३३।१॥

यहां पहले, पांचवें, छठे तथा सातवें पाद में व्यूह से अक्षरपूर्ति की गई है ॥३॥

प्रारम्भिक दो पाद सोलह-सोलह अक्षरवाले, एक पाद जागत (द्वादशाक्षर) तथा दो पाद

अष्टेस्त्रयः षोडशका अष्टकौ च तथोत्तमौ।
"त्रिकद्रुकेषु महिषः",इत्यष्टिं कवयो विदुः ॥५॥
"अग्निं होतारम्"अत्यष्टिः,जागतावष्टकास्त्रयः।
जागतश्चाष्टकश्चाथ सप्त पादा भवन्ति ते ॥६॥

आठ-आठ अक्षरोंवाले—इस प्रकार पांच पादों से युक्त 'अतिशक्वरी' छन्द होता है। जैसे—साकं जातः क्रतुना (ऋ० २।२२।३)।

पादविधान (श्लोक ४) में इस छन्द के पादों का निर्देश है। उव्वट ने भिन्न उदाहरण दिया है। सर्वानुक्रमणी में भी इस ऋक् को 'अतिशक्वरी' बताया गया है। उदाहरण में पादों (१६+१६+१२+८+८) की स्थिति है—

साकं जातः क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ साकं वृद्धो वीर्यैः सासहिर्मृधो विचर्षणिः।
दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु सैनं सश्चद् देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः॥
ऋ० २।२२।३॥

यहां दूसरे तथा तीसरे चरण में व्यूह से अक्षरपूर्ति होती है ॥४॥

'अष्टि' के तीन पाद सोलह-सोलह अक्षरवाले और अन्तिम दो पाद आठ आठ अक्षरवाले होते हैं। त्रिकद्रुकेषु महिषः (ऋ० २।२२।१) इस ऋक् को कविजन 'अष्टि' कहते हैं।

पादविधान (श्लोक ४, ५) में इसका निर्देश है। शौनक आदि ने भी यही उदाहरण दिया है। सर्वानुक्रमणी में भी इस ऋक् का छन्द 'अष्टि' कहा गया है। उदाहरण में पादों (१६+१६+१६+८+८) की स्थिति है—

त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृपत् सोममपिबद् विष्णुना सुतं यथावशत्।
स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद् देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः॥
ऋ० २।२२।१॥ ॥५॥

'अत्यष्टि'छन्द में दो पाद जागत (बारह-बारह अक्षरवाले),तीन पाद आठ-आठ अक्षरवाले, एक पाद जागत (द्वादशाक्षर) और एक पाद आठ अक्षरवाला—इस प्रकार सात पाद होते हैं। उदाहरण है—अग्निं होतारम् (ऋ० १।१२७।१)।

पादविधान (श्लोक ५) में इसका निर्देश है। सर्वानुक्रमणी में प्रकृत ऋक् का छन्द 'अत्यष्टि' कहा गया है। उव्वट ने भिन्न उदाहरण दिया है। उदाहरण में पादों (१२+१२+८+८+८+१२+८) की स्थिति है—

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्।

"अवर्मह इन्द्र" धृतिः, जागतावष्टकास्त्रयः ।
षोडशोऽथाष्टकश्चान्त्यः सप्त पादाः प्रकीर्तिताः ॥७॥
सप्तैवातिधृतेः पादाः, "स हि शर्धो न मारुतम्" ।
द्वादशकषोडशकावष्टका जागतोऽष्टकः ॥८॥

य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा ।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषा ऽऽजुह्वानस्य सर्पिषः ॥ ऋ० १।१२७।१॥

यहां पहले, चौथे तथा पांचवें चरणों में व्यूह से अक्षरपूर्ति होती है । छठे पाद में एक अक्षर अधिक है ॥६॥

'धृति' छन्द में दो पाद जागत (द्वादशाक्षर) ; तीन पाद आठ-आठ अक्षरवाले, एक पाद सोलह अक्षरवाला और अन्तिम पाद आठ अक्षरवाला—इस प्रकार सात पाद कहे गये हैं । उदाहरण है—अवर्मह इन्द्र (१।१३३।६) ।

पादविधान (श्लोक ५,६) में इसका निर्देश है । उव्वट ने भिन्न उदाहरण दिया है। सर्वानुक्रमणी के अनुसार इसका छन्द 'धृति' है । उदाहरण में पादों (१२+१२+८+८+८+१६+८) की स्थिति है—

अवर्मह इन्द्र दादृहि श्रुधी नः शुशोच हि द्यौः क्षा न भीषाँ अद्रिवो घृणान्न भीषाँ अद्रिवः
शुष्मिन्तमो हि शुष्मिभिर् वधैरुग्रेभिरीयसे
अपूरुषघ्नो अप्रतीत शूर सत्वभिस् त्रिसप्तैः शूर सत्वभिः ॥ ऋ० १।१३३।६॥

यहां छठे पाद में दो अक्षर की न्यूनता है । अतः विराट् धृति छन्द है, अथवा व्यूह से अक्षरपूर्ति होती है ॥७॥

'अतिधृति' छन्द के भी सात ही पाद होते हैं—एक पाद बारह अक्षरवाला, एक पाद सोलह अक्षरवाला, तीन पाद आठ-आठ अक्षरवाले, एक पाद जागत (द्वादशाक्षर) और एक पाद आठ अक्षरवाला । उदाहरण है—स हि शर्धो न मारुतम् (ऋ० १।१२७.६) ।

पादविधान (श्लोक ६,७) में अतिधृति के पादों का निर्देश इस प्रकार है—अथातिधृतौ द्वौ पादौ जागतौ ततस्त्रयोऽष्टका जागतश्च तथाष्टाक्षरकावपि (अर्थात् अतिधृति में दो पाद जागत, तीन अष्टाक्षर, एक जागत, दो अष्टाक्षर होते हैं) । इस प्रकार आठ पाद एवं ७६ अक्षर होते हैं । वेङ्कट माधव के अनुसार सात पाद एवं ७२ अक्षर होते हैं । शौनक (पादविधान), षड्गुरुशिष्य, माधव और उव्वट सभी ने समान ऋक् का उदाहरण दिया है' जिसमें केवल ६८ अक्षर हैं । कात्यायन ने भी उदाहृत ऋक् को 'अतिधृति' माना है । यह समस्या अभी समाधान की

चतुर्दशेत्थं कविभिः पुराणैः, छन्दांसि दृष्टानि समीरितानि ।
इयन्ति दृष्टानि तु संहितायाम्, अन्यानि वेदेष्वपरेषु सन्ति ॥९॥

चतुरधिकच्छन्दांसि दर्शितानि चतुर्दश ।
यानि दशतयीष्वासन्नुत्तराणि सुभेषजे ॥१०॥

कृतिः प्रकृतिराकृतिर्विकृतिः संकृतिस्तथा ।
षष्ठी चाभिकृतिर्नाम सप्तम्युत्कृतिरुच्यते ॥११॥

अपेक्षा रखती है (वैदिक छन्दोमीमांसा पृष्ठ १७८, १७९; वैदिकव्याकरण पृ० ९०८)। उदाहरण में पादों (१२+१६+७+८+७+११+७) की स्थिति है—

स हि शर्धो न मारु॑तं तुविष्वणिर् अप्न॑स्वतीषूर्व॒रास्वि॒ष्टनि॒रार्त॑नास्वि॒ष्टनिः॑ ।
आद॑द्ध॒व्यान्याद॒दिर् य॒ज्ञस्य॑ के॒तुर॒र्हणा॑ ।
अध॑ स्मास्य॒ हर्ष॑तो॒ हृषी॑वतो॒ विश्वे॑ जुषन्त॒ पन्थां॒ नरः॑ शु॒भे न पन्था॑म् ॥
ऋ० १।१२७।६॥ ॥८॥

इस प्रकार प्राचीन कवियों के द्वारा साक्षात्कृत चौदह छन्द यहां बता दिये गये है। ऋग्वेद संहिता (शाकल) में इतने ही छन्द देखे जाते हैं। अन्य छन्द दूसरे वेदों में हैं ॥९॥

चार-चार अक्षर की वृद्धि के क्रम से चौदह छन्द दिखाये गये, जो ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं। आगे दिखाये जानेवाले छन्द 'सुभेषज' (=अथर्ववेद) में मिलते हैं।

वेङ्कट माधव ने यह कारिका ऋक्प्रातिशाख्य (१६।८७,८८) के—सर्वा दाशतयीष्वेताः; उत्तरस्तु सुभेषजे —इन सूत्रों को दृष्टि में रखते हुए लिखी है और इसके पश्चात् ग्यारहवीं-बारहवीं कारिकाएं पूर्णतः ऋक्प्रातिशाख्य (१६।८९,९०) से उद्धृत की हैं। उपर्युक्त सूत्रों की व्याख्या में उव्वट ने 'सुभेषजे ऋक्षौ' लिखा है। परन्तु उस से 'सुभेषज' के अर्थ का बोध नहीं होता। अथर्ववेद ११।६।१४ में ऋचः, सामानि, भेषजा, यजूंषि पद प्रयुक्त हुए हैं। वहां 'भेषजा' पद अथर्ववेद के लिये हो प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। गोपथब्राह्मण के 'सौभेषजं छन्दः' (गो० ब्रा० १।५।२३) तथा प्रायश्चित्तैर्भेषजैः संप्लवन्तोऽथर्वाणोऽङ्गिरसश्च शान्ताः (गो० ब्रा० १।५।२४) इत्यादि सन्दर्भों से निश्चय होता है कि सुभेषज शब्द का अर्थ अथर्ववेद है ॥१०॥

कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति तथा संकृति, छठी अभिकृति और सातवीं उत्कृति कही जाती है।

पतञ्जलि (निदानसूत्र १।५) ने इन के नाम क्रमशः सिन्धु, सलिल, अम्भस्, गगन,

अशीतिश्चतुरशीतिरष्टाशीतिर्द्विनवतिः।
षण्णवतिः शतं पूर्णमुत्तमं तु चतुश्शतम् ॥१२॥
प्रातिशाख्ये निदाने च माप्रमाप्रतिमादयः।
नानाविधानि च्छन्दांसि लक्षितानि च लक्षणैः ॥१३॥

अर्णवस्, आपः तथा समुद्र लिखे हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में इन छन्दों के उदाहरण 'प्रैषों' से दिये गये हैं। षड्गुरुशिष्य ने तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक तथा माध्यन्दिन संहिता से उदाहरण दिये हैं (वेदार्थदीपिका पृ० ७७) ॥११॥

पूर्वोक्त छन्दों की अक्षरसंख्या क्रमशः है—अस्सी, चौरासी, अठासी, बानवे, छियानवे, सौ और एक सौ चार ॥१२॥

प्रातिशाख्य और निदान में मा, प्रमा, प्रतिमा आदि अनेक प्रकार के छन्द लक्षणों द्वारा दिखाये गये हैं।

ऋक्प्रातिशाख्य (१७।१९); निदानसूत्र (१।५); उपनिदानसूत्र (पृ० ६।२) में गायत्री से पूर्व पांच छन्दों का निर्देश किया है। तीनों ग्रन्थों में इनकी संज्ञा है—

ऋक्प्रातिशाख्य—मा, प्रमा, प्रतिमा, उपमा, समा।

निदानसूत्र—कृति, प्रकृति, संकृति, अभिकृति, आकृति, (उत्कृति)।

उपनिदानसूत्र—उक्ता, अत्युक्ता, मध्या, प्रतिष्ठा, सुप्रतिष्ठा।

षड्गुरुशिष्य ने पिङ्गल नाग के नाम से उक्तादि छन्दों का उल्लेख (पांच सूत्र पिङ्गलसूत्र में नहीं हैं, चार हैं) करके उनके उदाहरण दिये हैं (वेदार्थदीपिका पृ० ७६)। वेङ्कट माधव-निर्दिष्ट सम्पूर्ण छन्दों का चित्र निम्नरूप में उभरता है (निदानसूत्र में प्रयुक्तनाम कोष्ठक में दिये गये हैं)—

(१) गायत्री से पूर्ववाले छन्द

छन्दोनाम		अक्षरसंख्या
मा	(कृति)	४
प्रमा	(प्रकृति)	८
प्रतिमा	(संकृति)	१२
उपमा	(अभिकृति)	१६
समा	(आकृति)	२०

उक्तानां छन्दसां सन्ति द्विपदैकपदा अपि ।
त्रिष्टुब्जगत्योर्गायत्र्याः पङ्क्त्या याऽभूच्चतुष्पदा ॥१४॥

एकः पाद एकपदा द्वौ पादौ द्विपदोच्यते ।
प्रोच्यते तेन तेनैव सरूपा यस्य पादतः ॥१५॥

---

(२) प्रथम सप्तक

गायत्री	२४	पङ्क्ति	४०
उष्णिक्	२८	त्रिष्टुप्	४४
अनुष्टुप्	३२	जगती	४८
बृहती	३६		

(३) द्वितीय सप्तक (अतिच्छन्द)

अतिजगती	(विधृति)	५२	अत्यष्टि	(मंहना)	६८
शक्वरी	(शक्वरी)	५६	धृति	(सरित्)	७२
अतिशक्वरी	(अष्टि)	६०	अतिधृति	(सम्पा)	७६
अष्टि	(अत्यष्टि)	६४			

(४) तृतीय सप्तक (अतिच्छन्द)

कृति	(सिन्धु)	८०	संकृति	(अर्णवस्)	९६
प्रकृति	(सलिल)	८४	अभिकृति	(आपः)	१००
आकृति	(अम्भस्)	८८	उत्कृति	(समुद्र)	१०४
विकृति	(गगन)	९२			॥१३॥

उक्त छन्दों में से त्रिष्टुप्, जगती, गायत्री तथा पङ्क्ति छन्द जो चतुष्पदा (चार पाद-वाले) हैं, उनकी द्विपदा एवं एकपदा ऋक् भी होती हैं ।

इसी अष्टक के प्रथम अध्याय (कारिका ६,७) में बताया जा चुका है कि ऋग्वेद में चार प्रकार के पाद प्रयुक्त हुए हैं—गायत्र (अष्टाक्षर); वैराज (दशाक्षर); त्रैष्टुभ (एकादशाक्षर); जागत (द्वादशाक्षर) । यहां भी उन्हीं का निर्देश है । इन पादों के अनुसार एकपदा या द्विपदा ऋचाओं के छन्द गायत्री, विराट्, त्रिष्टुप् एवं जगती नामक होते हैं ।।१४।।

एक पादवाली ऋक् एकपदा और दो पादोंवाली ऋक् द्विपदा कही जाती है । जिस छन्द के पाद के समान इन का पाद होता है, उसी छन्द के नाम से इन का व्यवहार होता है ।

न दाशतय्येकपदा काचिद् यास्कस्य विद्यते ।
"भद्रं नो अपि वातय", तस्यैकादशिनी विराट ॥१६॥
"इन्द्रो विश्वस्य गोपतिः", "इन्द्रो विश्वस्य भूपतिः" ।
एताश्चतस्रो गायत्रीराहुरेकपदा इति ॥१७॥
"पवस्व सोम मन्दयन्निन्द्राय मधुमत्तमः" ।
इति तिस्रः समाख्याता गायत्र्यो द्विपदा इति ॥१८॥
"आ वां सुम्ने वरिमन्", सा त्रिष्टुबेकपदोच्यते ।
"महि राधो विश्वजन्यम्", त्रैष्टुभां द्विपदां विदुः ॥१९॥

यह कारिका भी शौनक (ऋ० प्रा० १७।४१) के शब्दों की अनुकृति है । द्विपदाओं का निर्देश पतञ्जलि ने भी किया है (द्र०—निदानसूत्र १।४) ॥१५॥

यास्क के मतानुसार ऋग्वेद में कोई एकपदा ऋक् नहीं है। उस के मत में केवल एक ग्यारह अक्षरवाली विराट् है—भद्रं नो अपिं वातय मनः (ऋ० १०।२०।१) ।

यह कारिका भी ऋ० प्रा० १७।४२ की अनुकृति है। कुब्जनराज का अनुमान है कि माधव का सङ्केत यास्ककृत तैत्तिरीयसंहिता की सर्वानुक्रमणी की ओर है ॥१६॥

'इन्द्रो विश्वस्य गोपतिः'; 'इन्द्रो विश्वस्य भूपतिः' इत्यादि चार ऋचाओं को एकपदा गायत्री कहते हैं ।

एकपदा गायत्री के ये उदाहरण आश्वलायन श्रौतसूत्र (८।२।२१; १२।२०) में उपलब्ध होते हैं—प्रगाथान्तेषु चानुपसन्तान ऋगावानमेकपदाः शंसेत् । इन्द्रो विश्वस्य गोपतिरिन्द्रो विश्वस्य भूपतिरिन्द्रो विश्वस्य चेततीन्द्रो विश्वस्य राजतीति चतस्रः (आ० श्रौ० ८।२।२१) ॥१७॥

पवस्व सोम मन्दयन्निन्द्राय मधुमत्तमः (ऋ० ९।६७।१६) ये तीन द्विपदा गायत्री कही गई हैं ।

सर्वानुक्रमणी में भी इन को नित्यद्विपदा गायत्री बताया गया है। उदाहरणों में पादों (८+८) की स्थिति है—

पवस्व सोम मन्दयन् इन्द्राय मधुमत्तमः ॥१६॥
असृग्रन् देववीतये वाजयन्तो रथा इव ॥१७॥
ते सुतासो मदिन्तमाः शुक्रा वायुमसृक्षत ॥१८॥ ऋ० ९।६७॥ ॥१८॥

आ वां सुम्ने वरिमन् (ऋ० ६।६३।११) यह ऋक् एकपदा त्रिष्टुप् कही जाती है। महि राधो विश्वजन्यम् (ऋ० ६।४७।२५) इस ऋक् को द्विपदा त्रिष्टुप् मानते हैं ।

"अग्ने भव सुषमिधा", सूक्तं सर्वं च तादृशम् ।
"स नो वाजेषु" पादौ द्वौ, जगतीं द्विपदां विदुः ॥२०॥
"उरौ देवा अनिबाधे", "सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य" ।
द्वे विराजावेकपदे तथाऽ [था "अ]सिक्न्यां यजमानो न होता" ॥२१॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

—:०:—

सर्वानुक्रमणी में भी इन्हें एकपदा-द्विपदा कहा गया है। उदाहरणों में पादों (११+११) की स्थिति है—

आ वां सुम्ने वरिमन् सूरिभिः ष्याम् ॥ ऋ० ६।६३।११॥

महि राधो विश्वजन्यं दधानान् भरद्वाजान् त्सार्ञ्जयो अभ्ययष्ट ॥ ऋ० ६।४७।२५॥ ॥१६॥

अग्ने भव सुषमिधा (ऋ० ७।१७।१) यह सम्पूर्ण सूक्त भी 'द्विपदा त्रिष्टुप्' छन्द में निबद्ध है। स नो वाजेषु (ऋ० ८।४६।१३) इन दो पादों को 'द्विपदा जगती' मानते हैं।

सर्वानुक्रमणी में ऋ० ७।१७ सूक्त द्वैपद त्रैष्टुभ कहा गया है। द्विपदा जगती के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत ऋक् को कात्यायन ने बीस अक्षरवाली द्विपदा कहा है। इसके प्रथम चरण में व्यूह से अक्षरपूर्त्ति होती है। पादों (१२+१२) की स्थिति है—

स नो वाजेष्वविता पुरूवसुः पुरःस्थाता मघवा वृत्रहा भुवत् ॥ ऋ० ८।४६।१३॥ ॥२०॥

उरौ देवा अनिबाधे (ऋ० ५।४२।१७); सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य (५।४१।२०) ये दो ऋक् तथा असिक्न्यां यजमानो न होता (ऋ० ४।१७।१५) यह ऋक् एकपदा विराट् हैं।

कात्यायन ने भी ये ऋचाएं एकपदा ही मानीं हैं। ऋचाएं हैं—

उरौ देवा अनिबाधे स्याम ॥ ऋ० ५।४२।१७॥
सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः ॥ ऋ० ५।४१।२०॥
असिक्न्यां यजमानो न होता ॥ ऋ० ४।१७।१५॥

छन्दःसंख्या परिशिष्ट के अनुसार ऋग्वेद की शाकल शाखा में छन्दों की संख्या इस प्रकार है—गायत्री–२४५१, उष्णिक्–३४१, अनुष्टुप्–८८५, बृहती–१८१, पङ्क्ति–३१२, त्रिष्टुप्–४२५३, जगती–१३४८, अतिजगती–१७, शक्वरी–१९, अतिशक्वरी–९, अष्टि–६, अत्यष्टि–८४, धृति–२, अतिधृति–१, एकपदा–६, द्विपदा–१७, बार्हतप्रगाथ–१९४, काकुभ प्रगाथ–५५, महाबार्हत प्रगाथ- १। सत्रह द्विपदाओं का उल्लेख उपलेखसूत्र (वर्ग ६।१,२)में मिलता है ॥२१॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

—:०:—

षष्ठोऽध्यायः

"आ प्र द्रव परावतो", व्याचिख्यासति माधवः ।
प्रगाथेषु च वक्तव्यं सम्पत्तिं च प्रदर्शयन् ॥१॥
बार्हतो बृहतीपूर्वः ककुप्पूर्वस्तु काकुभः ।
एतौ सतोबृहत्यन्तौ प्रगाथौ भवतो द्व्यृचौ ॥२॥
"त्वमङ्ग प्र", "प्र वो यह्वं", "मा चिद्", "बृहदु गायिषे" ।
बार्हतान् काकुभानाहुः, "तं गूर्धया", "वयमिन्द्र (मु" इ)ति ॥३॥

षष्ठोऽध्यायः

प्रगाथों के विषय में वक्तव्य एवं सम्पत्ति को प्रदर्शित करता हुआ माधव 'आ प्र द्रव परावतो' (ऋ० ८।६२।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ।

'प्रगाथ' शब्द का प्रयोग यद्यपि सामगान के लिए भिन्नछन्दवाली दो ऋचाओं के विशिष्ट संयोजन (प्रग्रथन) के अर्थ में भी होता है (काशिका ४।२।५५), तथापि यहां 'प्रगाथ' शब्द का प्रयोग छन्दःसमुदाय के लिये हुआ है । प्रगाथ का नामकरण प्रायः प्रथम प्रग्रथ्यमान ऋक् के अनुसार होता है—('आकृतिर्व्यपदेशानां प्राय आदित आदितः' ऋ० प्रा० १८।४; 'सोऽस्यादिरिति छन्दसः प्रगाथेषु'—अष्टाध्यायी अ० ४।२।५५) प्रगाथों का निरूपण ऋक्प्रातिशाख्य, ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा निदानसूत्र में किया गया है । निदानसूत्र (१।३) में तीन प्रगाथों—बार्हत, काकुभ तथा आनुष्टुभ; सर्वानुक्रमणी (११।१-६) में पांच प्रगाथों—बार्हत, काकुभ, महाबार्हत, विपरीतोत्तर तथा आनुष्टुभ; और ऋक्प्रातिशाख्य १८।१–३१ में तेईस प्रगाथों का वर्णन मिलता है । वेङ्कट माधव के द्वारा वर्णित प्रगाथ हैं—बार्हत, काकुभ, महाबृहतीमुख, यवमध्यान्त तथा आनुष्टुभ ॥१॥

बार्हत प्रगाथ में बृहती छन्द पूर्व होता है और काकुभ प्रगाथ में ककुप् छन्द पूर्व होता है । इन दोनों दो ऋचाओंवाले प्रगाथों में सतोबृहती छन्द अन्त में होता है ।

यह कारिका ऋक्प्रातिशाख्य (१८।१) से ली गई है । सर्वानुक्रमणी (११।२,३) में भी इन दोनों प्रगाथों का निर्देश है । बार्हत=बृहती+सतोबृहती=(८+८+१२+८)+(१२+८+१२+८)=७६; काकुभ=ककुप्+सतोबृहती=(८+१२+८)+(१२+८+१२+८)=६८ ॥२॥

त्वमङ्ग प्र (ऋ० १।८४।१९,२०); प्र वो यह्वं (ऋ० १।३६।१,२); मा चिद् (ऋ० ८।१।१,२); बृहदु गायिषे (७।९६।१,२) इनको 'बार्हत प्रगाथ' कहते हैं । तं गूर्धया (ऋ० ८।

चतुर्थषष्ठावभ्यस्येत् प्रगाथे बार्हते सति ।
बृहत्युभे च ककुभौ सम्पद्यन्ते तथा सति ॥४॥

१९।१,२); वयमु (ऋ० ८।२१।१,२) इनको 'काकुभ प्रगाथ' कहते हैं ।

यह कारिका भी ऋक्प्रातिशाख्य (१८।२) से ली गई है । उदाहरण हैं—

१. त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥
मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान् कदा चना दभन् ।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ ॥ ऋ० १।८४।१९,२०॥

२. प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम् ।
अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिरीमहे यं सीमिदन्य ईळते ॥
जनासो अग्निं दधिरे सहोवृधं हविष्मन्तो विधेम ते ।
स त्वं नो अद्य सुमना इहाविता भवा वाजेषु सन्त्य ॥ ऋ० १।३६।१,२॥

३. मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥
अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम् ।
विद्वेषणं संवननोभयंकरं मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥ ऋ० ८।१।१,२॥

४. बृहदु गायिषे वचोऽसुर्या नदीनाम् ।
सरस्वतीमिन्महया सुवृक्तिभिः स्तोमैर्वसिष्ठ रोदसी ॥
उभे यत् ते महिना शुभ्रे अन्धसी अधिक्षियन्ति पूरवः ।
सा नो बोध्यवित्री मरुत्सखा चोद राधो मघोनाम् ॥ ऋ० ७।९६।१,२॥

५. तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे । देवत्रा हव्यमोहिरे ॥
विभूतरातिं विप्र चित्रशोचिषम् अग्निमीळिष्व यन्तुरम् ।
अस्य मेधस्य सोम्यस्य सोभरे प्रेमध्वराय पूर्व्यम् ॥ ऋ० ८ १९।१,२॥

६. वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः । वाजे चित्रं हवामहे ॥
उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवो- ग्रश्चक्राम यो धृषत् ।
त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥ ऋ० ८।२१।१,२॥

प्रथम चार उदाहरणों में पूर्व ऋक् बृहती एवं उत्तर ऋक् सतोबृहती हैं । अन्तिम दो उदाहरणों में पूर्व ऋक् ककुप् एवं उत्तर ऋक् सतोबृहती हैं । इस प्रकार प्रथम चार बार्हत प्रगाथ और अन्तिम दो काकुभ प्रगाथ हैं ।।३।।

बार्हत प्रगाथ होने पर चतुर्थ और षष्ठ चरण का अभ्यास (दो बार पाठ) करे । ऐस

द्वे तिस्रस्कारं शंसेत बृहतीकारमिच्छता ।
तयोरेव द्विरभ्यासः कार्य इत्याश्वलायनः ॥५॥
तृतीयपञ्चमौ पादावभ्यस्येत् काकुभे बुधः ।
ऋचौ द्वे ककुभस्तिस्रः सम्पद्यन्ते तथा सति ॥६॥

होने पर एक बृहती तथा दो ककुप् सम्पन्न हो जाती हैं ।

प्रगाथ में दो ऋचाएं तीन बन जाती हैं । पूर्वोक्त प्रथम प्रगाथ (८+८+१२+८; ८+१२+८; ८+१२+८) का स्वरूप होगा—

त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डिते- न्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥१॥
इन्द्र ब्रवीमि ते वचः मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसो ।
अस्मान् कदा चना दभन् ॥२॥
अस्मान् कदा चना दभन् विश्वा च न उप मिमीहि मानुष ।
वसूनि चर्षणिभ्य आ ॥३॥ ।४॥

आश्वलायन का कथन है— दो ऋचाओं को तीन करके शंसन करे । बृहती छन्द सम्पन्न करने के इच्छुक व्यक्ति को उन्हीं दोनों का दो बार अभ्यास (पुनः पाठ) करना चाहिये ।

आश्वलायन श्रौतसूत्र (५।१५।६) में कहा गया है—प्रगाथा एते भवन्ति । तां द्वे त्रिस्रस्कारं शंसेत् । चतुर्थषष्ठौ पादौ बार्हते प्रगाथे पुनरभ्यसित्वोत्तरयोरवस्येत् । बृहतीकारं चेत् तावेव द्विः)ये प्रगाथ होते हैं । दो ऋचाओं को तीन करके पाठ करे । बार्हत प्रगाथ में चौथे तथा छठे चरणों का पुनः पाठ करके उत्तर दो पादों पर समाप्ति करे । यदि बृहती ऋक् अधिक करनी हो, तो उन्हीं दोनों चरणों का दो बार अभ्यास=पुनः पाठ करे) । इस प्रकार प्रगाथ का स्वरूप होगा—(८+८+१२+८)+(८+८+१२+८)+(८+८+१२+८) ॥५॥

काकुभ प्रगाथ में विद्वान् तृतीय तथा पञ्चम चरणों का अभ्यास (पुनः पाठ) करे । ऐसा पर दो ऋचाएं तीन ककुप् सम्पन्न हो जाती हैं ।

आश्वायन श्रौतसूत्र (५।१५।८) में भी यह विधान मिलता है (तृतीयपञ्चमौ तु काकुभेषु) । उदाहरण में काकुभ प्रगाथ (८+१२+८; ८+१२+८; ८+१२+८) का स्वरूप होगा—

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः । वाजे चित्रं हवामहे ॥१॥
वाजे चित्रं हवामहे उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवा । उग्रश्चक्राम यो धृषत् ॥२॥
उग्रश्चक्राम यो धृषत् त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे । सखाय इन्द्र सानसिम् ॥३॥ ॥६॥

महासतोबृहत्यन्तो यो महाबृहतीमुखः ।
स महाबार्हतो नाम, "बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः" ॥७॥
महाबार्हतप्रगाथे चतुर्थं सप्तमं तथा ।
अभ्यस्येते बृहत्यः स्युस्तिस्रस्ता इति पण्डिताः ॥८॥
सन्ति प्रगाथा बहवः प्रातिशाख्यप्रदर्शिताः ।
पातञ्जले निदाने तु द्वौ प्रगाथौ प्रदर्शितौ ॥९॥

जिसके अन्त में महासतोबृहती छन्द होता है और आदि में महाबृहती छन्द होता है, वह 'महाबार्हत' नामक प्रगाथ होता है। जैसे—बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः (ऋ० ६।४८।७,८)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१८।१०) तथा सर्वानुक्रमणी (११।४) में इसका निरूपण मिलता है। महाबार्हत=महाबृहती+महासतोबृहती= (८+८+१२+८+८) + (१२+८+१२+८+८)=९२। उदाहरण है—

बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा ।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत्पावक दीदिहि ॥
विश्वासां गृहपतिर्विशामसि त्वमग्ने मानुषीणाम् ।
शतं पूर्भिर्यविष्ठ पाह्यंहसः समेद्धारं शतं हिमाः स्तोतृभ्यो ये च ददति ॥
ऋ० ६।४८।७, ८॥ ॥७॥

महाबार्हत प्रगाथ में चतुर्थ तथा सप्तम चरण का अभ्यास (पुनः पाठ) किया जाता है। इस प्रकार वे तीन बृहती ऋचाएं बन जाती हैं, ऐसा पण्डित मानते हैं।

उदाहरण में महाबार्हत प्रगाथ (८+८+१२+८; ८+८+१२+८; ८+८+१२+८) का स्वरूप होगा—

बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा ।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवन्नः शुक्र दीदिहि ॥१॥
रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत्पावक दीदिहि ।
विश्वासां गृहपतिर्विशामसि त्वमग्ने मानुषीणाम् ॥२॥
त्वमग्ने मानुषीणाम् शतं पूर्भिर्यविष्ठ ।
पाह्यंहसः समेद्धारं शतं हिमाः स्तोतृभ्यो ये च ददति ॥३॥ ॥८॥

प्रातिशाख्य ने बहुत से प्रगाथ प्रदर्शित किये हैं, किन्तु पतञ्जलिकृत निदान नामक ग्रन्थ में दो ही प्रगाथ दिखाये गये हैं।

शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य (१८।१–३१) में तेईस प्रगाथों का वर्णन किया है। इनके नाम

प्रगाथो यवमध्यान्तो, "वामी वामस्य धूतयः" ।
बृहत्यौ मुखतस्तस्य गायत्रीत्वं ततो भवेत् ॥१०॥
अनुष्टुब्द्वे च गायत्र्यावयमानुष्टुभः स्मृतः ।
"आ त्वा रथं यथोतये", इति तत्र निदर्शनम् ॥११॥
अत्र निदानम्—"यस्य कस्यचिच्छन्दसः सम्पदं कश्चिदिच्छति ।
चतुर्थं तस्य सङ्ख्याय तावतीराहरेद् ऋचः ॥१२॥

हैं—बार्हत (भेदों सहित), काकुभ, आनुष्टुभ, महाबार्हत, विपरीतान्त, औष्णिह, गायत्र, गायत्र काकुभ, पाङ्क्तकाकुभ, आनुष्टुप्पूर्व-जगत्यन्त, द्विपदा-पूर्व बृहत्युत्तर, काकुभबार्हत, आनुष्टुभौष्णिह, बार्हतानुष्टुभ, आनुष्टुभपाङ्क्त, काकुभत्रैष्टुभ, आनुष्टुभत्रैष्टुभ, बार्हत त्रैष्टुभ, त्रैष्टुभजागत, त्रिष्टुबुत्तर जागत-जागतत्रिष्टुबुत्तर, जगत्युत्तर त्रैष्टुभ। पतञ्जलि ने निदानसूत्र (१।३) में बार्हत तथा काकुभ प्रगाथों को स्वीकार करके अन्यों के मत से आनुष्टुभ प्रगाथ का भी उल्लेख किया है ॥९॥

वामी वामस्य धूतयः (ऋ० ६।४८।२०, २१) यह 'यवमध्यान्त प्रगाथ' है। उसके आरम्भ में दो बृहती, तदनन्तर गायत्री सम्पन्न हो जाती है।

ऋक्प्रातिशाख्य (१८।१३) में इसका निरूपण बार्हत प्रगाथ के अन्तर्गत किया गया है। सर्वानुक्रमणी में इसका उल्लेख नहीं है। यवमध्यान्त=बृहती+यवमध्या (त्रिष्टुप्)=(८+८+१२+८)+(८+८+१२+८+८)=८०। उदाहरण हैं—

वामी वामस्य धूतयः प्रणीतिरस्तु सूनृता ।
देवस्य वा मरुतो मर्त्यस्य वे- -जानस्य प्रयज्यवः ॥
सद्यश्चिद् यस्य चर्कृतिः परि द्यां देवो नैति सूर्यः ।
त्वेषं शवो दधिरे नाम यज्ञियं मरुतो वृत्रहं शवो ज्येष्ठं वृत्रहं शवः॥ ऋ०६।४८।२०,२१॥ ॥१०॥

एक अनुष्टुप् तथा दो गायत्री छन्द हों, तो यह 'आनुष्टुभ प्रगाथ' स्मरण किया गया है। इसका उदाहरण है—आ त्वा रथं यथोतये (ऋ० ८।६८।१-३)।

ऋक्प्रातिशाख्य (१८।३) तथा सर्वानुक्रमणी (११।६) में इसका निरूपण किया गया है। आनुष्टुभ=अनुष्टुप्+गायत्री+गायत्री=(८+८+८+८; ८+८+८; ८+८+८=८०। उदाहरण हैं—

आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि ।
तुविकूर्मिमृतीषहम् इन्द्र शविष्ठ सत्पते ॥
तुविशुष्म तुविक्रतो शचीवो विश्वया मते । आ पप्राथ महित्वना ॥
यस्य ते महिना महः परि ज्मायन्तमीयतुः । हस्ता वज्रं हिरण्ययम् ।। ऋ०८।६८।१-३॥ ॥११॥

इस विषय में निदानसूत्र हैं—कोई जिस किसी छन्द की सम्पन्नता को करना चाहता है,

यदि तच्छन्द आहरेद् अन्यदन्यस्य सम्पदे ।
चतुर्थं तस्य सङ्ख्याय विद्यात्तास्तावतीर्ऋचः" ॥१३॥

तदिदं 'तिस्रोऽनुष्टुभश्चतस्रो गायत्र्यः' इत्यादिब्राह्मणानां समर्थनम् । तत्र गायत्रीभिः शस्ताभिः जगतीः सम्पादयितुमिच्छन् जगत्याः चतुर्थं गणयेत् । द्वादश भवन्ति । ततो द्वादश गायत्रीः शंसेत् । यदिदं जगतीसंपादनार्थमाहृतं छन्दः गायत्रं तस्य यच्चतुर्थं तत् पश्येत् । षड् भवन्ति । एवं च द्वादश गायत्र्यः षड् जगत्यो भवन्ति। गायत्रीभिः त्रिष्टुभः सम्पादयितुमिच्छन् एकादश गायत्रीराहरेत् । षट् त्रिष्टुभो भवन्ति । गायत्रीभिः पङ्क्तीः सम्पादयितुमिच्छन् दश गायत्रीराहरेत् । षट् पङ्क्तयो भवन्ति । अथोष्णिग्भिर्जगतीः सम्पादयितुमिच्छन् द्वादशोष्णिह आहरेत् । सप्त जगत्यो भवन्ति । उष्णिग्भिः त्रिष्टुभः

: वह उस छन्द के चतुर्थ भाग की गणना करके उतनी ऋचाओं को ग्रहण करे । अन्य छन्द की सम्पन्नता के लिए उस अन्य छन्द को ग्रहण करना हो, तो उसके चतुर्थ भाग की गणना करके उनको उतनी ऋचाएं समझें ।

यज्ञ के प्रसङ्ग में बहुधा ऐसा विधान मिलता है कि निर्दिष्ट ऋचाएं एक छन्दवाली होती हैं और कार्य दूसरे छन्दवाली ऋचाओं से करना होता है । दोनों छन्दों की ऋचाओं के अनुपात का प्रतिपादन इन दोनों कारिकाओं में किया गया है । ये दोनों कारिकाएं निदानसूत्र (१।६) में उपलब्ध होती हैं । ऋक्प्रातिशाख्य (१८।४५) में भी एक छन्द के अन्य छन्द में विपरिणमन का यही प्रकार बताया गया है । माधव ने आगे गद्यांश में उदाहरणों द्वारा इसका स्पष्टीकरण किया है—[तदिदं तिस्र.......... - व्यमिति]

यह कथन ब्राह्मणग्रन्थों के इस कथन का समर्थन करता है कि—'तीन अनुष्टुप् चार गायत्रियां होती है' । इन में से निर्दिष्ट गायत्रियों से जगतियों को सम्पन्न करने का इच्छुक व्यक्ति जगती के चतुर्थ भाग की गणना करे । बारह (४८÷४=१२) होते हैं । इसलिए बारह गायत्री छन्दों का प्रयोग करे । जगती के सम्पादन करने के लिए जो यह गायत्री छन्द लिया, उसका जो चतुर्थांश, उसको देखें । छह (२४÷४=६) होते हैं। इस प्रकार बारह गायत्रियां छह जगती होती हैं (गायत्री: जगती=१२:६)। गायत्रियों से त्रिष्टुभों को सम्पन्न करने का इच्छुक ग्यारह (४४÷४=११) गायत्रियों का प्रयोग करे । छह (२४÷४=६) त्रिष्टुप् होती हैं । गायत्री से पङ्क्ति को सम्पादन करने का इच्छुक दस (४०÷४=१०) गायत्री छन्दों का ग्रहण करे । छह (२४÷४=६) पङ्क्ति छन्द होते हैं । उष्णिक् से जगती छन्दों को सम्पन्न करने का इच्छुक बारह (४८÷४=१२) उष्णिक् का प्रयोग करें । सात (२८÷४=७) जगती होती हैं । उष्णिक् से त्रिष्टुप् को

सम्पादयितुमिच्छन् एकादशोष्णिह आहरेत् । सप्त त्रिष्टुभो भवन्ति । गायत्री-भिरुष्णिहः सम्पादयितुमिच्छन् सप्त गायत्रीराहरेत् । षडुष्णिहो भवन्ति । उष्णिग्भिर्गायत्रीः सम्पादयितुमिच्छन् षडुष्णिह आहरेत् । सप्त गायत्र्यो भवन्ति । एवं सर्वत्र द्रष्टव्यमिति ॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

—:०:—

सम्पन्न करने का इच्छुक ग्यारह (४४÷४=११) उष्णिक् का ग्रहण करे । सात (२८÷४=७) त्रिष्टुप् होती हैं । गायत्री से उष्णिक् को सम्पन्न करने का इच्छुक सात (२८÷४=७) गायत्रियों का ग्रहण करे । छह (२४÷४=६) उष्णिक् होती हैं । उष्णिक् से गायत्री को सम्पन्न करने का इच्छुक छह (२४÷४=६) उष्णिक् का प्रयोग करे । सात (२८÷४=७) गायत्री होती हैं । इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये ।

शौनक, कात्यायन, वेङ्कटमाधव आदि छन्दशास्त्र के प्रवक्ता आचार्यों ने छन्दों एवं प्रगाथों का निरूपण ब्राह्मणग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रों के आधार पर किया है । पिङ्गल इसका अपवाद है । ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में याज्ञिक प्रक्रिया के निर्वाह के लिए अनेक स्थलों में गौण एवं काल्पनिक छन्दों का भी निर्देश किया है । उदाहरणार्थ, ऐतरेय ब्राह्मण (४।४) तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र (६।२।६) में 'नदं व ओदतीनाम्' (ऋ० ८।६९।२) ऋक् को अनुष्टुप् कहा गया है, जबकि इसके अक्षरों की संख्या २७ है । ऐतरेय आरण्यक (१।३।८) में इस की उपपत्ति 'अक्षरों से उष्णिक्, पादों से अनुष्टुप्' कहकर की गई है । शौनक ने भी ऋक्प्रातिशाख्य (१६।३२) में ब्राह्मण एवं आरण्यक का ही अनुसरण किया किया है । सायण ने ऐतरेय आरण्यक के भाष्य में इसको स्पष्ट 'कृत्रिम अनुष्टुप्' लिखा है । सभी वेदभाष्यकारों ने ऋक्प्रातिशाख्य एवं सर्वानुक्रमणी के अनुसार छन्दों का उल्लेख किया है । दयानन्द ने स्ववेदभाष्य में इनका आश्रय न लेकर, यज्ञप्रक्रिया-निरपेक्ष पिङ्गल के अनुसार छन्दों का निर्देश किया है । इसी लिए दयानन्दभाष्य में प्रगाथों का उल्लेख नहीं है (और संगीतशास्त्र में प्रसिद्ध षड्ज आदि स्वरों का उल्लेख है) । प्रगाथों का विशद निरूपण 'छन्दो-मीमांसा' के बारहवें अध्याय में किया गया है ॥१२-१३॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

—:०:—

सप्तमोऽध्यायः

"इन्द्राय साम गायत", व्याचिख्यासति माधवः ।
पादेषूनेषु वक्तव्यमादितः सम्प्रदर्शयन् ॥१॥
व्यूहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु सम्पदे ।
क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान् व्यवेयात् सदृशैः स्वरैः ॥२॥

सप्तमोऽध्यायः

न्यून अक्षरवाले पादों के विषय में आरम्भ में अपने कथन को प्रदर्शित करता हुआ माधव 'इन्द्राय साम गायत' (ऋ० ८।९८।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ।

वैदिक छन्दःशास्त्र में अक्षरगणना को ही छन्द का मुख्य लक्षण माना गया है (यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः—सर्वानुक्रमणी २।६) । अतः छन्द का निर्धारण करते समय अक्षरसंख्या को ही प्रधान निमित्त माना जाता है (अक्षराण्येव सर्वत्र निमित्तं बलवत्तरम्—ऋ० प्रा० १७।२१) । छन्द का निर्धारण करने के लिए पादों का निश्चय करके उनके अक्षरों की गणना की जाती है । पाद के अक्षरों की संख्या कभी-कभी छन्द के अनुसार पूर्ण नहीं होती । उस अवस्था में दो उपायों का आश्रय लिया जाता है । पहला—निचृद्-भुरिक्, विराट्-स्वराट् विशेषणों से काम चलाया जाता है । दूसरा—सन्धि-विच्छेद अथवा स्वरागम करके पाद के अक्षरों की संख्या पूर्ण की जाती है । दूसरे उपाय को व्यूह (विकर्ष) कहा जाता है । इसका निरूपण इस अध्याय में किया गया है ॥१॥

अपेक्षित अक्षरों से न्यून अक्षरवाले पादों में अक्षरों की पूर्त्ति करने के लिए एकाक्षरीभावों (गुण-वृद्धि-सवर्णदीर्घ-पूर्वरूप सन्धियों का व्यूह करे और क्षैप्र (अन्तस्थ) वर्णवाले संयोगों को स्व-सदृश स्वरों के द्वारा व्यवधानयुक्त करे ।

यह कारिका ऋक्प्रातिशाख्य (१६।२२,२३) से उद्धृत की गई है । कात्यायन ने भी सर्वानुक्रमणी (३।६) में कहा है—पादपूरणार्थं तु क्षैप्रसंयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेत् । पिङ्गल(३।२) का विधान है—इयादिपूरणः । ऋक्प्रातिशाख्य के व्याख्याकारों के अनुसार गुण, वृद्धि, सवर्णदीर्घ-पूर्वरूप तथा इ-उ-ऋ के स्थान पर क्रमशः य-व-र—ये एकाक्षरीभाव सन्धियां हैं । क्षैप्र वर्णसंयोग होने पर क्षैप्र से पूर्व तत्सदृश वर्ण का व्यवधान किया जाता है । उव्वट केवल संयुक्त य-व से पूर्व इ-उ का का व्यवधान मानता है, किन्तु षड्गुरुशिष्य र से पूर्व भी व्यवधान का उल्लेख करके उदाहरण देता है (वेदार्थदीपिका ७।३) । पाश्चात्य विद्वानों ने व्यूह से ज्ञापक निकाला है कि

व्यूहेदेकारमृच्यस्यां, "प्र इता जयता नरः" ।
"मिता इव स्वरवो [वः"अ]स्यामोकारो व्यूह्यते तथा ॥३॥
इकः स्थाने प्रविष्टानां यणां संज्ञेयमिष्यते ।
यामाहुः क्षैप्रवर्णेति तेषां च व्यूह इष्यते ॥४॥

व्यूहकृत रूप ही ऋषिदृष्ट काव्य का मौलिक रूप है। इस ज्ञापक के उपोद्बलक के रूप में तैत्तिरीयसंहिता, ऐतरेयब्राह्मण आदि में प्रयुक्त ऐसे शब्द दिये जाते हैं, जो ऋग्वेद में सन्धिविकार युक्त हैं, किन्तु तैत्तिरीयसंहिता आदि में व्यूहकृत (जैसे—तन्वं=तनुवम्) । एस्टलर आदि विद्वान् आर्नल्ड से प्रेरणा पाकर ऋग्वेद के मौलिक रूप के उज्जीवन के लिए विशेष रूप में सचेष्ट हैं । मुख्यत; प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट प्रश्लिष्ट, अभिनिहित, क्षैप्र सन्धियों के व्यूह के अतिरिक्त षष्ठीबहुवचन 'आम्' के आ, ए, ऐ आदि में अ अ, अ इ तथा पावक के स्थान पर पवाक आदि के उच्चारण द्वारा मौलिक रूप प्राप्त हो सकता है, ऐसी इनकी मान्यता है (वैदिक-मीटर पृ० ५) ॥२॥

प्रेता जयंता नरः (ऋ० १०।१०३।१३) इस ऋक् में एकार का व्यूह करे । इसी प्रकार मिता इव स्वरंवो (ऋ०४।५१।२) इस ऋक् में ओकार का व्यूह किया जाता है ।

प्रथम उदाहरण का छन्द अनुष्टुप् है, परन्तु इसके पादों (७+८+८+७=३०) की स्थिति है—

प्रेता जयंता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासंथ ॥ ऋ० १०।१०३।१३॥

इस ऋक् के प्रथम चरण में एक अक्षर की न्यूनता को एकार के व्यूह (प्र इता) द्वारा पूरा किया जाता है (चतुर्थ चरण में भी व्यूह द्वारा अक्षरपूर्ति हुई है) । दूसरे उदाहरण का छन्द त्रिष्टुप् माना जाता है, परन्तु इसके पादों (११+१०+९+१०=४०) की स्थिति है—

अस्युरु चित्रा उषसः पुरस्तान् मिता इंव स्वरंवोऽध्वरेषु ।
व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरव्रञ्छुचयः पावकाः ॥ ऋ० ४।५१।२॥

इस ऋक् के दूसरे चरण में एक अक्षर की पूर्ति व्यूह (स्वरवो अध्वरेषु) से की गई है (तृतीय चतुर्थ चरण में भी व्यूह से अक्षरपूर्ति हुई है)॥३॥

इक् (इ, उ, ऋ, लृ) के स्थान में आदिष्ट यण् (य, व, र, ल) की यह संज्ञा इष्ट है, जिसको क्षैप्र वर्ण कहते हैं । उन (य, व, र, ल) का भी व्यूह इष्ट है ।

पाणिनीय व्याकरण में उपदिष्ट—इको यणचि (अ० ६।१।७४) सन्धि को प्रातिशाख्यकारों ने क्षैप्र सन्धि (ऋ० प्रा० २।२३) कहा है ॥४॥

"अग्ने चिकिद्धि अस्य नः", "द्रु अन्नः सर्पिरासुतिः" ।
सन्धीनेवंविधान् व्यूहेत् सम्पदर्थमिति स्थितिः ॥५॥
यस्येतिलोपलुप्तश्च पुनरानीयते तथा ।
"मर्तो वुरीत सखियम्", इति तत्र निदर्शनम् । ६॥
समीचीना यदा वृत्तिर्न व्यूहेऽपि भवेदिह ।
न तदा व्यूहमिच्छन्ति तत्रैतल्लिङ्गदर्शनम् ॥७॥
"विश्वो देवस्य नेतुः", इत्यस्यामृचि श्रूयते ।
सप्ताक्षरं प्रथमं पदमष्टाक्षराणि त्रीणि ॥८॥

अग्ने चिकिद्ध्यस्य नः (ऋ० ५।२२.४); द्रवन्न सर्पिरासुतिः (ऋ० २।७.६) इस प्रकार की सन्धियों का व्यूह अक्षर-पूर्ति के लिए करे। सन्धि-विषय में यह स्थिति है।

पूर्व कारिका के उदाहरण के रूप में यहां क्षैप्र सन्धि का विच्छेद करके पाठ किया गया है। पहले उदाहरण का छन्द पङ्क्ति है। प्रथम पाद में एक अक्षर की न्यूनता को व्यूह सन्धि-छेद से पूरा किया गया है। इस प्रकार पाद का स्वरूप हुआ—अग्ने चिकिद्धि अस्य नः। दूसरे उदाहरण का छन्द गायत्री है। एक अक्षर की न्यूनता को व्यूह (सन्धि-विच्छेद) से पूरा करने पर पाद का स्वरूप बना—द्रु अन्नः सर्पिरासुतिः। ५।

यस्येति च (अ० ६.४।१४८) सूत्र से लुप्त हुए वर्ण (अकार-इकार) को पुनः लाया जाता है। इसका उदाहरण है—मर्तो वुरीत सखियम् (ऋ० ५।५०।१)।

'मर्तो वुरीत सख्यम्' यह अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध ऋक् का दूसरा चरण है, जिस में एक अक्षर की न्यूनता है। यहां 'सख्यम्' पद में व्यूह करके एक अक्षर की पूर्ति का विधान किया है। पाणिनीय अनुशासन के अनुसार 'सखि' प्रातिपदिक से भाव-कर्म अर्थ में सख्युर्यः (अ० ५।१। १२६) सूत्र से 'य' तथा यस्येति च (६.४।१४८) सूत्र से इकार का लोप करके 'सख्यम्' शब्द निष्पन्न किया जाता है। अक्षरपूर्ति के लिए व्यूह के द्वारा पुनः लुप्त इकार को लाया जाता है।।६॥

जब व्यूह करने पर भी वृत्ति (छन्द का स्वरूप) ठीक न बने, तब आचार्य व्यूह को इष्ट नहीं मानते। उसमें पूर्वोक्त ऋक् ही उदाहरण है (जिसका स्पष्टीकरण अगली कारिका में किया जा रहा है) ॥७॥

विश्वो देवस्य नेतुः (ऋ० ५।५०।१) इस ऋक् में प्रथम चरण सप्ताक्षर और शेष तीन चरण अष्टाक्षर सुनाई देते हैं। 'विश्व' शब्द में दिखाई देनेवाला वकार सन्धि के कारण नहीं बना

न तु सन्धिनिमित्तोऽयं वकारो विश्वगोचरः ।
अनुक्तस्तस्य च व्यूहो यस्माद् व्यूहेऽपि नाक्षरम् ॥९॥

अक्षरे पादक्लृप्तिः स्यान्न च हल् केवलोऽक्षरम् ।
संयोगानामतो व्यूहो न कार्य इति बह्वृचाः ॥१०॥

भवतो द्वौ यणादेशौ यदेकस्मिन् पदे तदा ।
तथा व्यूहेद् यणादेशं यथा वृत्तिर्न दुष्यति ॥११॥

व्यूहे च वृत्त्यसिद्धिश्चेद् व्यूहं नेच्छन्ति केचन ।
व्यूहेनाक्षरसङ्ख्या च कार्यैवेत्याह माधवः ॥१२॥

है । यतः उसका व्यूह नहीं कहा गया है, अतः यहां (द्वितीय चरण में) व्यूह करने पर भी अक्षर-पूर्ति नहीं होती ।

उदाहृत ऋक् का छन्द अनुष्टुप् है, इस में पादों (७+७+८+८+३०) की स्थिति है—

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्   मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम् ।
विश्वो॑ रा॒य इ॑षुध्यति   द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॑ ॥ ऋ० ५।५०।१॥

इस ऋक् के प्रथम-द्वितीय पादों में एक-एक अक्षर की न्यूनता है । माधव का मत है कि यदि यहां व्यूह से द्वितीय पाद में अक्षरपूर्ति हो भी जाय, तो भी प्रथम पाद में एक अक्षर की न्यूनता रहेगी ही । अतः व्यूह की आवश्यकता नहीं, इसको 'विराट् अनुष्टुप्' समझा जाय । यदि 'विश्व' शब्दस्थ वकार के व्यूह द्वारा प्रथम पाद की अक्षरपूर्ति की जाय, तो माधव के अनुसार यह सम्भव नहीं, क्योंकि सन्धिज अन्तस्थ वर्ण का ही व्यूह होता है ॥८,९॥

ऋग्वेदी आचार्यों की मान्यता है कि पाद-कल्पना अक्षर पर होती है और केवल हल् (व्यञ्जन) अक्षर नहीं होता । इस लिए संयोगों का व्यूह नहीं करना चाहिये ।

छन्द शास्त्र में अक्षरगणना करते समय केवल स्वरों की गणना की जाती है, व्यञ्जनों की नहीं । अतः असन्धिज संयुक्त अन्तस्थ वर्णों का व्यूह नहीं होता, यह माधव का मत है ॥१०॥

यदि एक पाद में दो यणादेश (सन्धिज अन्तस्थ वर्ण) हों, तो यणादेश (सन्धिज अन्तस्थ वर्ण) का व्यूह इस प्रकार करे कि छन्द का स्वरूप न विगड़े ॥११॥

यदि व्यूह करने पर वृत्ति (लघु गुरुक्रम) की असिद्धि हो जाती हो, तो कुछ आचार्य वहां व्यूह नहीं करते । माधव का कथन है कि व्यूह से अक्षरसंख्या की पूर्ति करनी ही चाहिये ।

तदिमौ श्लोकौ भवतः—"चत्वारि सन्धिजातानि यैश्च छन्दो ह्रसते न च ।
प्रश्लिष्टमभिनिहितं क्षिप्रसन्धिरभिद्रुतम् ॥
एतानि सन्धिजातानि मिमानश्छन्दसोऽक्षरैः ।
द्वैधं कुर्यादसम्पूर्णे न पूर्णे किञ्चनेङ्गयेत्" ॥ इति ॥
गुणो वृद्धिश्च दीर्घश्च प्रश्लिष्टाः सन्धयः स्मृताः ।
"एङः पदान्तादती [ति", इ]ति सन्तोऽभिनिहितं विदुः ॥१३॥

[तदिमौ ....इङ्गयेत्]

व्यूह के विषय में ये दो श्लोक प्रसिद्ध हैं—

१. चार सन्धिवर्ग हैं, जिन के कारण छन्द में ह्रास नहीं होता—(१) प्रश्लिष्टसन्धि, (२) अभिनिहितसन्धि, (३) क्षिप्रसन्धि, (४) अभिद्रुतसन्धि ।

२. छन्द के अक्षरों से गणना करनेवाला व्यक्ति छन्द की अक्षरपूर्त्ति न होने पर इन सन्धियों को पृथक्-पृथक् करदे । यदि विना सन्धिच्छेद किये ही अक्षरपूर्त्ति होती हो, तो सन्धिच्छेद की कोई चेष्टा न करे ।

ये दोनों श्लोक निदानसूत्र (१।७) में भी मिलते है । वहां 'अभिद्रुत' के स्थान पर 'अभिघ्रुव' पाठ है ॥१२॥

गुण, वृद्धि तथा दीर्घ—ये प्रश्लिष्ट सन्धि स्मरण की गई हैं । एङः पदान्तादति (अ० ६।१।१०५) इस सूत्र से विहित सन्धि को 'अभिनिहित' कहते हैं ।

पाणिनीय अनुशासन में—आद् गुणः, वृद्धिरेचि, अकः सवर्णे दीर्घः(अ० ६।१।८४,८५,९७) सूत्रों से क्रमशः गुण, वृद्धि तथा दीर्घ सन्धियों का विधान है, इन्हीं को प्रातिशाख्य (ऋ० प्रा० २। १५-२०) में प्रश्लिष्ट नाम दिया गया है । एङः पदान्तादति (अ० ६।१।१०५) से होनेवाले पूर्वरूप एकादेश को प्रातिशाख्य (ऋ० प्रा० २।३४) में अभिनिहित कहा जाता है । इको यणचि (अ० ६।१।७४) सूत्र से विहित सन्धि को प्रातिशाख्य (ऋ० प्रा० २१-२३) में क्षैप्र सन्धि के नाम से स्मरण किया गया है । अभिद्रुत नामक सन्धि का उल्लेख प्रातिशाख्यों में नहीं मिलता । निदानसूत्र में 'अभिघ्रुव' पाठ है । तातप्रसाद ने इस की व्याख्या करते हुए लिखा है—अभिघ्रुवञ्चायवान्तसन्धिः (अभिघ्रुव यकारवकरान्त सन्धि होती है) । क्षिप्र सन्धि से इस का भेद बताते हुए तातप्रसाद का कथन है—पदकाले विकर्षो यत्र सा क्षिप्रसन्धिः । यथा—त्वामग्ने पुष्कराधध्यथर्वा निरमन्थत (ऋ० ६।१६।१३) इत्यादौ । पदकाले यत्र न विकर्षः सोऽभिघ्रुवम् । यथा—भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य (ऋ० ६।४८।७) अर्थात् पादविभाग काल में जहां व्यूह हो, वह क्षिप्रसन्धि । जहां व्यूह न हो, वह अभिघ्रुव सन्धि होती है ॥१३॥

प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते पदज्ञानस्य हेतवः ।
बलीयः स्याद् विरोधे च पूर्वं पूर्वमिति स्थितिः ॥१४॥

'अग्निमीळे पुरोहितम्' इति गायत्रीभिः सह पाठात् गायत्रो वा पादोऽन्त्रान्तरश्चार्थः तस्मिन्नेव संस्थितस्तथावृत्तियुक्तश्च भवति । प्रायार्थयोर्विरोधे प्रायबलीयस्त्वात् 'त्वं चकर्थ मनवे स्योनान्' इति पादान्तः । यद्यर्थबलीयस्त्वं भवति 'स्योनान् पथः' इति पादान्तः स्यात्, 'अग्निः पूर्वेभिऋषिभिरीड्यः' इति च । "ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिः" इति च । प्रायवृत्तविरोधे प्रायबलीयस्त्वात् "प्रत्यग्रभीष्म नृतमस्य नृणाम्" इत्येका—दशाक्षर एव भवति, न विकर्षेण द्वादशाक्षरः । अर्थवृत्तविरोधेऽर्थबलीयस्त्वाद् "यदग्ने स्यामहं त्वम्" इति पादान्तः । न वृत्ताद् अहम् इति । एवं सर्वत्र बोद्धव्यमिति ॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

—:०:—

प्रकरण, अर्थ तथा वृत्त (लघु-गुरु भाव) ये पादज्ञान के हेतु हैं । इन में परस्पर विरोध होने पर पूर्व-पूर्व अधिक बलवान् होता है, यह सिद्धान्त है ।

ऋक्प्रातिशाख्य (१७।२५,२६) में भी यही कहा गया है—

प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते पादज्ञानस्य हेतवः । विशेषसंनिपाते तु पूर्वं पूर्वं परं परम् ॥

सन्दिग्ध छन्द के निश्चय के विषय में निदानसूत्रकार का कथन है—चतुष्टयेन छन्दो जिज्ञासेत, पदैरक्षरैर्वृत्त्या स्थानेनेति । तेषामेकैकस्मिन् दुष्यति शेषेणैव जिज्ञासेत । न दुष्टस्य छन्दसोऽन्येन वृत्तेर्ज्ञानमस्तीति विद्यात् । अर्थात् छन्दोज्ञान के चार उपाय हैं—पाद, अक्षर, वृत्ति (वृत्त) तथा स्थान (विनियोग-स्थल) । इन में से एक-एक के दूषित होने पर शेष से ज्ञान करे । दूषित (सन्दिग्ध) छन्द का ज्ञान वृत्ति (वृत्त) से भिन्न अन्य उपाय से नहीं हो सकता ।

इसी प्रकार पिङ्गल ने कहा है—आदितः सन्दिग्धे । देवतादितश्च (पिङ्गलसूत्र ३।६१,६२)। अर्थात् सन्दिग्ध छन्दों का निश्चय प्रथम पाद तथा देवता आदि से किया जाता है । शौनक (ऋ० प्रा० १७।२१) का मत है—

अक्षराण्येव सर्वत्र निमित्तं बलवत्तरम् । विद्याद् विप्रतिपन्नानां पादवृत्ताक्षरैर्ऋचाम् ॥

अर्थात् पाद, वृत्त (लघु गुरुभाव) तथा अक्षरसंख्या के कारण सन्दिग्ध ऋचाओं का छन्द अक्षर-संख्या से ही निश्चित किया जाता है।

इस प्रकार सामान्यतः छन्दो ज्ञान के लिए पाद-ज्ञान होना आवश्यक है (सन्देह होने पर भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत भिन्न-भिन्न हैं)। अब प्रश्न है—पाद-निर्धारण कैसे किया जाय? शौनक तथा वेङ्कट माधव ने पाद-निर्धारण के तीन उपाय—प्राय:, अर्थ, वृत्त बताये हैं। 'प्राय:' का तात्पर्य है अधिकार या प्रकरण। सूक्त में अधिकांश ऋचाएं जिस छन्द: पाद (गायत्र आदि) में निबद्ध हों, सन्दिग्ध ऋक् का पाद भी प्रायः वही समझा जाता है। ऋचाओं में अवान्तर अर्थ की पूर्णता पाद में हो जाती है (पू० मी० २।१।३५)। अतः पाद की सीमा का निर्धारण अर्थ से किया जा सकता है। तीसरा उपाय है वृत्त (लघु-गुरु-भाव)। प्राचीन आचार्यों ने वृत्त का आश्रय बहुत कम लिया है; दिङ्मात्र निर्देश किया है। शौनक (ऋ० प्रा० १७।३९) का कथन है—

वर्षिष्ठाणिष्ठयोरेषां लघूपोत्तममक्षरम्। गुर्वैवेतरयोऋक्षु तद् वृत्तं छन्दसां प्राहुः॥

अर्थात् जागत तथा गायत्र पाद में अन्तिम से पूर्व अक्षर लघु होता है और वैराज तथा त्रैष्टुभ पाद में अन्तिम से पूर्व अक्षर गुरु होता है। इसी प्रकार पतञ्जलि (निदानसूत्र १।१) ने भी कहा है—

'यत्र ह्रस्वमक्षरमुपोत्तमं पादस्य भवति सा जागती वृत्तिः। यत्र दीर्घं सा त्रैष्टुभी। ह्रस्वाक्षरस्योपरिष्टाद् व्यञ्जनसंनिपातेऽपि गौरवम्। अष्टाक्षरद्वादशाक्षरौ लघुवृत्ती, दशाक्षरैकादशाक्षरौ गुरुवृत्ती' (आठ अक्षर तथा बारह अक्षरवाले पादों की लघु वृत्ति और दस अक्षरवाले तथा ग्यारह अक्षरवाले पादों की गुरु वृत्ति होती है)।

पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक वृत्त का गहन अध्ययन करके स्वतन्त्र निष्कर्ष निकाले हैं (वैदिक मीटर पृ० ९-१५)। जिन का सार है—(१) वैदिक छन्द:पादों में प्रायः लघु-गुरु क्रम उपलब्ध होता है। प्रायः पाद के सम (दूसरा, चौथा आदि) अक्षर गुरु होते हैं (प्रथम तथा अन्तिम अक्षर अनियत होता है)। (२) पाद के उत्तरार्ध अर्थात् अन्तिम चार पांच अक्षरों में लघु-गुरु क्रम का पालन पूर्वार्ध की अपेक्षा अधिक दृढ़ता से किया जाता है (तु०—पूर्वोक्त शौनक-पातञ्जल मत)। (३) पाद के पूर्वार्ध में गुरु अक्षरों तथा उत्तरार्ध में लघु अक्षरों के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है। इसी कारण सामान्य लघु-गुरु क्रम में परिवर्त्तन होता है। (४) अष्टाक्षर पादों में यति नहीं है, एकादशाक्षर एवं द्वादशाक्षर पादों में चौथे या पांचवें अक्षर के पश्चात् यति आती है।

अब प्रश्न है—यदि पूर्वोक्त पाद-ज्ञान के हेतुओं में परस्पर विरोध आता हो, तो कैसे निर्णय किया जाय? इस के उत्तर में शौनक तथा माधव ने पूर्व-पूर्व की अधिक बलवत्ता के सिद्धान्त को स्थिर किया है। आगे माधव ने गद्यांश में उदाहरण देकर इस का स्पष्टीकरण किया है।

अष्टमोऽध्यायः

"सोमः पुनानो अर्षति", व्याचिख्यासति माधवः।
अवसानेषु वक्तव्यम् आदितः सम्प्रदर्शयन् ॥१॥

[अग्निमीळे ······—·····························बोद्धव्यमिति]

अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ० १।१।१) इस पाद का पाठ गायत्री छन्दों के साथ होने के कारण यह पाद गायत्र है और अवान्तर अर्थ भी उसी (पाद) में पूर्ण हो गया है। गायत्र पाद की वृत्ति (लघूपोत्तम) से युक्त भी है। प्रायः तथा अर्थ का विरोध होने पर प्रायः के अधिक वलवान् होने के कारण—त्वं चकर्थ मनवे स्योनान् पथो देवत्राञ्जसेव यानान् (ऋ० १०।७३।७) (अर्थात् तू करता है मनु के लिए सुखद मार्गों को, देवों में सुगम मार्गों को) इस ऋक् में 'स्योनान्' पर पाद समाप्त होता है। यदि अर्थ की अधिक वलवत्ता हो, तो 'स्योनान् पथः' तक पाद की पूर्णता होगी। इसी प्रकार—अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत (ऋ० १।१।२) (अर्थात् अग्नि पूर्व ऋषियों के द्वारा स्तुतियोग्य, नवीनों के द्वारा भी) यहां प्रायः की वलवत्ता के कारण 'ऋषिभिः' पर पाद समाप्त होता है, 'ईड्यः' पर नहीं। इसी प्रकार—ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिः (ऋ० १।३६।१३) (अर्थात् उन्नत होता हुआ अन्न का दाता हो, क्योंकि अञ्जन करते हुए ऋत्वजों के साथ तुझे वुलाते हैं) इस वार्हत प्रगाथ सूक्त में अर्थवश 'सनिता' पर पाद-समाप्ति होनी चाहिए, परन्तु प्रायः की वलवत्ता के कारण 'अञ्जिभिः' पर पाद समाप्त होता है। प्रायः तथा वृत्ति का विरोध होने पर प्रायः के अधिक वलवान् होने के कारण—प्रत्यग्रभीष्म नृतमस्य नृणाम् (ऋ० ५।३०।१२) (अर्थात् नरों में नरश्रेष्ठ का धन ग्रहण किया) यह पाद ग्यारह अक्षरवाला ही होता है, व्यूह के द्वारा वारह अक्षरवाला नहीं (यह पाद त्रैष्टुभ पादों-वाले सूक्त में वर्तमान है, व्यूह से द्वादशाक्षर वनाने पर लघूपोत्तम वृत्त सिद्ध हो जाता है, परन्तु प्रायः की वलवत्ता के कारण वृत्त की उपेक्षा कर दी गई)। अर्थ तथा वृत्त का विरोध होने पर अर्थ के वलवान् होने के कारण—यदग्ने स्यामहं त्वम् (ऋ० ८।४४।२३) (अर्थात् हे अग्नि, यदि मैं तू हो जाऊं) यहां 'त्वम्' पर पादसमाप्त होता है, वृत्त के कारण 'अहम्' पर नहीं (अहम् पर पाद समाप्ति होने पर लघूपोत्तम होता जो गायत्र पाद का वृत्त है, परन्तु प्रायः के कारण 'त्वम्' पर पाद समाप्ति है, यद्यपि उपोत्तम गुरु है)। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये ॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

—:o:—

अष्टमोऽध्यायः

आरम्भ में अवसानों के विषय में अपने कथन को प्रदर्शित करता हुआ माधव सोमः पुनानो

तत्रर्चामवसानानि प्रायेणार्थानुरूपतः ।
अवस्येदन्ततस्तत्र द्विपदैकपदा ऋचः ॥२॥
अर्धर्चेऽवान्तरः कश्चिद् वाक्यार्थः पर्यवस्यति ।
बह्वीष्वृक्षु विशेषं तं न विजानन्त्यपण्डिताः ॥३॥
पादयोर्मुख्ययोः पङ्क्त्या एकार्थः पर्यवस्थितः ।
त्रिषु चान्यस्ततस्तासु द्वावुक्त्वा त्रीनथो वदेत् ॥४॥
यत्रान्यथावसानं स्यात् तत्रार्थोऽपि च तादृशः ।
पुरउष्णिक्षु सर्वासु पादो मुख्यस्तथाविधः ॥५॥

अर्षति' (ऋ० ९।१३।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ।

ऋक्प्रातिशाख्य (१८।४६–५७) तथा निदानसूत्र (१।७) में 'अवसान' का निरूपण मिलता है ॥१॥

ऋचाओं के अवसान प्रायः अर्थ के अनुसार होते हैं । अतः द्विपदा तथा एकपदा ऋचाओं का अवसान अन्त में करना चाहिए ।

निदानसूत्र (१।७) में विधान है—'तत्र मध्य एव पदस्य नावस्येत् । अर्थाभिप्रापणान्न्यूनीभावोऽर्थाभिप्रापणावतिरेकः । अथ यत्रैतदक्षरमागच्छति नामिति वामिति वा तद्वुतोनीकरोति' । अर्थात् पद के मध्य में अवसान न करे । अर्थ की अपेक्षा से अवसान शीघ्र या विलम्ब से होता है । अवसान में 'नाम्' वा 'वाम्' आने पर पाद अल्पाक्षर होता है ॥२॥

बहुत सी ऋचाओं में कोई वाक्यार्थ आधी ऋक् में ही पूर्ण हो जाता है । इस विशेषता को अपण्डित (साधारण जन) नहीं जान पाते हैं ॥३॥

पङ्क्ति छन्द के प्रारम्भिक दो पादों में एक अर्थ परिपूर्ण हो जाता है और शेष तीन पादों में दूसरा वाक्यार्थ समाप्त होता है । इसलिए उन (पङ्क्ति छन्दों) में दो पादों को बोलकर (अवसान करके) अगले तीन पादों को बोले ।

ऋक्प्रातिशाख्य (१८।४९) तथा निदानसूत्र (१।७) में इसका निर्देश है । शौनक ने किन्हीं के मतानुसार तीसरे पाद के पश्चात् भी अवसान का प्रतिपादन किया है । माधव ने आठवीं नवीं कारिकाओं में इस के उदाहरण दिये हैं ॥४॥

जहां अन्य प्रकार से अवसान होता है, वहां अर्थ भी उसी प्रकार होता है । सभी पुर उष्णिक् ऋचाओं में प्रथम पाद वैसा होता है । त्रिपदा ऋचाओं में अवान्तर वाक्यार्थ की समाप्ति प्रथम दो पादों में हो जाती है, अतः अवसान भी दूसरे पाद के पश्चात् होता है (ऋ० प्रा० १८।

"भरद्वाजायाव धुक्षत द्विता", "दृतेरिव तेऽवृकमस्तु सख्यम्" ।
"तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्", "वृक्षाश्चिन्मे अभिपित्वे अरारणुः" ॥६॥
मध्येऽवसानं तु चतुष्पदासु, त्रिभिस्समस्तैरपरैः परैर्वा ।
"एतं शंसम्" त्रिभिराद्यैः पदैः स्यात्, "अधीन्वत्र" त्रिभिरेवापरैश्च ॥७॥
"इन्द्रो मदाय वावृधे", "नकिष्टं कर्मणा नशत्" ।
अवस्येत् पादयोरत्र मुख्ययोः क्वचिदन्यथा ॥८॥

---

४९) । परन्तु पुर उष्णिक् इसका अपवाद है, उसमें प्रथम पाद के बाद अवसान होता है । इसकी उपपत्ति यहां दी गई है । पुर उष्णिक् (१२+८+८) में प्रथम पाद में अवान्तर वाक्यार्थ पूर्ण हो जाता है, अतः प्रथम पाद के अन्त में अवसान होता है । अगली कारिका में ऋक्प्रातिशाख्य (१८।५७) में उक्त उदाहरण दिये गये हैं ॥५॥

पुर उष्णिक् के उदाहरण हैं—भुरद्वाजायाव धुक्षत द्वि॒ता (ऋ० ६।४८।१३); दृतेरिव तेऽवृकमस्तु सुख्यम् (ऋ० ६।४८।१८); तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् (ऋ० ७।६६।१६); वृक्षाश्चिन्मे अभिपित्वे अरारणुः (८।४।२१) ।

१. भुरद्वाजायाव धुक्षत द्विता । धेनुं च विश्वदोहसम् इषं च विश्वभोजसम् ॥ ऋ०६।४८।१३॥
२. दृतेरिव तेऽवृकमस्तु सुख्यम् । अच्छिद्रस्य दधन्वतः सुपूर्णस्य दधन्वतः ॥ ऋ०६।४८।१८॥
३. तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् ॥ ऋ० ७।६६।१६॥
४. वृक्षाश्चिन्मे अभिपित्वे अरारणुः । गां भजन्त मेहनाश्वं भजन्त मेहना ॥ ऋ० ८।४।२१॥
॥६॥

चतुष्पदा ऋचाओं में मध्य में अवसान होता है, अथवा प्रारम्भिक तीन पादों के पश्चात् या अन्तिम तीन पादों के पूर्व अवसान होता है । एतं शंसम् (ऋ० १०।९३।११) इस ऋक् में आदिम तीन पादों के पश्चात् और अधीन्वत्र (ऋ० १०।९३।१५) इस ऋक् में अन्तिम तीन से पूर्व अवसान होता है ।

ऋक्प्रातिशाख्य (१८।४७,४८) में इसका निर्देश है । शौनक (ऋ० प्रा० १८।५३) ने भी ये ही उदाहरण दिये हैं—

१. एतं शंसमिन्द्रास्मयुष्ट्वं कूचित् सन्तं सहसावन्नभिष्टये सदा पाह्यभिष्टये ।
मेदतां वेदता वसो ॥ ऋ० १०।९३।११॥

२. अधीन्वत्र सप्ततिं च सप्त च ।
सद्यो दिदिष्ट तान्वः सद्यो दिदिष्ट पार्थ्यः सद्यो दिदिष्ट माय्वः ॥ ऋ० १०।९३।१५॥ ॥७॥

इन्द्रो मदाय वावृधे (ऋ० १।८१।१); नकिष्टं कर्मणा नशत् (८।३१।१७) इन ऋचाओं में आरम्भिक दो पादों के पश्चात् अवसान करे । कहीं-कहीं अन्य प्रकार भी है ।

"नकिर्देवा मिनीमसि", त्रिषु पादेष्ववस्यति ।
षट्पादायाश्च मध्ये स्याद् द्वयोर्वा पर्यवस्यति ।।९।।
"स क्षपः परि षस्वजे", "निष्कं वा घा कृणवते" ।
निदर्शनमृचौ तत्र दर्शयामास शौनकः ।।१०।।
"सुषुमा यातमद्रिभिः", "नहि वां वव्रयामहे" ।
"प्रो ष्वस्मै पुरोरथम्", इति सप्तपदा इमाः ।।११।।

उदाहृत दो ऋचाएं पङ्क्ति छन्द में निबद्ध हैं । चौथी कारिका में इस विषय का प्रतिपादन हो चुका है । यहां उदाहरण दिये गये हैं—

१. इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।
तमिन्महत्स्वाजिषू- तेमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत् ।। ऋ० १।८१।१।।

२. नकिष्टं कर्मणा नशन् न प्र योषन्न योषति ।
देवानां य इन्मनो यजमान इयक्षत्य- भीदयज्वनो भुवत् ।। ऋ० ८।३१।१७।। ।।८।।

नकिर्देवा मिनीमसि (ऋ० १०।१३४।७) इस ऋक् में तीन पादों के पश्चात् अवसान होता है । षट्पदा ऋक् के मध्य में, अथवा दो पादों के पश्चात् अवसान होता है ।

पूर्व कारिका में 'क्वचिदन्यथा' कहा गया है । उसका उदाहरण यहां दिखाया गया है—

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ।
पक्षेभिरपिकक्षेभिर् अत्राभि सं रभामहे ।। ऋ० १०।१३४।७।।

षट्पदा ऋक् में अवसान का निर्देश ऋक्प्रातिशाख्य (१८।५०) में किया है ।।९।।

स क्षपः परिषस्वजे (ऋ० ८।४१।३); निष्कं वा घा कृणवते (८।४७।१५) ये दो ऋचाएं शौनक ने षट्पदा के अवसान के उदाहरण के रूप में दिखाई हैं ।

शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य (१८।५३) में ये उदाहरण दर्शाये हैं—

१. स क्षपः परि षस्वजे न्युस्रो मायया दधे स विश्वं परि दर्शतः ।
तस्य वेनीरनु व्रतम् उषस्तिस्रो अवर्धयन् नभन्तामन्यके समे ।। ऋ० ८।४१।३।।

२. निष्कं वा घा कृणवते स्रजं वा दुहितर्दिवः ।
त्रिते दुष्वप्न्यं सर्वम् आप्त्ये परि दद्मस्य- नेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ।।
ऋ० ८।४७।१५।। ।।१०।।

सुषुमा यातमद्रिभिः (ऋ० १।१३७।१); नहि वां वव्रयामहे (ऋ०८।४०।२); प्रो ष्वस्मै पुरोरथम् (ऋ० १०।१३३।१) ये सप्तपदा ऋचाएं हैं ।

सुषुमा त्रिष्ववस्यन्ति द्वाभ्यां द्वाभ्यां ततः परम् ।
पादेषु त्रिष्ववस्थानं चतुर्ष्वपि च कुर्वते ॥१२॥

ऋचस्यां छान्दसा विप्राः, "नहि वां वव्रयामहे" ।
द्वयोः पञ्चसु वाऽवस्येत्, सा "प्रोष्वस्मै पुरोरथम्" ॥१३॥

"स हि शर्धो न मारुतम्", त्रिषु पूर्वमवस्यति ।
द्वावुक्त्वा त्रीनथो ब्रूयाद् अष्टौ पादा भवन्ति ते ॥१४॥

सप्तपदा ऋचाओं में अवसान के तीन प्रकारों को दर्शाने के लिए उदाहरण दिये गये हैं। ऋक्प्रातिशाख्य (१८।५३) में भी ये ही उदाहरण दिये गये हैं—

१. सुषुमा यातमद्रिभिर् गोश्रीता मत्सरा इमे सोमासो मत्सरा इमे ।
आ राजाना दिविस्पृशा ऽस्मत्रा गन्तमुप नः ।
इमे वां मित्रावरुणा गवाशिरः सोमाः शुक्रा गवाशिरः ॥ ऋ० १०।१३७।१॥

२. नहि वां वव्रयामहे ऽथेन्द्रमिद् यजामहे शविष्ठं नृणां नरम् ।
स नः कदा चिदर्वता गमदा वाजसातये गमदा मेधसातये नभन्तामन्यके समे ॥
ऋ० ८।४०।२ ॥

३. प्रो ष्वस्मै पुरोरथम् इन्द्राय शूषमर्चत ।
अभीके चिदु लोककृत् संगे समत्सु वृत्रहा ऽस्माकं बोधि चोदिता
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ऋ० १०.१३३।१॥ ॥११॥

(१) 'सुषुमा' ऋक् में पहले तीन पादों के पश्चात् अवसान करते हैं, फिर दो दो पादों पर अवसान करते हैं। (२) 'नहि' ऋक् में छन्द के विद्वान् पहले तीन पादों के पश्चात्, फिर चार पादों के पश्चात् अवसान करते हैं। (३) 'प्रो ष्वस्मै' ऋक् में पहले दो पाद पर, फिर पांच पाद के बाद अवसान करे।

सप्तपदा ऋचाओं में अवसान का यह निर्देश ऋक्प्रातिशाख्य (१८।५१) में मिलता है। बारहवीं कारिका में 'सुषुमा त्रिषु' के स्थान में 'एषु मन्त्रेषु' यह अपपाठ मिलता है ॥१२,१३॥

स हि शर्धो न मारुतम् (ऋ० १।१२७।६) इस ऋक् में पहले तीन पादों पर अवसान होता है, फिर दो पादों का पाठ करके (अवसान करके); तदनन्तर तीन पादों का पाठ करे। इस प्रकार वे आठ पाद हो जाते हैं।

पादे पादे समाप्यन्ते प्रायेणार्था अवान्तराः ।
विरोधेऽक्षरतः पादः, "इमं मे वरुण श्रुधि" ॥१५॥
श्रुधीमं हवं वरुण पादे मुख्ये समन्वयः ।
हवमित्यस्य पादान्तः, श्रुधीत्यत्रेति शौनकः ॥१६॥

अष्टपदा ऋक् के अवसान का निर्देश ऋक्प्रातिशाख्य (१८।५२) में किया गया है । शौनक (ऋ० प्रा० १८।५३) ने उदाहरण के रूप में इसी ऋक् को प्रस्तुत किया है—

स हि शर्धो न मारुतं तुविष्वणिर् अप्नस्वतीषूर्वरास्विष्ट- निरार्तनास्विष्टनिः ।
आर्दद्धव्यान्याददिर् यज्ञस्य केतुरर्हणा ।
अध स्मास्य हर्षतो हृषीवतो विश्वे जुषन्त पन्थां नरः शुभे न पन्थाम् ॥
ऋ० १।१२७।६॥ ॥१४॥

अवान्तर वाक्यार्थ प्राय: एक-एक पाद में समाप्त हो जाते हैं । विरोध होने पर अक्षरों के अनुसार पाद माना जाता है—जैसे इमं मे वरुण श्रुधि (ऋ० १।२५।१६) । 'श्रुधीमं हवं वरुण' (हे वरुण, मेरे इस आह्वान को सुन) इस प्रकार 'हवम्' पद का अन्वय प्रथम पाद में होता है, परन्तु शौनक 'श्रुधि' को ही पाद के अन्त में मानता है ।

पादविधान (पृ० ३) में शौनक ने सांशयिक पादों में 'वरुण श्रुधी' का संग्रह किया है, पादविधान के भाष्यकार ने 'इमं मे वरुण श्रुधी' का पाठ किया है (पृ०६) । शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य (१७।२१,२५,२६) में अक्षरसंख्या के अनुसार पाद की सीमा के निर्धारण के सिद्धान्त को स्थिर किया है । माधव का संकेत है कि यह सिद्धान्त प्रायिक ही माना जा सकता है, सार्वत्रिक नहीं । अर्थानुसार पाद की सीमा को घटाया-बढ़ाया भी जा सकता है । पाद की सीमा कितने अक्षरों तक घटाई या बढ़ाई जा सकती है, इसका सोदाहरण उल्लेख पतञ्जलि ने छन्दोविचिति (निदानसूत्र १।१) के आरम्भ में ही किया है—

'अष्टाक्षर आ पञ्चाक्षरतायाः प्रतिक्रामति । विश्वेषां हितः (ऋ० ६।१६।१) इति । आ चतुरक्षरताया इत्येके । आ दशाक्षरताया अभिक्रामति । वयं तदस्य संभृतं वसु (ऋ० ८।४०।६) इति । एकादशाक्षर आ नवाक्षरताया प्रतिक्रामति । यदि वा दधे यदि वा न (ऋ० १०।१२९।७) इति । आ अष्टाक्षरताया इत्येके । आ पञ्चदशाक्षरताया अभिक्रामति । सत्रा दधानम० (साम० १।४६०) इति । द्वादशाक्षर आ नवाक्षरताया प्रतिक्रामति । अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः (ऋ० ९।१०७।९) इति । आ अष्टाक्षरताया इत्येके । आषोडशाक्षरताया अभिक्रामति विकर्षण । त्वं वृत्राणि (साम० १।२४८) इति । आ अष्टाक्षरताया इत्येके । अर्चामि साम० (१।४६४) इति ।'

अर्थात् गायत्र पाद पाँच (या चार) अक्षर से दस अक्षर तक, त्रैष्टुभ पाद नौ (या आठ)

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्येत्यर्थसंस्थितिः ।
यदा तदोदाहरणं तत्रेदं च प्रदर्शयेत् ॥१७॥
यदि यज्ञस्य देवोऽग्निरिति तत्रार्थ इष्यते ।
प्रतिपादमर्थभेदात् तदा नैषा निदर्शनम् ॥१८॥
अथाप्यर्थः स्वभावेन न पादेषु व्यवस्यति ।
"ऋतेन मित्रावरुणौ", विद्यात् तत्र निदर्शनम् ॥१९॥
सम्बोधनाद्युदात्तत्वम् इह प्राप्तं न दृश्यते ।
ऋतावृधपदे तस्माद् अविरामः प्रतीयते ॥२०॥

अक्षर से पन्द्रह अक्षर तक, जागत पाद नौ (या आठ) अक्षर से सोलह (या अट्ठारह) अक्षर तक हो सकता है । पादादि (अनुदात्तं सर्वमपादादौ—अ० ८।१।१८) एवं पादान्त (यथेति पादान्ते—फिट् ४।१७) विकारों के विधि-प्रतिषेध की उपपत्ति के लिए यह आवश्यक है कि पादमर्यादा को अर्थाधीन रखा जाय । इसीलिए जैमिनि ने ऋक् की परिभाषा की है—तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था (पू० मी० २।१।३५) ॥१५,१६॥

जब—'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य' (यज्ञ के पुरोहित अग्नि की स्तुति करता हूं) इस प्रकार अर्थ की परिसमाप्ति हो, तब अर्थ अक्षर विरोध में इस उदाहरण को दर्शावे । यदि—'यज्ञस्य देवोऽग्निः' (यज्ञ का देव अग्नि) इस प्रकार का अर्थ इष्ट हो, तब प्रत्येक पाद में अर्थ-भेद होने कारण यह ऋक् पूर्वोक्त विरोध का उदाहरण नहीं बनेगी ।

अग्निमीळे पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥

ऋग्वेद की इस प्रथम ऋक् में 'यज्ञस्य' पद का सम्बन्ध पूर्व-पर दोनों पदों से हो सकता है । इस प्रकार अभीष्ट अर्थ के अनुसार 'यज्ञस्य' प्रथम के अन्त या द्वितीय पाद के आदि में माना जा सकता है ॥१७,१८॥

कभी-कभी अर्थ प्रत्येक पाद में समाप्त नहीं भी होता है । ऋतेन मित्रावरुणौ (ऋ० १।२।८) इस को इसका उदाहरण जाने । इस ऋक् में 'ऋतावृधौ' पद में प्राप्त होनेवाला सम्बोधन पद का आद्युदात्तत्व नहीं दिखाई देता । इसलिए 'मित्रावरुणौ' पद पर विराम नहीं प्रतीत होता ।

ऋतेन मित्रावरुणा- -वृतावृधावृतस्पृशा ।
क्रतुं बृहन्तमाशाथे ॥ ऋ० १।२।८॥

इस ऋक् का छन्द त्रिपाद् गायत्री (८+८+८) है । तदनुसार यदि अर्थ की समाप्ति

इदमत्रावगन्तव्यम् अवधानविवर्जितः ।
यावन्ति शक्नुयाद् वक्तुम् अप्राणन्नेव मानवः ॥२१॥
तावद्भिरक्षरैरर्थः प्रायेण प्रतिपाद्यते ।
गायत्र्यादिजगत्यन्तम् अप्राणन्नेव भाषते ॥२२॥
अथाप्यतिजगत्यादिम् उच्चारयति मानवः ।
अवधानपरोऽप्राणन् सप्तकं चतुरुत्तरम् ॥२३॥
महता प्रणिधानेन यत्नेन महताऽपि च ।
उत्तमं सप्तकं प्राहुरुत्कृत्यन्तमिति स्थितिः ॥२४॥
लौकिकार्थस्वभावेन सप्तकानां यथाक्रमम् ।
वेदे भूयान् प्रयोगोऽभूद् अल्पोऽथाल्पतरोऽपि च ॥२५॥

'मित्रावरुणौ' पद पर मानी जाती है, तो स्वरनियम (अनुदात्तं सर्वमपादादौ, आमन्त्रितस्य च— अ० ८।१।१८,१९) के अनुसार पाद के आदि में वर्त्तमान 'ऋतावृधौ' आमन्त्रित पद का निघात नहीं हो सकता । अतः यहां एक पाद में अवान्तर वाक्यार्थ की समाप्ति नहीं होती, यही मानना पड़ता है । शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य (१७।२७—३६) में ऋग्वेद के ऐसे नौ स्थलों का उल्लेख किया है, जहां पाद के आदि में आमन्त्रित तथा क्रियापद का सर्वानुदात्तत्व उपलब्ध होता है। शौनक ने पादविधान (पृ० ८) में प्रकृत ऋक् को सांशयिक ऋचाओं संगृहीत किया है ॥१९,२०॥

इस विषय में यह समझना चाहिये कि अवधानरहित (स्वाभाविक वृत्ति से) मनुष्य विना सांस लिये (एक श्वास में) जितने अक्षरों को बोल सकता है, उतने अक्षरों के द्वारा प्रायः अर्थ परिपूर्ण हो जाता है । गायत्री से जगती तक (प्रथम सप्तक के) छन्दों को मनुष्य विना श्वास लिए (एक सांस में) ही बोलता है ॥२१,२२॥

चार-चार अक्षर की वृद्धि से बननेवाले द्वितीय सप्तक के अतिजगती आदि छन्दों को मनुष्य अवधानपूर्वक (सावधानी से प्रयत्न करके) विना श्वास लिए (एक सांस में) बोल लेता है ॥२३॥

अत्यधिक अवधान (एकाग्रता) तथा महान् प्रयत्न से ही मनुष्य अन्तिम सप्तक के उत्कृति तक छन्दों को विना श्वास लिए (एक सांस में) बोल पाते हैं । यह निश्चय है ॥२४॥

लौकिक अर्थ के स्वभाव के अनुसार वेद में प्रथम, द्वितीय, तृतीय सप्तकों का क्रमशः अधिक अल्प तथा अल्पतर प्रयोग हुआ है (अर्थात् गायत्री से जगती तक के प्रथम सप्तक का प्रयोग अधिक, अतिजगती से अतिधृति तक के द्वितीय सप्तक का प्रयोग अल्प तथा कृति से उत्कृति तक के तृतीय सप्तक का प्रयोग अल्पतर है) ॥२५॥

इतिच्छन्दस्सु वक्तव्यम् अध्यायादिषु दर्शितम् ।
अस्माभिरष्टके षष्ठे जानन्नेतद् विमुच्यते ॥२६॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इति षष्ठोऽष्टकः ॥६॥

—:o:—

इस प्रकार छन्दों के विषय में निर्देश के योग्य बातों को हमने छठे अष्टक के अध्यायों के आदि में दिखा दिया । इसको जाननेवाला सन्देह से मुक्त हो जाता है ।

वेङ्कट माधव ने ऋक्प्रातिशाख्य तथा पिङ्गलसूत्र आदि में प्रदर्शित केवल अक्षरगणनानुसारी—दैव, आसुर, प्राजापत्य, आर्ष, याजुष, साम्न, आर्च, ब्राह्म—आठ भेदों को नहीं दर्शाया है । इसी प्रकार ऋक्प्रातिशाख्य तथा निदानसूत्र में वर्णित दो अक्षर से चार-चार अक्षर की वृद्धि करते हुए एक सौ दो अक्षर तक (हर्षीका से उदक पर्यन्त) छब्बीस छन्दो-भेद और निदानसूत्र में निर्दिष्ट कृत-त्रेता-द्वापर-कलि नामक छन्दोविभाग के निरूपण को वेङ्कट माधव ने अनावश्यक समझकर छोड़ दिया है ॥२६॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इति षष्ठोऽष्टकः ॥६॥

—:o:—

सप्तमोऽष्टकः

७. देवतानुक्रमणी

प्रथमोऽध्यायः

सप्तमोऽथाष्टकस्तस्मिन्नध्यायादिषु वक्ष्यते ।
यत्किञ्चिदिह वक्तव्यं देवतास्वस्ति बह्वृचैः ॥१॥

तपोविशेषयुक्तानां युगेष्वन्येषु देवताः ।
आसन् ऋषीणां प्रत्यक्षाः प्रभावैर्विविधैर्युताः ॥२॥

आगोपालं विप्रथितां प्रसिद्धिमिह लौकिकीम् ।
देवतास्तित्वविषयां तन्मूलां कवयो विदुः ॥३॥

अब सप्तक अष्टक (ऋ० ६।४४।१) का आरम्भ होता है। ऋग्वेदी विद्वानों को देवताओं के विषय में जो कुछ कहना है, उसे इस अष्टक में अध्यायों के आदि में कहा जायेगा।

वेदार्थज्ञान के लिए ऋषि-छन्द-देवता का ज्ञान आवश्यक है, यह आर्षानुक्रमणी के आरम्भ में दिखाया जा चुका है। इनके क्रम से उल्लेख के विषय में शौनक (बृह० ८।१३७) ने कहा है—

> अर्थेप्सवः खल्वृषयश्छन्दोभिर्देवताः पुरा ।
> अभ्यधावन्निति च्छन्दो मध्ये त्वाहुर्महर्षयः ॥

अर्थात् अर्थप्राप्ति के इच्छुक ऋषि छन्दों के द्वारा देवताओं की ओर दौड़े, इसलिए महर्षि छन्दों का उल्लेख बीच में करते हैं। वेङ्कट माधव ने भी इसी परम्परा का निर्वाह किया है ॥१॥

अन्य युगों में विशेष तप से युक्त ऋषियों को विविध प्रभावों से युक्त देवता प्रत्यक्ष थे ॥२॥

देवताओं के अस्तित्व के विषय में ग्वालों तक फैली हुई इस लौकिक प्रसिद्धि को विद्वान् लोग पूर्वोक्त देवताप्रत्यक्ष मूलक ही मानते हैं ॥३॥

मन्त्रार्थवादैर्ननु च देवताः सम्प्रदर्शिताः ।
सेयं प्रसिद्धिस्तन्मूला ते च न स्वार्थतत्पराः ॥४॥
अत्र ब्रूमोऽविगीतेयम् अतर्कज्ञेषु दृश्यते ।
ततः प्रत्यक्षमूलेयं यद्वा मन्त्राश्च तत्पराः ॥५॥
यथाशब्दमिह प्रीताश्चेतनाः केचिदीश्वराः ।
ददत्यभिमतानर्थान् इति वक्तुं च युज्यते ॥६॥
किञ्च वैदिकवाक्यानि सदृशानीह लौकिकैः ।
तेषु स्तुतिश्च सत्यं च स्वरूपादवगम्यते ॥७॥
कन्याकुब्जे देवदत्तम् उदारं दृष्टवानहम् ।
धनं याचस्व त्वं पुत्र ! वचः सत्यमिदं मतम् ॥८॥
प्रयच्छति स सर्वेभ्यः प्रतीक्ष्यास्ते च भिक्षुकान् ।
न च क्रुध्यति कस्मैचिद् इति श्रद्धापनं भवेत् ॥९॥

शङ्का है—मन्त्रों तथा अर्थवादों द्वारा देवता प्रदर्शित किये गये हैं । अतः यह (देवताओं के अस्तित्व-विषयक) प्रसिद्धि मन्त्र एवं अर्थवाद निमित्तक है । और मन्त्र एवं अर्थवाद का स्वार्थ में तात्पर्य होता ही नहीं (अतः देवताओं का अस्तित्व सन्दिग्ध है) । मीमांसकों के अनुसार मन्त्र तथा अर्थवाद विधि के अंग माने जाते हैं, उनका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता ।।४।।

शङ्का के समाधान के रूप में हम कहते हैं—तर्क (न्याय=मीमांसा) से अनभिज्ञ जनों में यह प्रसिद्धि समादृत दिखाई देती है । इसलिए यह देवता-प्रत्यक्ष के कारण ही है । अथवा मन्त्र ही देवताओं का प्रतिपादन करते हैं ।।५।।

स्तुतिपरक शब्दों के अनुसार प्रसन्न कोई चेतन ऐश्वर्ययुक्त देव अभीष्ट अर्थों को देते हैं, यह कहना युक्त ही हैं ।।६।।

दूसरी बात यह है कि वैदिक वाक्य लौकिक वाक्यों के समान हैं । उनमें स्तुति और यथार्थता स्वरूप से ज्ञात होती है ।

मीमांसकों की भी मान्यता है कि वेद तथा लोक के शब्द और उनके अर्थ समान हैं । (य एव लौकिकाः शब्दाः त एव वैदिकाः, त एवैषामर्थाः—शाबरभाष्य १।३।३) ।।७।।

'मैंने कान्यकुब्ज (कन्नौज) में उदार देवदत्त का दर्शन किया है । हे पुत्र, तू उससे धन मांग' ।' यह वचन सत्य माना गया है । 'वह सब को दान देता है, याचकों की प्रतीक्षा करता रहता है और किसी के प्रति क्रुद्ध भी नहीं होता ।' यह वचन श्रद्धा उत्पन्न करनेवाला है ।।८,९।।

एवं मन्त्रार्थवादेषु सन्ति सत्यानि कानिचित् ।
भाक्तानि कानिचित् सन्ति तानि जानन्ति पण्डिताः ॥१०॥
किञ्चात्यन्तमसत्यैश्च यदि श्रद्धापयेदिह ।
अपौरुषेयतादीनि मृगयन्ते न पण्डिताः ॥११॥
कन्याकुब्जे देवदत्तः कनकं सम्प्रयच्छति ।
जनयामास यं वन्ध्या सोऽनाप्तो वचनाद् भवेत् ॥१२॥
धर्मस्य देवतानाञ्च व्यासेन द्रौपदीमते ।
अस्तित्वं हेतुभिः प्रोक्तं नेमोऽद्राक्षीच्छचीपतिम् ॥१३॥
"नेन्द्रो अस्तीति" नेमेन, कथिते स्वयमागतः ।
"अयमस्मी [मि", इ]त्युवाचेन्द्रो वसिष्ठश्च ददर्श तम् ॥१४॥

इसी प्रकार मन्त्रों तथा अर्थवादों में कुछ वाक्य यथार्थ होते हैं (जो प्रधान होते हैं) और कुछ वाक्य गौण होते हैं (जिनका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता), विद्वान् उनको जानते हैं ॥१०॥

दूसरी बात यह है कि यदि अत्यन्त असत्य वाक्यों से कोई श्रद्धा स्थापित करना चाहे, तो ऐसे वाक्यों में विद्वान् लोग अपौरुषेयत्व आदि को नहीं खोजते ॥११॥

जैसे यदि कोई कहे—'कान्यकुब्ज में देवदत्त, जिसको बांझ ने जना था, सोने का दान करता है'—तो इस वाक्य को कहनेवाला 'आप्त' नहीं हो सकता ॥१२॥

व्यास ने द्रोपदी के वाक्य में धर्म तथा देवताओं के अस्तित्व का प्रतिपादन अनेक युक्तियों से किया है। नेम ऋषि ने शचीपति (इन्द्र) का दर्शन किया था ॥१३॥

नेम के यह कहने पर कि 'इन्द्र नहीं है', स्वयं इन्द्र आ गया और बोला 'मैं यह हूं'। वसिष्ठ ने भी उस (इन्द्र) का दर्शन किया था।

वेङ्कट माधव का सङ्केत ऋग्वेद की अग्रोल्लिखित ऋचाओं की ओर है—

(१) प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति ।
नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभि ष्टवाम ॥ (ऋ० ८।१००।३)

(४) अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना ।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धय— न्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि । (ऋ० ८।१००।४)

(३) उद्यामिवेत् तृष्णजो नाथितासो ऽदीधयुर्दाशराज्ञे वृतासः ।
वसिष्ठस्य स्तुवत इन्द्रो अश्रोद् उरुं तृत्सुभ्यो अकृणोदु लोकम् ॥ (ऋ० ७।३३।५).

किञ्चैके ददृशुर्मन्त्रान, "कया शुभा सवयसः"।
"एना वयं पयसे [सा", इ] ति पश्यामस्तत् परार्थकम् ॥१५॥

माधव के अनुसार इन ऋचाओं का भावार्थ है—(१) (नेम का वचन—) यदि वस्तुत: इन्द्र है, तो संग्राम के इच्छुक तुम उसके प्रति स्तुति का प्रयोग करो। परन्तु नेम कहता है कि इन्द्र का अस्तित्व नहीं है, उसे किसने देखा है, किसकी स्तुति करें ? (२) (इन्द्र का वचन हैं—) हे स्तोता, देख, मैं यहां खड़ा हुआ हूं। मैंने सब उत्पन्न पदार्थों पर अधिकार कर रखा है। यज्ञकर्त्ता मुझे बढ़ाते हैं और मैं शत्रुओं को छिन्न-भिन्न कर देता हूं। (३) (वसिष्ठ का वचन है—) हे वसिष्ठ-पुत्रो, वृष्टि के याचक प्यासे के समान तुमने दाशराज के लिये इन्द्र की स्तुति की। वसिष्ठ की स्तुति को इन्द्र ने सुना और दाशराज तृत्सु के लिए लोक को शत्रुरहित कर दिया। तैत्तिरीय संहिता (३।५।२।१) में पाठ है—ऋषयो वा इन्द्रं प्रत्यक्षं नापश्यन्, तं वसिष्ठः प्रत्यक्षम् अपश्यत् (ऋषि इन्द्र को प्रत्यक्ष नहीं देख सके, वसिष्ठ ने उसको प्रत्यक्ष देखा)॥१४॥

एक बात और भी है, कुछ देवों ने मन्त्रों का दर्शन किया था। जैसे—कया शुभा सवयसः (ऋ० १।१६५।१); एना वयं पयसा (ऋ० ३।३३।४) इत्यादि मन्त्र। हम इसे परार्थक मानते हैं।

ऋ० १।१६५ सूक्त पर बृहद्देवता (४।४६,४७) में कहा गया है—

इतिहासः पुरावृत्त ऋषिभिः परिकीर्त्यते।
समागच्छन्मरुद्भिस्तु चरन्व्योम्नि शतक्रतुः।

दृष्ट्वा तुष्टाव तान् इन्द्रस्ते चेन्द्रमृषयोऽब्रुवन्।
तेषामगस्त्यः संवादं तपसा वेद तत्त्वतः॥

अर्थात्—ऋषियों ने प्राचीन वृत्त कहा है कि आकाश में विचरण करता हुआ इन्द्र मरुतों से मिला। उनको देखकर इन्द्र ने उनकी स्तुति की और उन ऋषियों (मरुतों) ने भी इन्द्र की स्तुति की। अगस्त्य ने तप से उनके संवाद को यथार्थ रूप में जान लिया। इसी प्रकार सर्वानुक्रमणी में कहा गया है—कया पञ्चोना संवादोऽगस्त्येन्द्रमरुतां तृतीयाद्ययुजो मरुतां वाक्यमन्त्यस्तृचोऽगस्त्यस्य शिष्टा इन्द्रस्यैकादशी च। अर्थात्—इस सूक्त में पन्द्रह ऋचाएं हैं, अगस्त्य, इन्द्र तथा मरुतों का संवाद है। तृतीय से आरम्भ करके विषम संख्यावाली ऋचाएं मरुतों के वचन हैं, अन्तिम तीन ऋचाएं अगस्त्य का वचन और शेष तथा ग्यारहवीं ऋक् इन्द्र के वचन हैं। ऋग्वेद ३।३३ सूक्त में नदी-विश्वामित्र संवाद है, वहां भी चतुर्थी, छठी, आठवीं तथा दसवीं ऋचाएं नदियों के वचन हैं। देवताओं के द्रष्टृत्व को दिखाकर माधव ने उनके अस्तित्व की पुष्टि की है। साथ ही यह भी स्वीकार किया है कि अर्थवादों के समान उनका तात्पर्य स्वार्थ में नहीं है॥१५॥

तार्किकेष्वपि चेच्छन्ति केचिन्मन्त्रार्थवादयोः ।
परार्थेऽपि यथार्थत्वं पुराणानि ततोऽभवन् ॥१६॥
यजुषामिव पारार्थ्यम् ऋचामपि च नेष्यते ।
नानाविधैह्यभिप्रायैर्ऋचो दृष्टा महर्षिभिः ॥१७॥
यदा पश्यत्यृचः सर्वा न तदा हेतुमिच्छति ।
बुद्धिमान् देवतास्तित्वे सूर्यश्चोदेति सर्वदा ॥१८॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

—:०:—

द्वितीयोऽध्यायः

"हिन्वन्ति सूरम्" अध्यायम्, व्याचिख्यासति माधवः ।
तत्र प्रत्यक्षदेवेषु वक्तव्यं सम्प्रदर्श्यते ॥१॥

तार्किकों में भी कुछ विद्वान् मन्त्रों तथा अर्थवादों का परार्थत्व स्वीकार करते हुए भी, उनकी यथार्थता को मानते हैं। उनके कारण ही पुराणों की रचना हुई।

मीमांसकों ने देवताओं के विग्रह (शरीर) आदि पञ्चक का ही प्रतिषेध (पू० मी० ६। १।६–६ शाबरभाष्य) किया है, अस्तित्व का नहीं ॥१६॥

यजुर्मन्त्रों के समान ऋग्मन्त्रों की परार्थता इष्ट नहीं है, क्योंकि महर्षियों ने अनेक अभि-प्रायों से ऋचाओं का दर्शन किया था ॥१७॥

जब विद्वान् सम्पूर्ण ऋचाओं को ध्यान से देखता है, तो देवताओं के अस्तित्व के विषय में हेतु (प्रमाण) की इच्छा (खोज) नहीं करता। सूर्य का उदय सदा ही होता है।

ध्यानपूर्वक पाठ करने पर ऋचाओं में देवतावाची शब्द स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। उनकी सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं ॥१८॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

—:०:—

द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

माधव 'हिन्वन्ति सूरम्' (ऋ० ६।६५।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है। पहले प्रत्यक्ष देवों के विषय में उल्लेखनीय तथ्यों को प्रदर्शित किया जाता है ॥१॥

प्रत्यक्षाश्च परोक्षाश्च द्विविधास्तत्र देवताः ।
तत्प्रवादैर्विजानीमो द्वैविध्यमिह वैदिकैः ॥२॥
अग्निर्वायुश्च सूर्यश्च मरुतः पृथिवी तथा ।
आपो रात्रिरुषा गावः प्रत्यक्षैः कर्मभिस्स्तुताः ॥३
स्तूयन्ते च परोक्षैश्च, "श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमम्" ।
"अग्निर्होता कविक्रतुः", "वायो तव प्रपृञ्चती" ॥४॥

देवता दो प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। वेद में उपलब्ध होनेवाले देवता विषयक कथनों से हम देवों के दोनों प्रकारों को जानते हैं ॥२॥

अग्नि, वायु, सूर्य, मरुद्गण, पृथिवी, आपः, रात्रि, उषा तथा गौएं—ये देवता प्रत्यक्ष कर्मों के द्वारा स्तुत हैं और अप्रत्यक्ष कर्मों के द्वारा भी इन की स्तुति की गई है। जैसे—श्रुत्कर्णं सुप्रथस्तमम् (ऋ० १।४५।७; १०।१४०।६); अग्निर्होता कविक्रतुः (ऋ० १।१।५); वायो तव प्रपृञ्चती (ऋ० १।२।३)।

वेङ्कट माधव का मत है कि देवता स्वतः परोक्ष हैं, परन्तु ऋचाओं में उनका संकीर्तन प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों प्रकार से हुआ है। इसी दृष्टि से उन्हें प्रत्यक्ष भी कहा जा सकता है। उदाहृत ऋचाओं में अग्नि का संकीर्तन प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों प्रकार के कार्यों से किया गया है। और वायु का संकीर्तन प्रत्यक्ष कर्म द्वारा किया गया है। जैसे—

नि त्वा होतारमृत्विजं दधिरे वसुवित्तमम् ।
श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं विप्रा अग्ने दिविष्टिषु ॥ ऋ० १।४५।७॥

अर्थात्—हे अग्नि, होता, ऋत्विक्, धनलब्धा, सुनने योग्य कानोंवाले, प्रख्यात तुझ को विप्र यागों में स्थापित करते हैं। यहां प्रत्यक्ष कर्म से अग्नि का सम्बन्ध है।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।
देवो देवेभिरा गमत् ॥ ऋ० १।१।५॥

अर्थात्—होता, क्रान्तप्रज्ञ, सत्य, विचित्र श्रवणवाला, देव अग्नि देवों के साथ आवे। यहां परोक्ष से कर्म संकीर्तित हैं।

वायो तव प्रपृञ्चती धेना जिगाति दाशुषे ।
उरूची सोमपीतये ॥ ऋ० १।२।३॥

अर्थात्—हे वायु, बहुत धन से सम्पर्क करानेवाली तेरी वाणी सोमपान के लिए दाता की ओर जाती है। यहां वायु का सम्बन्ध प्रत्यक्ष कर्म के साथ है ॥३,४॥

सरस्वती च मन्युश्च सोम ओषधयः पितुः ।
अपरोक्षैः स्तुताः कार्यैः परोक्षाश्च भवन्ति ते ॥५॥
तत्र प्रत्यक्षकार्याणां सर्वथाऽसम्भवे सति ।
परोक्षेष्ववगन्तव्यम् अग्न्यादिष्विति निश्चयः ॥६॥
"के ष्ठा नरः श्रेष्ठतमाः", सूक्ते ऽस्मिन्बहवो गुणाः ।
परोक्षा मरुतामुक्ताः प्रत्यक्षा बहुशः स्तुताः ॥७॥
प्रत्यक्षाश्च परोक्षाणां महिमान इति स्थितिः ।
तेषु ते सन्निदधति भवन्त्यपि च तन्मयाः ॥८॥
देवतातत्त्वविज्ञानं महता तपसा भवेत् ।
शक्यते किं तदस्माभिः याथातथ्येन भाषितुम् ॥९॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

—:०:—

सरस्वती, मन्यु, सोम, ओषधियां और अन्न—ये देवता अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) कार्यों के द्वारा स्तुत हैं और वे परोक्ष भी होते हैं (अर्थात् परोक्ष कार्यों के द्वारा भी संकीर्तित होते हैं) ॥५॥

उन (प्रत्यक्ष अग्नि आदि पदार्थों) में प्रत्यक्ष कार्यों के सर्वथा असम्भव होने पर, परोक्ष अग्नि आदि देवताओं में वे कार्य समझने चाहियें, यह निश्चय है ।

तात्पर्य यह है कि जैसे 'वायु, तेरी वाक् सोमपान के लिए है' यहां वायु में प्रत्यक्ष कार्य सम्भव नहीं है, अतः इसे परोक्ष वायु देवता में समझना चाहिये ॥६॥

के ष्ठा नरः श्रेष्ठतमाः (ऋ० ५।६१) इस सूक्त में मरुतों के बहुत से परोक्ष गुण वर्णित हैं और बहुत से प्रत्यक्ष गुण संकीर्त्तित हैं ॥७॥

प्रत्यक्ष गुण परोक्ष गुणों की महिमाः (अभिव्यक्ति) हैं, यह सिद्धान्त है । प्रत्यक्ष गुणों में परोक्ष गुण भी सन्निहित होते हैं । परोक्ष गुण प्रत्यक्षमय ही हो जाते हैं ॥८॥

देवताओं का तात्त्विक ज्ञान बड़े तप से होता है, तो हमारे द्वारा यथार्थरूप से क्या कहा जा सकता है ? ॥९॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

—:०:—

तृतीयोऽध्यायः

"धर्ता दिवः पवते"ऽथ, व्याचिख्यासति माधवः ।
अश्रूयमाणदेवेषु वाच्यं मन्त्रेषु दर्शयन् ॥१॥

ऋषिर्यस्य गुणान् ब्रूते यस्माच्चार्थमभीप्सति ।
निवेशयति यन्नाम तामाहुस्तस्य देवताम् ॥२॥

"अग्निमीळे पुरोहितम्", "वायवा याहि दर्शत" ।
"इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्", "सूर्य आत्मे[त्मा" इ]ति ता ऋचः ॥३॥

श्रुतेऽपि नाम्न्यतात्पर्ये न सा भवति देवता ।
दानस्तुतिषु दृष्टानि नामान्यत्र निदर्शनम् ॥४॥

तृतीयोऽध्यायः

जिन मन्त्रों में देवताओं के नामों का श्रवण नहीं है, उनके विषय में अपने कथन को प्रकट करता हुआ माधव 'धर्ता दिवः पवते' (ऋ० ९।७६।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

ऋषि अपने आर्ष में जिसके गुणों का संकीर्त्तन करता है और जिससे किसी अर्थ को प्राप्त करने की इच्छा करता है तथा जिसके नाम का उल्लेख करता है, उसको उस (आर्ष=मन्त्र) का 'देवता' कहते हैं ।

यास्क ने निरुक्त (७।१) में कहा है—यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यम् इच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति । इसी प्रकार शौनक ने बृहद्देवता (१।६) में कहा है—

अर्थमिच्छन्नृषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति ।
प्राधान्येन स्तुवन्भक्त्या मन्त्रस्तद्देव एव सः ॥ इन सभी वचनों का अर्थ समान है ॥२॥

अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ० १।१।१); वायवा याहि दर्शत (ऋ० १।२।१); इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत् (ऋ० १।७।१); सूर्य आत्मा (ऋ० १।११५।१) ये ऋचाएं उदाहरण हैं ।

उदाहृत ऋचाओं में क्रमशः अग्नि, वायु, इन्द्र एवं सूर्य के गुणों का वर्णन है और इन देवताओं के नाम का उल्लेख ऋचाओं में हुआ है, अतः ये ही इन ऋचाओं के देवता हैं ॥३॥

ऋक् में देवता-नाम के पठित होने पर भी, उसमें तात्पर्य न होने पर, उस ऋक् का

"अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दानम्", "भद्रमिदं रुशमा अग्ने अक्रन्" ।
"आसङ्गो अग्ने दशभिः सहस्रैः", "बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति" ।।५।।
"आ पुत्रा अग्ने" इत्यत्र, तथाग्निः सम्प्रकीर्तितः ।
मण्डले पावमाने तु बहवः कीर्तितास्तथा ।।६।।

वह देवता नहीं माना जाता। दानस्तुतियों के मन्त्रों में दिखाई देनेवाले नाम इसके उदाहरण हैं। जैसे—।।४।।

अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दानम् (ऋ० ७।१८।२२); भद्रमिदं रुशमा अग्ने अक्रन् (ऋ० ५।३०।१२); आसङ्गो अग्ने दशभिः सहस्रैः (ऋ० ८।१।३३); बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति (ऋ० १।१२५।२) इन मन्त्रों में।

उदाहृत ऋचाओं में क्रमशः अग्नि, अग्नि, अग्नि तथा इन्द्र—इन देवता-नामों का श्रवण है, परन्तु इन का तात्पर्य स्वार्थ में नहीं है, क्योंकि ये ऋचाएं दानस्तुतियां हैं। कात्यायन ने देवता-प्रकरण में कहा है—राज्ञां च दानस्तुतयः (सर्वानुक्रमणी २।२३)। इसी प्रकार सूक्तों में निर्देश किया गया है। (बृहद्देवता ३।१५४) में दानस्तुतियों का निर्देश है। ऊपर उदाहृत ऋचाओं में क्रमशः वसिष्ठकृत पैजवन की दानस्तुति, बभ्रु आत्रेयकृत ऋणंचय की दानस्तुति, आसङ्ग की अपनी दानस्तुति, तथा कक्षीवान्कृत स्वनय की दानस्तुति का वर्णन है।।५।।

आ पुत्रा अग्ने (ऋ० १।१६४।११) इस ऋक् में उसी प्रकार अग्नि संकीर्त्तित है। पावमान (नवम) मण्डल में इसी प्रकार बहुत से देवता-नामों का उल्लेख है।

उदाहृत ऋक् 'अस्य वामीय' सूक्त की है, जिसके विषय में शौनक का कथन है—

सूक्तमल्पस्तवं त्वेतज्ज्ञानमेव प्रशंसति।
प्रवादबहुलत्वाच्च ततः सलिलमुच्यते।। बृहद्० ४।४३।।

इसी प्रकार कात्यायन का कथन है—अस्य द्विपञ्चाशदल्पस्तवं त्वेतत् संशयोत्थापनं प्रश्न-प्रतिवाक्यान्यत्र प्रायेण ज्ञानमोक्षाक्षरप्रशंसा च।

दोनों का अभिप्राय यह है कि इस सूक्त में प्रायः ज्ञान का प्रतिपादन है, स्तुति अत्यल्प है। यास्क (निरु० ४।२७) ने यहां उदाहृत ऋक् में मासों का वर्णन माना है। इन सभी दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए माधव का कथन है कि इस ऋक् में अग्नि का संकीर्त्तन होने पर भी इसका देवता अग्नि नहीं है। इसी प्रकार नवें मण्डल में पवमान सोम ही देवता है, भले ही ऋचाओं में अग्नि आदि देवता-नाम विद्यमान हों।।६।।

अदृष्टे नाम्नि सूक्तेन देवताया विनिश्चयः ।
"सुरूपकृत्नुम्" इत्याद्या, ऋचस्तत्र निदर्शनम् ॥७॥
यद्यन्यदेवते सूक्ते देवतानाम पश्यति ।
निर्ब्रूयात् प्रकृतायां तत्, "तावश्विना भद्रहस्ता" ॥८॥
वैश्वदेवेषु सूक्तेषु देवतां देवतागुणैः ।
प्रातिस्विकेषु सूक्तेषु दृष्टैर्जानन्ति पण्डिताः ॥९॥

ऋक् में देवता का नाम पठित न होने पर सूक्त से देवता का निश्चय किया जाता है । सुरूपकृत्नुम् (ऋ० १।४।१) इत्यादि ऋचाएं इस के उदाहरण हैं ।

उदाहृत ऋक् है—

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे ।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ ऋ० १।४।१॥

इस ऋक् में देवता-नाम पठित नहीं है (अगली दो ऋचाओं में भी देवता-नाम विद्यमान नहीं हैं) । सूक्त का देवता इन्द्र है, अतः प्रकृत ऋक् का देवता भी इन्द्र ही माना जाता है । सूक्त-भाक्, ऋग्भाक् तथा नैपातिक देवता का निरूपण शौनक (बृहद्० १।१७-२०) तथा यास्क (७। १३; १।२०) ने भी किया है ॥७॥

यदि अन्य देवतावाले सूक्त में किसी देवता का नाम दिखाई देता है, तो उस का निर्वचन प्रकरण-प्राप्त देवता के अनुसार करे । जैसे—तावश्विना भद्रहस्ता (ऋ० १।१०९।४) ।

ऋ० १।१०९ सूक्त के देवता 'इन्द्राग्नी' हैं, उदाहृत ऋक् है—

युवाभ्यां देवी धिषणा मदायेन्द्राग्नी सोममुशती सुनोति ।
तावश्विना भद्रहस्ता सुपाणी आधावतं मधुना पृङ्क्तमप्सु ॥ ऋ० १।१०९।४॥

इस ऋक् के प्रकरण-प्राप्त देवता 'इन्द्राग्नी' हैं, परन्तु तृतीय चरण में 'अश्विनौ' भी पठित हैं । ऐसी अवस्था में प्रकरण-प्राप्त देवता 'इन्द्राग्नी ही ऋक् के देवता माने जाते हैं और अश्विनौ (व्यापनशील, अश्वोंवाले) को इन्द्राग्नी का विशेषण मान कर निर्वचन किया जाता है ॥८॥

'विश्वदेव' देवतावाले सूक्तों में विद्यमान देवता को विद्वान् लोग प्रत्येक देवता के अपने-अपने सूक्तों में देखे गये देवता-गुणों से पहचानते हैं । जैसे—

शौनक का कथन है—

देवता तद् यथासूक्तम् अविशेष्यं प्रतीयते ।
भिन्ने सूक्ते यदेवेव देवतामिह लिङ्गतः ॥

"बभ्रुरेको" वदत्याद्या, सौम्याग्नेयी तदुत्तरा ।
त्वाष्ट्री चैन्द्री च रौद्री च पौष्णी वैष्णव्यृगाश्विनी ॥१०॥
नवमी मैत्रावरुण्यृक् दशमी चातिसंस्तवः ।
सर्वासु देवतानाम द्विपदासु न दृश्यते ॥११॥
यथा ब्राह्मणवाक्यानां नास्ति काचन देवता ।
तथैव नास्ति केषांचित्, "चतुरश्चिद् ददमानात्" ॥१२॥
"अध स्वप्नस्य निर्विदे", "कृषन्नित् फाल आशितम्" ।
दुरुक्तनिन्दा क्रियते चतुरश्चित्प्रसङ्गतः ॥१३॥

अर्थात्—अनेक देवतावाले अविशिष्ट सूक्त में वर्त्तमान देवता का निश्चय अन्य सूक्त-दृष्ट लक्षण के अनुसार करना चाहिये। सर्वानुक्रमणी (१।१३९) में कहा गया है—सूक्तभेद-प्रयोगे यल्लिङ्गं सा देवता (=वैश्वदेव सूक्त में सूक्तभेद प्रयोग में जो लक्षण हो, वही देवता होता है)। यहां सूक्तभेद प्रयोग का तात्पर्य विनियोग लिया जाता है (कई विद्वान् पूर्वोक्त बृहद्देवता-वचन में भिन्न सूक्त का भी यही अर्थ बताते हैं)। षड्गुरुशिष्य ने भी माधवोक्त उदाहरण का संकेत किया है ॥९॥

बभ्रुरेको (ऋ० ८।२०) इस सूक्त में पहली ऋक् सोम देवता वाली, उस के पश्चात् दूसरी अग्नि देवता वाली, तीसरी त्वष्टा देवता वाली, चौथी इन्द्र देवता वाली, पांचवीं रुद्र देवता वाली, छठी पूषा देवता वाली, सातवीं विष्णु देवता वाली, आठवीं अश्वी देवताओं वाली, नवीं मित्र-वरुण देवताओं वाली और दसवीं अतिसंस्तव (सादर स्तुति) है। इन सम्पूर्ण द्विपदाओं में देवता का नाम नहीं दिखाई देता ॥१०-११॥

जैसे ब्राह्मण-वाक्यों का कोई देवता नहीं होता, उसी प्रकार कुछ ऋचाओं के भी देवता नहीं होते। जैसे—चतुरश्चिद् ददमानात् (ऋ० १।४१।९); अध स्वप्नस्य निर्विदे (ऋ० १।१२०।१२); कृषन्नित् फाल आशितम् (ऋ० १०।११७।७)। 'चतुरश्चित्' इस ऋक् में प्रसङ्ग से दुष्ट वचन की निन्दा की गई है। 'अध स्वप्नस्य' ऋक् के द्वारा कदर्य (कंजूस) की निन्दा की गई है। 'कृषन्नित्' यह ऋक् दान की प्रशंसा करती है।

माधव का मत है कि उदाहृत ऋचाओं में कोई देवता नहीं है। पहली ऋक् है—

चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयादा निधातोः।
न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ॥ ऋ० १।४०।९॥

माधवानुसार इस ऋक् का भाव है—चारों अक्षों को ग्रहण करनेवाले जुआरी के अक्षपात तक जैसे दूसरा (प्रतिपक्षी) जुआरी डरता है, उसी प्रकार दुर्वचन से डरे। सर्वानुक्रमणी के

"अध स्वप्नस्य निर्विदे", कदर्यो निन्द्यतेऽनया ।
"कृषन्नित् फाल आशितम्", दानमेषा प्रशंसति ॥१४॥
"अभ्यवस्थाः प्र जायन्ते", सूक्तमाग्नेयमुच्यते ।
तत्राद्याभिश्चतसृभिर् जरात्मीया प्रदर्शिता ॥१५॥
अन्त्ययाऽग्निः श्मशानस्थः, "क्रीळन्नो रश्म आ भुवः" ।
आग्नेयत्वन्तु सूक्तस्य मनस्यग्नेः समागमात् ॥१६॥
जीर्णो वव्रिः श्मशानेऽग्निर्धक्ष्यतीति भयान्वितः ।
प्रदर्शयत्यवस्थां तां तुष्टावाग्निं तथाऽन्त्यया ॥१७॥

अनुसार इस सूक्त के देवता वरुण-मित्र-अर्यमा हैं और बृहद्देवता (५।३) के अनुसार इन्द्र-वरुण। दूसरी उदाहृत ऋक् है—

अध स्वप्नस्य निर्विदेऽभुञ्जतश्च रेवतः ।
उभा ता बस्रि नश्यतः ॥ ऋ० १।१२०।१२॥

माधव के मत से इस ऋक् का भाव है—याचना के पश्चात् धन न मिलने पर कक्षीवान् कंजूस की निन्दा करता है—मैं रात्रि में देखे हुए स्वप्न के प्रति तथा धन का उपभोग न करनेवाले धनी कंजूस के प्रति दुःख का अनुभव करता हूं, वे दोनों शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता (३।१३९) में सूक्त का देवता अश्वी है और यह ऋक् दुःस्वप्ननाशिनी बतायी गई है। तीसरी उदाहृत ऋक् है—

कृषन्नित् फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः ।
वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात् ॥ ऋ० १०।११७।७॥

माधवानुसार ऋक् का भाव है—जोतने वाला फाल ही पेट भरता है, चलने वाला ही मार्ग पूरा करता है, न बोलने वाले की अपेक्षा बोलने वाला ब्राह्मण अधिक सेवनीय होता है, देने वाला बन्धु न देने वाले का अभिभव करता है। सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता (८।४०) में इस सूक्त में क्रमशः धनान्नदान-प्रशंसा एवं अन्नस्तुति बताई गई है ॥१२-१४॥

अभ्यवस्थाः प्र जायन्ते (ऋ० ५।१९।१) इस सूक्त को आग्नेय (अग्नि देवता वाला) कहा जाता है। उसमें प्रारम्भिक चार ऋचाओं से ऋषि ने अपनी वृद्धावस्था प्रदर्शित की है। क्रीळन्नो रश्म आ भुवः (ऋ० ५।१९।५) इस अन्तिम ऋक् के द्वारा श्मशानस्थ अग्नि प्रदर्शित की गई है। ऋषि के मन में अग्नि के आ जाने के कारण सूक्त को आग्नेय माना जाता है।

"शासद्वह्निर्" इदं सूक्तम् ऐन्द्रं तत्र प्रसङ्गतः ।
स्मार्तोऽर्थः कथ्यते कश्चिद् ऋग्भ्यां द्वाभ्यां महर्षिणा ॥१८॥
करोति पुत्रिकां नारीं यथा दुहितरं तथा ।
तस्यां सिञ्चति रेतश्च तच्छासदिति कीर्तितम् ॥१९॥
रिक्थस्य दुहितुर्दानं नेत्यृचि प्रतिषिध्यते ।
तस्यां चैव यवीयांसं भ्रातरं ज्येष्ठवत् सुतम् ॥२०॥

श्मशान में अग्नि जला देगी—यह सोच कर भययुक्त वृद्ध वम्रि ऋषि ने उस अवस्था को प्रदर्शित किया है और अन्तिम ऋक् से अग्नि की स्तुति की है ।

सायण-मुद्गल ने इस सूक्त की व्याख्या माधव से भिन्न की है । माधव के पक्ष का कोई सङ्केत सर्वानुक्रमणी एवं बृहद्देवता में भी नहीं मिलता ॥१५-१७॥

शासद् वह्निः (ऋ० ३।३१।१) यह सूक्त इन्द्र देवतावाला है । वहां महर्षि ने दो ऋचाओं से किसी स्मार्त्त अर्थ का कथन किया है । जिस प्रकार पुत्री को पिता पुत्रिका नामक नारी बनाता है, और उस में वीर्य सेचन करता है—वह 'शासद्' (ऋ० ३।३१।१) ऋक् में बताया गया है । 'न' (ऋ० ३।३१।२) ऋक् में पुत्री को दाय भाग देने का प्रतिषेध किया गया है । उस (पुत्री) से उत्पन्न होनेवाले पुत्र को छोटा होने पर भी बड़े भाई के समान माना जाता है ।

वेङ्कट माधव का कथन है कि यद्यपि उदाहृत सूक्त का देवता इन्द्र है, तथापि सूक्त की प्रथम दो ऋचाओं में इन्द्र का कोई सम्बन्ध नहीं है । इन में धर्मशास्त्रीय विधि का निरूपण है । माधव की ये कारिकाएं शौनकीय बृहद्देवता (४।११०-११२) के वचनों की छाया है । शौनक का कथन है—

करोति पुत्रिकां नाम यथा दुहितर तथा ।
तस्यां सिञ्चति रेतो वा तच्छासदिति कीर्त्तितम् ॥
रिक्थस्य दुहितुर्दानं नेत्यृचि प्रतिषिध्यते ।
तस्याश्चाह यवीयांसं भ्रातरं ज्येष्ठवत् सुतम् ॥

यास्क ने निरुक्त (३।४,६) में प्रकृत दोनों ऋचाओं की व्याख्या इसी प्रसङ्ग में की है । वासिष्ठ धर्मसूत्र (१७।१७) में कहा गया है—

अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृताम् ।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥

"इन्द्रापर्वता बृहता", सूक्तमैन्द्रमिदं विदुः ।
तत्रानुशास्ति कुशिकान्, "उप प्रेते[त", इ]ति कौशिकः ॥२१॥
विश्वामित्रो ददर्शास्मिन् सूक्ते नानाविधा ऋचः ।
नानाविधैरभिप्रायैः सन्ति यासु न देवताः ॥२२॥
वदन्ति चात्मकर्माणि, "प्राता रत्नं प्रातरित्वा" ।
"नाहमतो निरये[या", इ]ति, तादृशः सन्ति चापराः ॥२३॥

अर्थात् पुत्ररहित पिता अपनी कन्या का विवाह जिस पुरुष के साथ करता है, उस से यह प्रतिज्ञा करा लेता है कि कन्या से उत्पन्न पुत्र उस (नाना) का पुत्र माना जायेगा । इसी प्रकार का विधान अन्य स्मृतियों (मनु० ६।१२७-१३०) में भी मिलता है ॥१८-२०॥

इन्द्रापर्वता बृहता (ऋ० ३।५३)इस सूक्त को इन्द्र देवता वाला मानते हैं। उस सूक्त में उप प्रेत (ऋ० ३।५३।११) इस ऋक् से कौशिक ने कुशिकों को उपदेश किया है। इस सूक्त में विश्वामित्र ने नाना प्रकार के अभिप्रायों से नाना प्रकार की ऋचाओं का दर्शन किया, जिन में देवता निर्दिष्ट नहीं है ।

बृहद्देवता(४।११२-१२०) में प्रकृत सूक्त के सम्बन्ध में इतिहास दिया गया है, जिस का सार है—सुदास् के महायज्ञ में वसिष्ठपुत्र शक्ति ने गाथिपुत्र विश्वामित्र के वाग्बल को कुण्ठित कर दिया, जिस से विश्वामित्र बहुत दुःखी हुआ । जमदग्नियों ने सूर्य के आवास से लाकर ससर्परी नामक वाक् विश्वामित्र को दी (ऋ० ३।५३।१५-१६) । उस से विश्वामित्र की जड़ता दूर हुई। 'उप' (ऋ० ३।५३।११) ऋक् से विश्वामित्र ने कुशिकों को उद्बुद्ध किया। प्रसन्न हो कर विश्वामित्र ने जमदग्नियों की पूजा की। 'ससर्परी' (ऋ० ३।५३।१५-१६) इन दो ऋचाओं से वाक् की स्तुति की। 'स्थिरौ' (ऋ० ३।५३।१७-२०) इत्यादि ऋचाओं से गाड़ी के अङ्गों एवं बैलों की स्तुति की। इस के अनन्तर विश्वामित्र ने चार अभिशाप(ऋ० ३।५३।२१-२४)ऋचाओं का प्रवचन किया, जिन को 'वसिष्ठद्वेषिणी' ऋचाएं कहा जाता है ॥२१-२२॥

प्राता रत्नं प्रातरित्वा (ऋ० १।१२५।१); नाहमतो निरया (ऋ० ४।१८।२) इन ऋचाओं में ऋषियों ने अपने कार्यों का वर्णन किया है। इस प्रकार की ऋचाएं अन्य भी हैं।

ऋ० १।१२५ सूक्त कक्षीवान्कृत स्वनय की दानस्तुति है, यह पूर्व कहा जा चुका है। ऋ० ४।१८ सूक्त को सर्वानुक्रमणी में इन्द्र-अदिति-वामदेव का संवाद बताया गया है। षड्गुरुशिष्य ने (सायण ने भी) संवादविषयक कथानक प्रस्तुत किया है, जो संक्षेपतः इस प्रकार है—गर्भस्थ वामदेव की इच्छा हुई कि योनिमार्ग से बाहर न निकले, पार्श्व से निकले। वामदेव की

शौनकस्तत्र वदति सूक्ते यस्मिन्नृचः स्थिताः ।
देवतामाश्रयन्ते ताः स्तुतां सूक्तेन तामिति ॥२४॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

—:०:—

माता के ध्यान करने पर इन्द्र की माता अदिति इन्द्र के साथ वहां उपस्थित हो गई। पहली ऋक् से इन्द्र ने वामदेव से प्राकृत मार्ग से बाहर निकलने के लिये कहा। द्वितीय आदि पांच (ऋ० ४।१८।२-४) अर्द्धर्चों से वामदेव ने अपनी बात कही और 'न हीं' (ऋ० ४।१८।४-७) इत्यादि सात अर्द्धर्च अदिति के वचन हैं। 'ममच्चन' (ऋ० ४।१८।८-१२) इत्यादि पांच ऋचाएं वामदेव के वचन हैं और अन्तिम ऋक् में दुर्गति-शान्ति बताई गई है। माधव द्वारा उदाहृत ऋक् है—

नाहमतो निरया दुर्गहैतत् तिरश्चता पार्श्वान् निर्गमाणि ।
बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै ॥ ऋ० ४।१८।१२॥

माधव के मतानुसार इसका भावार्थ है—मैं इस मार्ग से नहीं निकलूंगा, यह संकरा है, तिर्छे पार्श्व से निकलूं। मैंने पूर्वजन्म में बहुत कार्य किये और इस जन्म में करने हैं—किसी से युद्ध करूंगा, किसी से प्रश्न पूछूंगा ॥२३॥

इस विषय में शौनक का कथन है कि ऋचाएं जिस सूक्त में स्थित होती हैं, वे (ऋचाए) उस सूक्त से स्तुत देवता का ही आश्रय ग्रहण करती हैं।

शौनक ने बृहद्देवता (१।१९) में कहा है—

तस्माद् बहुप्रकारेऽपि सूक्ते स्यात् सूक्तभागिनी ।

इसी प्रकार दूसरे स्थल (बृह० १।७८) में कहा गया है—

निरूप्यते हविर्यस्यै सूक्तं च भजते च या ।
सैव तत्र प्रधानं स्यात् न निपातेन या स्तुता ॥२४॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

—:०:—

चतुर्थोऽध्यायः

"असर्जि वक्वा रथ्ये", इति व्याचिख्यासति माधवः ।
अश्वाद्योषधिपर्यन्ते वाच्यं देवगणे वदन् ॥१॥
अश्वाकृतिर्दधिक्रावा दिवि देवोऽस्ति कश्चन ।
ततोऽश्वाः प्रादुरभवंस्तत्त्वमारोप्य ते स्तुताः ॥२॥
ऋषेर्गृत्समदस्याग्र आसीदिन्द्रः कपिञ्जलः ।
तुष्टाव तमृषिर्ज्ञात्वा स सूक्ताभ्यां "कनिक्रदत्" ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

अश्व से लेकर ओषधि-पर्यन्त देवगण के विषय में उल्लेखनीय तथ्यों को बताता हुआ माधव 'असर्जि वक्वा रथ्ये' (ऋ० ९।९१।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ।

निघण्टु के पञ्चम अध्याय में देवता-नामों का संग्रह किया गया है । वहां पृथिवीस्थानीय (निघ० ५।३) देवगण में अश्व आदि शब्दों का पाठ इस प्रकार है—अश्व, शकुनि, मण्डूक, अक्ष, ग्रावा, नाराशंस, रथ, दुन्दुभि, इषुधि,, हस्तघ्न, अभीशु, धनुष, ज्या, इषु, अश्वाजनी, उलूखल, वृषभ, द्रुघण, पितु, नदी, आपः, ओषधि—इत्यादि । इस प्रकरण में वेङ्कट माधव ने इसी गण का विवेचन किया है ॥१॥

द्युलोक में अश्व के आकारवाला दधिक्रावा नामक कोई देव है । उस से अश्व (घोड़े) उत्पन्न हुए । इसलिए अश्वों में उस (देव) का आरोप करके उन (घोड़ों) की स्तुति की गई है ।

दधिक्रावा (दधिक्रा) शब्द वेद में अश्व तथा देवताविशेष दोनों के लिए प्रयुक्त होता है । यास्क के वचन से इस की पुष्टि होती है—तत्र दधिक्रा इत्येतद् दधत्क्रामतीति वा दधत्क्रन्दतीति वा दधदाकारी भवतीति वा । तस्याश्ववद् देवतावच्च निगमा भवन्ति (निरु० २।२७) । यास्क ने दधिक्रा को मध्यस्थानीय देव (निरु० १०।३१) माना है । परन्तु दधिक्रा से अश्वों की उत्पत्ति का उल्लेख न तो यास्क ने ही किया है, न शौनक तथा कात्यायन ने ॥२॥

ऋषि गृत्समद के आगे इन्द्र कपिञ्जल (पक्षी) के रूप में प्रकट हुआ । उस ऋषि ने उस को पहचान कर कनिक्रदत् (ऋ०२।४२,४३) इत्यादि दो सूक्तों से उस की स्तुति की ।

इसी प्रसङ्ग में यास्क का कथन है—गृत्समदम् अर्थम् अभ्युत्थितं कपिञ्जलोऽभिववाशे

मण्डूकानामथाक्षाणां सन्ति ग्राव्णां च देवताः ।
"यो वः सेनानीर्महतः", "प्र वो ग्रावाणः सविता" ॥४॥

स्तूयन्तेऽचेतनाः केचिदिह देवैरधिष्ठिताः ।
शकुनिर्द्रुघणश्चेति तत्र विद्धि निदर्शनम् ॥५॥

(निरु० ९ ३)। अर्थात् गृत्समद को स्फुरित अर्थ के अनुकूल कपिञ्जल बोला। शौनक ने भी बृहद्देवता (४।९३,९४) में कहा है—

स्तुतिं तु पुनरेवेच्छन् इन्द्रो भूत्वा कपिञ्जलः ।
ऋषेर्जिगमिषोराशां ववाशास्थाय दक्षिणाम् ॥

स तमार्षेण संप्रेक्ष्य चक्षुषा पक्षिरूपिणम् ।
पराभ्यामभितुष्टाव सूक्ताभ्यां तु कनिक्रदत् ॥

इसी बात को संक्षेप से कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी (२।४२,४३) में कहा है—एताभ्याम् ऋषिरध्वनि वाश्यमानं शकुन्तं तुष्टाव ॥३॥

मण्डूकों (मेंढकों), अक्षों (जुए के पाशों) तथा ग्रावा (पत्थरों) के भी देवता हैं। जैसे—यो वः सेनानीर्महतः (ऋ० १०।३४।१२); प्र वो ग्रावाणः सविता (ऋ० १०।१७५।१)।

वेङ्कट माधव ने मण्डूक का उदाहरण नहीं दिया है। यास्क (निरु० ९।५,७,८) ने तीनों के उदाहरण दिये हैं। मण्डूक के विषय में यास्क का लेख है—वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव। तं मण्डूका अन्वमोदन्त। स मण्डूकान् अनुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टाव। तदभिवादिन्येषर्भवति—उप प्र वद (अथ० ४।१५।१४)। इस के अतिरिक्त यास्क ने उदाहरण दिया है—

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ ऋ० ७।१०३।१॥

अर्थात् वर्षभर व्रतशील ब्राह्मणों के समान मौन रहने वाले मेंढक मेघ-प्रिय वाणी बोलने लगे। माधव द्वारा उदाहृत प्रथम ऋक् अक्ष सूक्त (ऋ० १०।३४) से ली गई है और दूसरी ऋक् का देवता ग्रावा है। वेङ्कट माधव के मतानुसार मेंढक, अक्ष तथा पत्थर में अधिष्ठात्री देवता का निवास है ॥४॥

वेद में देवों से अधिष्ठित पदार्थों की स्तुति की जाती है, जिन में से कुछ अचेतन भी हैं। जैसे—शकुनि (पक्षी) और अचेतन में उदाहरण है—द्रुघण (लकड़ी का हथोड़ा)।

यास्क ने यहां अधिष्ठाता देवों का संकेत नहीं किया। उसने शकुनि (निरु० ९।४) का उदाहरण दिया है—

स्तूयन्ते यज्ञसंयोगादपि चान्ये रथादयः ।
अथापि युद्धसंयोगाद् रथादीनां स्तुतिर्भवेत् ॥६॥
"अहावनदता हते", "ओषधयः सं वदन्ते" ।
इत्यपामोषधीनां च देवताः सम्प्रदर्शिताः ॥७॥

कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इर्यति वाचमरितेव नावम् ।
सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा का चिदभिभा विश्व्या विदत् ॥ ऋ० २।४२।१॥

अर्थात्—जैसे नौका चालक नाव को प्रेरित करता है,उसी प्रकार अभ्युदय को करता हुआ वाणी को प्रेरित करता है । हे शकुनि, तू मङ्गलकारी है, कोई तुझे अभिभूत न कर सके ।

यास्क ने द्रुघण का उदाहरण दिया हैं—

इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम् ।
येन जिगाय शतवत् सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु ॥ ऋ० १०।१०२।९॥

अर्थात्—रणस्थल में पड़े हुए, वृषभ के सहयोगी इस द्रुघण को देख, जिस से मुद्गल ने सङ्ग्रामों में सैकड़ों-हजारों गायों को जीत लिया ॥५॥

यज्ञ के साथ सम्बन्ध होने के काणण रथ आदि अन्य पदार्थों की स्तुति की गई है । युद्ध से सम्बद्ध होने के कारण भी रथ आदि पदार्थों की स्तुति हो सकती है ।

यास्क ने भी कहा है—यज्ञसंयोगाद् राजा स्तुतिं लभेत राजसंयोगाद् युद्धोपकरणानि । तेषां रथः प्रथमागामी भवति (निरु० ९।११) । अर्थात् यज्ञ के संयोग से राजा स्तुति प्राप्त कर सकता है, राजा के संयोग से युद्ध के उपकरण स्तुति प्राप्त कर सकते हैं । उन उपकरणों में से पहले रथ आता है ॥६॥

अहावनंवता हते (अथर्व० ३।१३।१); ओषधयः सं वदन्ते (ऋ० १०।९७।२२) इन ऋचाओं में जलों तथा ओषधियों के देवता प्रदर्शित किये गये हैं ।

यास्क ने (निरु० ९।२७,२८) इन के उदाहरण भिन्न ऋचाएं दी हैं । माधव द्वारा उदाहृत ऋचाएं हैं—

यदुदः संप्रयतीरहावनदता हते ।
तस्मादा नद्यो नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ॥ अथर्व ३।१३।१॥

अर्थात्—हे जलो ! मेघ के बिखरने पर जो तुम गमन करते हुए शब्द करते हो, इस कारण नदी कहलाते हो ।

अग्न्यादयः सन्निहिताः सर्वदा लौकिकेष्वपि ।
यमेन यम्याः संवादे सोऽयमर्थ उदीरितः ॥८॥
न सर्वे चेतना देवा नापि सर्वे अचेतनाः ।
इति वादैर्विजानीमो मन्त्रब्राह्मणगोचरैः ॥९॥
इतिहासपुराणैर्ये देवतात्वेन दर्शिताः ।
तानाहुश्चेतनान् देवान् भवन्त्यन्ये त्वचेतनाः ॥

अत्र वाजसनेयकम्—"न वा अत्र देवताऽस्त्यनुयाजेषु देवं बर्हिः इति, तत्र नाग्निर्नेन्द्रो न सोमः" (मा० श० १।८।२।१५) इत्यादि ।
पठामश्च—

"द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः ।
रात्रिः सन्ध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम्" ॥ (मनु० ८।८७) ॥१०॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

—:o:—

ओषधयः सं वदन्ते सोमेन सह राज्ञा ।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥ ऋ० १०।९७।२२॥

अर्थात्—ओषधियां सोम राजा के साथ संवाद करती हैं कि हे राजन्, जिस (रोगी) को ब्राह्मण हमें दे, हम उस को (स्वस्थ करने में) समर्थ हों ॥७॥

लौकिक व्यवहारों में भी सदा अग्नि आदि देवता समीप उपस्थित रहते हैं । यम के साथ यमी के संवाद में यह बात कही गई है ।

ऋ० १०।१० सूक्त यम-यमी संवाद है, जिस में देवों को सब कार्यों के साक्षी बताया गया है ॥८॥

मन्त्रों तथा ब्राह्मणग्रन्थों में उपलभ्यमान वादों से हम जानते हैं कि न तो सब देव चेतन हैं और न ही सब देव अचेतन (जड़) हैं ॥९॥

इतिहास और पुराणों ने जो देवतारूप में प्रदर्शित किये हैं, उन्हें चेतन देवता कहते हैं, उन से अन्य अचेतन देवता होते हैं ॥

पञ्चमोऽध्यायः

"पुरोजिती वो अन्धसः", व्याचिख्यासति माधवः ।
प्रयाजदेवतास्वादौ वक्तव्यं सम्प्रदर्शयन् ॥१॥
भवन्तीहोभये देवाः प्रबला दुर्बलास्तथा ।
सूर्यः सोमो देवगुरुर्भौमः सौम्योऽर्किभार्गवौ ॥२॥
कठैर्ग्रहाणां सर्वेषां तत्र यज्ञः प्रचोदितः ।
"भौमाय नवकपालं पुरोडाशम्" इति श्रुतिः ॥३॥
समस्ता साऽवमन्तव्या कठकाम्येष्टितो बुधैः ।
हवींषि दक्षिणाश्चैव प्रकारं च बुभुत्सुभिः ॥४॥

[अत्र..इत्यादि]

इस विषय में वाजसनेय ब्राह्मण का कथन है—

यहां अनुयाज मन्त्रों में देव बर्हि इत्यादि देवता नहीं हैं, वहां न अग्नि है, न इन्द्र है, न सोम है, इत्यादि (माध्यन्दिन शतपथ १।८।२।२५)।

पढ़ते भी हैं—

द्यौ, भूमि, जल, हृदय, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, यम (मृत्यु), वायु, रात्रि, दोनों संध्याकाल (प्रात: सायं) और धर्म— ये पदार्थ देहधारी प्राणियों के सब कार्यकलापों को जानते हैं (मनुस्मृति ८।८७) ॥१०॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

—:०:—

पञ्चमोऽध्यायः

प्रयाज देवताओं के विषय में आदि में अपने वक्तव्य को प्रदर्शित करता हुआ माधव 'पुरोजिती वो अन्धसः' (ऋ० ९।१०१।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

यहां (यज्ञ में) प्रबल तथा दुर्बल दोनों प्रकार के देव होते हैं। सूर्य, सोम, बृहस्पति, मङ्गल, बुध, शनैश्चर एवं शुक्र—इन सब ग्रहों के यज्ञ का विधान कठशाखा के शास्त्रकारों ने किया है। 'मङ्गल के लिए नौ कपालों (मिट्टी के ठीकरों) पर संस्कृत किया हुआ पुरोडाश'

भवन्ति प्रबलैरन्यैर्दुर्बलाश्च समन्विताः ।
हविर्भाजस्ततस्तेषां पृथङ् मन्त्रा न कल्पिताः ॥५॥
श्रुतिसामान्यतस्तेषां तत्र याज्याश्चरुक्रमात् ।
"अग्निर्मूर्धो [र्धा", "उ]द्बुध्यस्वाग्ने", "प्र वो शुक्राय" चोदिताः ॥६॥
श्रुतसामान्यतः प्रीताः तत्र चाङ्गारकादयः ।
अङ्गारकस्य चाग्नेश्च समाना प्रकृतिर्यतः ॥७॥
तथैव देवो यः कश्चित् आप्रीसूक्तेषु कीर्त्यते ।
तात्पर्यं समिदादीनां कीर्तनेष्विति निर्णयः ॥८॥

(पिसे हुए चावलों की कच्छपाकार रोटी) यह कठश्रुति (ब्राह्मण वचन) है। हवियों, दक्षिणाओं तथा प्रक्रिया को जानने के इच्छुक विद्वानों को कट-काम्येष्टि से वह सम्पूर्ण व्यवस्था जाननी चाहिये ॥२-४॥

अन्य प्रबल देवों के साथ समन्वित होकर दुर्बल देव भी हविर्भाक्। (हवि ग्रहण करने वाले) होते हैं, इसलिए उन के पृथक् मन्त्र कल्पित नहीं हैं ॥५॥

श्रुतिसामान्य के कारण उस (याग) में चरु के क्रम से याज्या विहित है—अग्निर्मूर्धा (ऋ० ८।४४।१६); उद्बुध्यस्वाग्ने (मा० सं० १५।५४); प्र वो शुक्राय (ऋ० ७।४।१)।

उदाहृत तीनों मन्त्रों का देवता अग्नि है। सम्भवतः इन मन्त्रों को कठकाम्येष्टि में याज्या (हविःप्रदानार्थं वषट्कारान्त मन्त्र) के रूप में पढ़ा गया होगा ? ॥६॥

वहां (उल्लिखित याग में) अङ्गारक (मङ्गल) आदि ग्रह देवता सामान्य श्रुति से तृप्त हो जाते हैं, क्यों कि अग्नि तथा अङ्गारक की प्रकृति समान है।

अग्नि तथा अङ्गारक दोनों शब्द 'अगि' धातु से निष्पन्न हैं ॥७॥

इसी प्रकार आप्री सूक्तों में जिस किसी देव का संकीर्त्तन किया गया है, समिध् आदि के कीर्त्तनों में भी उसी देव का संकीर्त्तन होता है, यह निर्णय है।

ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों में यज्ञ-विषयक दस विशेष सूक्त हैं, जिन को 'आप्रीसूक्त' कहा जाता है। आप्रीसूक्त में ग्यारह या बारह ऋचाएं, होती हैं। प्रत्येक का देवता पृथक होता है। आप्री देवताओं के नाम हैं—(१) इध्म (समिधा) (२) तनूनपात् (घृत) अथवा नाराशंस (यज्ञ) (३) इड (हवि) (४) बर्हि (कुशा) (५) देवीः द्वारः (यज्ञशाला द्वार) (६) उषासानक्ता (उषा-रात्रि) (७) दैव्यौ होतारौ (अग्नि-विद्युत्) (८) तिस्रो देव्यः (सरस्वती-इडा-भारती) (९) त्वष्टा (१०) वनस्पति (११) स्वाहाकृति। यास्क ने निरुक्त (८।४-२२) में

अचेतनान् इज्यमानान् अग्निर्दृष्ट्वेदमुक्तवान् ।
"प्रयाजान्मे अनुयाजान्", सर्वान् दत्तेति देवताः ॥९॥

आप्री देवताओं का निरूपण किया है । उस का कथन है—तान्येतान्येकादशाप्रीसूक्तानि (ये आप्री-सूक्त ग्यारह हैं, आगे प्रत्येक ऋषि के आप्रीसूक्त का निर्देश है) । शौनक ने बृहद्देवता (२।१५२) में कहा है—

> प्रैषैः सहाप्रीसूक्तानि तान्येकादश सन्ति च ।
> यजूंषि प्रैषसूक्तं वा दशैतानीतराणि तु ॥

अर्थात् प्रैषसहित आप्रीसूक्त ग्यारह हैं । अथवा प्रैषसूक्त में यजुर्मन्त्र हैं । (तु०—मा० सं० २१।२९–४०) । और ऋग्वेद के सूक्तों की संख्या दस है । यास्क ने भी 'प्रैषिकम्' (निरु० ८।२२) शब्द का प्रयोग किया है । और उसके अतिरिक्त दस ऋषियों के आप्रीसूक्तों को गिनाया हैं । अनुवाकानुक्रमणी (श्लोक १०–१२) तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र (३।२।५ ६) में भी आप्रीसूक्तों का वर्णन हैं ।।८।।

अचेतन पदार्थों के प्रति यज्ञ होते देख कर अग्नि ने यह कहा—प्रयाजान् मे अनुयाजान् (ऋ० १०।५१।८)—हे देवो, प्रयाजों-अनुयाजों सब को मुझे दो ।

प्रधान याग से पूर्व किये जाने वाले यज्ञाङ्ग को प्रयाज और पश्चात् किये जाने वाले याज्ञिक क्रियाकलाप को अनुयाज कहा जाता है । दर्शपूर्णमास याग में पांच प्रयाज (आहुतियां) तथा तीन अनुयाज (आहुतियां) होती है । अन्य यागों में इन की संख्या भिन्न-भिन्न है । आप्री ऋचाओं के अन्त में वषट्कार का प्रयोग करके प्रयाज-आहुतियां दी जाती हैं । प्रयाजों का देवता अग्नि है, इस के प्रमाण में माधव द्वारा उदाहृत ऋक् हैं—

> प्रयाजान् मे अनुयाजांश्च केवलान् ऊर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम् ।
> घृतं चापां पुरुषं चौषधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः ॥ ऋ० १०।५१।८॥
>
> तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः ।
> तवाग्ने यज्ञोऽयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः ॥ ऋ० १०।५१।९॥

ऋ० १०।५१ सूक्त में देवों तथा सौचीक अग्नि का संवाद है । यहां प्रथम ऋक् में अग्नि का वचन है और दूसरी ऋक् में देवों का प्रतिवचन । भाव यह है—हे देवो ! प्रयाजों, अनुयाजों, हवियों के मुख्य भागों, जलों के घृत तथा ओषधियों के पुरुष को मुझे दो और अग्नि की आयु दीर्घ हो । देवों का उत्तर—हे अग्नि ! प्रयाज, अनुयाज तथा हवि के मुख्य भाग तेरे हों, सम्पूर्ण यज्ञ तेरा हो, चारों दिशाएं तेरे प्रति नत हों ।।९।।

एवं च हुतभागाग्निः प्रयाजेष्विति मन्यते ।
तमेव प्राग् वषट्कारात् ध्येयं यस्ककुलोद्भवः ॥१०॥
नन्वनाग्नेयतां स्पष्टं पुनराधानगोचरात् ।
ब्राह्मणादवगच्छामस्तदिदं ब्राह्मणं शृणु ॥

"नानाग्नेयं पुनराधेये कुर्यात् । यदनाग्नेयं पुनराधेये कुर्यात् । व्यृद्धमेव तत् । अनाग्नेयं वा एतत् क्रियते । यत्समिधस्तनूनपातमिडो बर्हिर्यजति" (तै० ब्रा० १।३।१।२,३) इति ॥११॥

इस प्रकार यास्क प्रयाजों में अग्नि को हवि ग्रहण करने वाला देवता मानता है, और वषट्कार से पूर्व उसी को ध्यान करने योग्य स्वीकार करता है ।

आप्री देवताओं के अनुक्रमण के पश्चात् यास्क के निरुक्त (८।२१,२२) में प्रयाज-अनुयाज के देवताओं का प्रसङ्ग उठाते हुए लिखा है—

अथ किंदेवताः प्रयाजानुयाजाः ? आग्नेया इत्येके । प्रयाजान् मे०; त्वं प्रयाजा० (ऋ० १०।५१।८,९) । आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजा इति च ब्राह्मणम् । छन्दोदेवता इत्यपरम् । छन्दांसि वै प्रयाजाश्छन्दांस्यनुयाजा इति च ब्राह्मणम् । ऋतुदेवता इत्यपरम् । ऋतवो वै प्रयाजा ऋतवोऽनुयाजा इति च ब्राह्मणम् । पशुदेवता इत्यपरम् । पशवो वै प्रयाजाः पशवोऽनुयाजा इति च ब्राह्मणम् । प्राणदेवता इत्यपरम् । प्राणा वै प्रयाजा प्राणा वा अनुयाजा इति च ब्राह्मणम् (मा० श० ११।२।६।२७)। आत्मा वै प्रयाजा आत्मा वा अनुयाजा इति च ब्राह्मणम् (तै० सं० ६।१।५) । आग्नेय इति तु स्थितिः, भक्तिमात्रमितरत् । किमर्थं पुनरिदमुच्यते ? यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसा ध्यायेद् वषट्करिष्यन् इति ह विज्ञायते (ऐ० ब्रा० ११।८) ।

भाव यह है—प्रयाज-अनुयाज के देवता कौन हैं ? कुछ आचार्यों के मतानुसार इनका देवता अग्नि है, क्योंकि मन्त्र-ब्राह्मण से यही सिद्ध होता है । अन्य आचार्यों के मत में छन्द, ऋतु, पशु, प्राण तथा आत्मा—ये प्रयाज-अनुयाज के देवता है । सिद्धान्त है—अग्नि ही प्रयाज-अनुयाज का देवता है, अन्य सब भक्तिमात्र हैं (बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति—निरु० ७।२४) । देवतानिरूपण का क्या प्रयोजन है ? जिस देवता के लिये हवि ग्रहण की जाती है, वषट्कार से पूर्व मन से उसका ध्यान करे—ऐसा ब्राह्मण का आदेश है, अतः देवता निरूपण किया गया ।

शौनक ने भी प्रयाजानुयाजों को आग्नेय माना है (बृहद्देवता ८।१०३) ॥१०॥

शङ्का यह है—ब्राह्मण में उक्त पुनराधान-प्रकरण से हम प्रयाजों की अनाग्नेयता (अग्नि देवता के अभाव) को स्पष्ट जानते हैं । उस ब्राह्मणवचन को सुनिये—पुनराधेय (अग्नि के पुनः

अग्नेर्वाचकशब्दानां स्पष्टं याज्यास्वदर्शनात् ।
अनाग्नेयप्रवादोऽयम् इति यास्कस्य दर्शनम् ॥१२॥
"ऋतवो ह वै यज्ञेषु देवेषु भागमीषिरे" ।
इत्यादिके शतपथे प्रयाजा ऋतुदेवताः ॥१३॥
उक्ताः प्रवेशितोऽग्निश्च तेष्वृतुष्विति दर्शनम् ।
'वसन्तमृतूनाम्' इति, तेन कुर्मोऽनुमन्त्रणम् ॥

अत्र वाजसनेयकम्—"स वै समिधो यजति । वसन्तो वै समित् XXX । अथ तनूनपातं यजति । ग्रीष्मो वै तनूनपात् । ग्रीष्मो ह्यासां प्रजानां तनूस्तपति" [मा०श० १।५।३।९-१०: तु०—क०श० २।५।१।७-८] इति ।

तत्र अन्ततः श्रूयते—"स होवाचाग्निर्यन्मां प्रथमं यजध्वे, क्व मम ततो भागः स्यादिति ? ते होचुः देवाः । न त्वामायतनाच्च्यवयेमेति । तानृतूनग्निरुपमन्त्रयाञ्चक्रे"। इत्युक्त्वाऽन्तत आह—"स एषोऽग्निः ऋतुष्वन्वाभक्तः स वा ओषधीः पचति या इमा ऋतवः पचन्तीति"(तु०—क०श० २।५।३।४-५)॥१४।

स्थापन) में अग्नि देवता से भिन्न देवता वाला कर्म न करे। पुनराधेय में जो अग्नि से भिन्न देवता वाला कर्म है, वह ऋद्धिविहीन ही है। यह अग्निभिन्न देवता वाला कर्म किया जाता है, जो समिध्, तनूनपात्, इड तथा बर्हि का याग किया जाता है (तै० ब्रा० १।३।१।२-३) ॥११॥

इस विषय में यास्क का दर्शन (सिद्धान्त) यह है कि याज्याओं (समिध्, तनूनपात्, इड, बर्हि आदि देवता वाली ऋचाओं) में अग्नि के वाचक शब्दों का स्पष्ट श्रवण न होने के कारण इन याज्याओं को अनाग्नेय कहा जाता है ॥१२॥

ऋतवो ह वै यज्ञेषु देवेषु भागमीषिरे (काण्व शतपथ २।५।३।१; मा० शत०१ ।६।१।१) अर्थात् ऋतुओं ने यज्ञ में देवों के साथ भाग ग्रहण करने की इच्छा की—इत्यादि शतपथ के वचनों में प्रयाजों के देवता ऋतु बताये गये हैं। उन ऋतुओं में अग्नि को भी सम्मिलित किया गया है—'वसन्तमृतूनाम्' इत्यादि। उस से हम अनुमन्त्रण करते हैं।

इस विषय में वाजसनेय ब्राह्मण का कथन है—

यह (अध्वर्यु) समिध् को लक्ष्य कर आहुति देता है। वसन्त ही समिध् है। इस के पश्चात् तनूनपात् को आहुति देता है। ग्रीष्म ही तनूनपात् है। क्योंकि ग्रीष्म ही इन प्रजाओं के शरीरों को तपाता है। वहां आगे श्रुति है— अग्नि ने कहा—जो मुझे प्रथम आहुति देते हो, तो मेरा भाग कहां रहेगा ? देवों ने कहा—तुझे तेरे आयतन से पृथक् नहीं करेंगे। ऋतुओं से

ननु च द्विप्रकृतयः स्वयमेवेति केचन ।
स्वतन्त्रा देवतास्तेषाम् आग्नेयत्वं कथं भवेत् ॥१५॥
तत्परैः परिहारोऽत्र वृद्धैर्वाच्यः प्रयत्नतः ।
अस्माकं परिहारोऽत्र शीघ्रं न प्रत्यभादिति ॥१६॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

—:०:—

षष्ठोऽध्यायः

"अयं स यस्या[स्य"अ]थाध्यायं, व्याचिख्यासति माधवः ।
देवानां यज्ञसम्बन्धे वक्तव्यं सम्प्रदर्शयन् ॥१॥

अग्नि ने परामर्श किया। ऐसा कह कर ब्राह्मण में अन्त में कहा गया है—यह अग्नि ऋतुओं में प्रविष्ट हो गई। वह ओषधियों को पकाती है, जिन को ऋतुएं पकाती हैं ॥१३-१४॥

कुछ लोगों की शङ्का यह है कि इन आप्री देवों में कुछ स्वयं ही द्विप्रकृति (भिन्न स्वभाव) वाले स्वतन्त्र देव हैं, उन का आग्नेयत्व कैसे सिद्ध होगा?

प्रश्न यह है कि इध्म, तनूनपात्, इड, बर्हि, वनस्पति, त्वष्टा, स्वाहाकृति को तो अग्नि माना जा सकता है, परन्तु उषासानक्तौ, देवीः द्वारः, दैव्यौ होतारौ तथा तिस्रो देव्यः को अग्नि किस प्रकार माना जाय ? ॥१५॥

इस शङ्का का समाधान वेदार्थ में तत्पर अनुभव-वृद्ध जनों को प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये। हमें तत्काल इस शङ्का का समाधान नहीं सूझा।

इध्म आदि का अग्नित्व तो शाकपूणि के अनुसार यास्क ने निरूपित किया है, परन्तु उषासानक्तौ आदि के विषय में वह भी मौन है ॥१६॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

—:०:—

षष्ठोऽध्यायः

देवों के यज्ञ के सम्बन्ध में अपने कथन को प्रदर्शित करता हुआ माधव 'अयं स यस्य' (ऋ० १०।६।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

इतः प्रत्तेन हविषा वर्तन्ते दिवि देवताः ।
ततः प्रत्तैरिह वयं यथा वर्तामहे जलैः ॥२॥

"समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः" ।
इतीममर्थं प्रोवाच दीर्घतमा मामतेयः ॥

ब्राह्मणं च भवति—"इतः प्रदानं देवा उपजीवन्ति, XXX अमुतः प्रदानं मनुष्याः" (तै० ३।२।९।७)इति ॥३॥

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः" ।
इतीयं भगवद्गीता ब्रूतेऽर्थमिममञ्जसा ॥४॥

इस लोक से दी गई हवि के द्वारा द्युलोक में देवता उसी प्रकार जीवन यापन करते है, जिस प्रकार उस लोक से दिये गये जलों से हम इस लोक में जीवन विताते हैं। समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः (ऋ० १।१६४।५१) इस ऋक् में मामतेय दीर्घतमा ने इसी अर्थ का प्रवचन किया है।

ब्राह्मण भी है—इस लोक से दिये गये पदार्थ का उपभोग देव करते हैं, उस लोक से दिये गये पदार्थ का उपभोग मनुष्य करते हैं।

मामतेय दीर्घतमा का आर्ष है—

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः ।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥ ऋ० १।१६४।५१ ॥

अर्थात्—एक ही जल है, जो दिन-रात ऊपर जाता है और नीचे आता है। भूमि को मेघ तृप्त करते हैं, द्यौ को यज्ञ की अग्नियां तृप्त करती हैं ॥२-३॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः (भगवद्गीता ३।१०) इत्यादि भगवद्गीता के वचन भी स्पष्टरूप से इसी बात को कहते हैं।

भगवद्गीता (३।१०-११) में कहा गया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
देवान् भावयतानेन देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

अर्थात्—यज्ञसहित प्रजाओं की सृष्टि करके प्रजापति ने कहा— इस (यज्ञ) से

इतिहासपुराणेषु ननु लोकाः प्रदर्शिताः ।
उद्यानभवनोपेताः सर्वकामसमन्विताः ॥५॥
देवासुराणां युद्धं च पश्वन्नादिनिमित्तकम् ।
"किमिच्छन्ती सरमे[मा"इ]ति, पणिभिः पशवो हृताः ॥६॥
अंशावतारा देवानां सन्तीति कवयो विदुः ।
नानाविधांश्च ते लोकान् अधितिष्ठन्ति पार्थिवान् ॥७॥
सप्तद्वीपा वसुमती मध्ये मेरुश्च तिष्ठतिं ।
अर्वाग्घिमवतोऽस्माभिर् मनुष्यैर्दृश्यतेऽधुना ॥८॥
यजन्ते त इमे देवांस्तेषु लोकेष्ववस्थिताः ।
वैदिकाश्च पुराकल्पाँस्तन्मूलान् कवयो विदुः ॥९॥

वृद्धि प्राप्त करो, यह तुम्हारी इष्ट कामनाओं को पूर्ण करे । इस (यज्ञ) से देवों को भावित (उन्नत) करो, वे देव तुम्हें उन्नत करें। इस प्रकार पारस्परिक उन्नति से परम श्रेय को प्राप्त करोगे ॥४॥

(शङ्का) इतिहास-पुराणों में अनेक लोकों का वर्णन किया गया है, जो उद्यानों भवनों तथा सम्पूर्ण-कामना योग्य पदार्थों से युक्त हैं। फिर भी, पशु-अन्न आदि पदार्थों के लिए देवों तथा असुरों के सङ्ग्राम का वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ—किमिच्छन्ती सरमा(ऋ० १०।१०८) इस सूक्त में वर्णन है कि पणियों (असुरों) ने इन्द्र की गौओं का अपहरण कर लिया ।

शङ्का का तात्पर्य यह है कि जब देवों को सभी काम्य पदार्थ प्राप्त हैं, तब वे पशु आदि की कामनाएं करते हुए असुरों से संग्राम तक कर डालने के लिए क्यों उद्यत होते हैं ? सीधा प्रश्न यह है कि देव आप्तकाम हैं या अनाप्तकाम ? यदि आप्तकाम हैं, तो असुरों से युद्ध का कथन कैसे उपपन्न होगा ? और यदि अनाप्तकाम हैं, तो उन की स्तुति तथा आशीः (याच्ञा) कैसे उपपन्न होगी ? ॥५-६॥

(समाधान) विद्वानों का मत है कि देवों के अंशावतार हैं और वे नाना प्रकार के पार्थिव लोकों के अधिष्ठाता हैं। सात द्वीपों वाली यह पृथिवी है और मध्य में मेरु खड़ा हुआ है। हिमवान् (हिमालय) से इधर की भूमि हम मनुष्यों को इस समय दिखाई देती है ॥७-८॥

उन लोकों में स्थित ये अंशावतार देव पूर्ण देवों को लक्ष्य करके यज्ञ करते हैं। वैदिक विद्वान् कर्मकाण्ड में आये हुए पुराकल्पों को तन्मूलक (अंशावतार-यज्ञमूलक) मानते हैं। इस

एवं च देवा यष्टारो यष्टव्याश्च तथाऽभवन्।
अंशावतारैर्यष्टारो यष्टव्यास्तु दिवि स्थिताः ॥१०॥
"आप्तकामाः स्विद्" इत्यस्मिन् यदुवाच पतञ्जलिः।
निदाने तच्च बोद्धव्यम् इममर्थमभीप्सुभिः ॥११॥
एकः किमिन्द्रो देवाश्च उताहो बहवोऽभवन्।
बहवः सन्ति सर्वे च सदृशा नामकर्मभिः ॥१२॥
जनतायां "जनतायामिन्द्रः" ब्राह्मणमाह च।
यज्ञेष्वेकस्य बहुषु न शक्या युगपद् गतिः ॥

प्रकार यज्ञ करने वाले तथा यज्ञ के लक्ष्य देव ही थे। अंशावतारों के रूप में देव यष्टा (आहुति देनेवाले) थे और द्युलोक में स्थितरूप में यष्टव्य (आहुति ग्रहण करनेवाले) थे।

पूर्वोक्त शङ्का के समाधान के लिए माधव ने अंशावतारों की कल्पना की है। उस का अभिप्राय यह है कि अंशावतार के रूप में देव अनाप्तकाम भी हैं और पूर्ण रूप में (द्यौस्थित) आप्तकाम भी हैं। अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥९-१०॥

पतञ्जलि ने निदानसूत्र में 'आप्तकामाः स्विद्' प्रकरण में जो कुछ कहा है, उसे भी इस बात को समझने के इच्छुक लोगों को जानना चाहिये।

पतञ्जलि ने निदान (२।३) में कहा है—"आप्तकामाः स्विद् देवाः स्तूयन्त३ अनाप्तकामा इति? अनाप्तकामा इति वै खल्वाहुः। को ह्याप्तकामस्य स्तुत्या कः प्रत्ययो भवतीति? अथाप्याहुः शश्वदङ्गाप्तकामा एव भवन्ति। तत्प्रवादेन जानीमः। यस्मै देवा कामयन्ते तस्मै समर्धयन्ति। कुतोऽनाप्तकामा समर्धयिष्यन्तीति? अथापीहैवं पश्याम आप्तकामतराणामेवानाप्तकामैरीप्साम्। यथैतद्राज्ञामिति। अथाप्यल्पकामवदाह—विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इति (मा० सं०२२।२८; ३९।१३)। कुतोऽनाप्तकामान् प्रति व्यभविष्यदिति?" अर्थात्—आप्तकाम देवों की स्तुति की जाती है या अनाप्तकामदेवों की? अनाप्तकाम देवों की, ऐसा ही कहते हैं। आप्तकाम की स्तुति से क्या प्रयोजन? कहते हैं, देव सदा आप्तकाम ही होते हैं। इस को प्रवाद से जानते हैं। जिस को देव चाहते हैं, उस को समृद्ध करते हैं। अनाप्तकाम कैसे समृद्ध कर सकेंगे? यहां अनाप्तकामों के द्वारा आप्तकामतर की प्राप्ति की इच्छा को देखते हैं। जैसे राजाओं की। अल्पकाम के समान कहता है—सब देवों के लिए स्वाहा। अनाप्तकामों के प्रति कैसे ऐसा प्रयोग करेगा? ॥११॥

(शङ्का) क्या इन्द्र एक है या बहुत से देव हैं? बहुत से इन्द्र हैं और वे सब नाम तथा कर्मों से समान हैं। 'जनतायामिन्द्रः' यह ब्राह्मणवचन जनसमूह में इन्द्र को बताता है। अनेक यज्ञों में एक काल में एक इन्द्र की गति (उपस्थिति) सम्भव नहीं है।

अत्र ब्राह्मणम्—"एकैको वै जनतायामिन्द्रः। एकं वा एताविन्द्रमभि-संसुनुतः। यौ द्वौ संसुनुतः" (तै०ब्रा० १।४.६।१) इति ॥१३॥

अत्र ब्रूम एक एव सर्वस्य जगतः प्रभुः।
बहुष्विन्द्रः सन्निधत्ते यज्ञेषु युगपद्विभुः ॥१४॥
बहवो महिमानोऽस्य सन्ति योगेन साधिताः।
भार्यासु सोभरिरिव तैर्यज्ञेष्वेषु गच्छति ॥१५॥
"नाना हि त्वा हवमानाः", प्रधानाः संप्रदर्शिताः।
"आ त इन्द्र महिमानम्", "अरं त इन्द्र कुक्षये" ॥१६॥
महिम्नोऽस्तित्वमेताभ्याम् अवगच्छन्ति वैदिकाः।
"प्रिया धामान्ययाडग्निः", इति चाधीमहे वयम् ॥

इस विषय में ब्राह्मण है—

जनसमूह में एक-एक इन्द्र होता है। एक इन्द्र को ये दोनों सोमाहुति देते हैं, जो दोनों एक साथ आहुति देते हैं।

(समाधान) पूर्वोक्त शङ्का का समाधान हम इस प्रकार करते हैं—सम्पूर्ण जगत् का स्वामी, विभू एक ही इन्द्र अनेक यज्ञों में एक काल में उपस्थित रहता है ॥१४॥

योग के द्वारा सिद्ध किये गये अनेक ऐश्वर्य इस को प्राप्त हैं। उन योग के ऐश्वर्यों के द्वारा यह (इन्द्र) इन यज्ञों में उसी प्रकार चला जाता है, जिस प्रकार सोभरि अनेक भार्याओं में (योगबल से अनेक शरीर रचकर) गमन करता था।

सोभरि ऋषि की कथा विष्णुपुराण (४।२) में वर्णित है। उस का सार है—सोभरि ऋषि बारह वर्ष से तपस्या कर रहा था। मत्स्याधिपति को पुत्र-पौत्रों सहित सुखी देख कर सोभरि को सुख-भोग की इच्छा हो गई। उस ने मान्धाता राजा से उस की पचास कन्याओं से विवाह की इच्छा प्रकट की। राजा ने कन्याओं द्वारा स्वयं वरण करने पर बल दिया। कन्याओं ने ऋषि का वरण किया। सोभरि ने योगबल से अनेक शरीर रच कर पचासों भार्याओं को सन्तुष्ट किया। अन्तत: ऋषि को विरक्ति हुई और भार्याओं सहित वानप्रस्थ हो गया ॥१५॥

नाना हि त्वा हवमानाः (ऋ० १।१०२।५) इस ऋक् में विभिन्न जनों को इन्द्र का आह्वान करते हुए दिखाया गया है। आ तं इन्द्र महिमानम् (ऋ० ८।६५।४); अरं त इन्द्र कुक्षये (ऋ० ८।९२।२४) इन दो ऋचाओं के द्वारा वैदिक विद्वान् इन्द्र की महिमा (सामर्थ्य)

अत्र शाट्यायनकम्—"कुत्सश्च लुशश्चेन्द्रं व्यह्वयेताम्" इत्युक्त्वाऽऽह—"तावन्तरातिष्ठत् । तावब्रवीत् । अंशमाहरेताम् । आत्मना वामन्यतरस्य पास्यामि । महिम्नाऽन्यतरस्य" (जै०ब्रा० १।२२८) इत्यादि ॥१७॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

—:०:—

के अस्तित्व को जानते है। हम भी अध्ययन करते हैं—प्रिया धामान्ययाडग्निः (आश्व० श्रौत १।६।३)।

नाना स्थानों पर आह्वान करनेवाले जनों की प्रदर्शिका ऋक् है—

नाना हि त्वा हवमाना जना इमे धनानां धर्तरवसा विपन्यवः।
अस्माकं स्मा रथमा तिष्ठ सातये जैत्रं हीन्द्र निभृतं मनस्तव ॥ ऋ० १।१०२।५॥

अर्थात् हे धनों के धारक इन्द्र, विभिन्न स्थलों में स्तोता जन रक्षार्थ तुझे बुला रहे हैं। हमारे रथ में दानार्थ बैठ। तेरा मन स्थिर एवं जयशील है।

इन्द्र की महिमा को दिखाने वाली ऋक् हैं—

आ तं इन्द्र महिमानं हरयो देव ते महः। रथे वहन्तु बिभ्रतः॥ ऋ० ८।६५।४॥
अरं त इन्द्र कुक्षये सोमो भवतु वृत्रहन्। अरं धामभ्य इन्दवः॥ ऋ० ८।९२।२४॥

अर्थात्—हे इन्द्र देव, तेरी महिमा को रथ में धारण किये हुए अश्व वहन करें। हे वृत्रहन् इन्द्र, तेरे उदर के लिए और तेरे नानाविध शरीरों के लिए सोम पर्याप्त हों।

'प्रिया धामान्ययाडग्निः' यह वचन आश्वलायन ने स्विष्टकृत् याग के प्रसङ्ग में कहा है। इस के पश्चात् इन्द्र आदि देवता नाम का षष्ठ्यन्त रूप बोला जाता है।

[अत्र.........................न्यतरस्य]

इस विषय में शाट्यायन ब्राह्मण का कथन है—

कुत्स और लुश ने इन्द्र का आह्वान किया। यह कह कर कहा है—उन दोनों के बीच में (इन्द्र) आ खड़ा हुआ। उन दोनों से बोला। अंश (सोम) लाओ। तुम दोनों में से एक का अपने शरीर से पीऊंगा, अन्य का अपनी महिमा से।

जैमिनीय ब्राह्मण (१।२२८) में यह कथा स्पष्टरूप से वर्णित है ॥१६-१७॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

—:०:—

सप्तमोऽध्यायः

"निवर्तध्वं मानु गात", व्याचिख्यासति माधवः ।
वस्वादिषु प्रवक्तव्यम् आदितः सम्प्रदर्शयन् ॥१॥
वसवो रुद्रा आदित्याः शाट्यायनकदर्शिताः ।
पृच्छते याज्ञवल्क्येन शाकल्याय महर्षये ॥

अत्र शाट्यायनकम्—"कतमे वसव इति ? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः । एतेषु होदं सर्वं वसु हितमिति । तस्माद्वसव इति । कतमे रुद्रा इति ? दश पुरुषे प्राणा इति होवाच । आत्मैकादशः । ते यदोत्क्रामन्तो यन्ति अथ रोदयन्ति । तस्माद् रुद्रा इति । कतमा आदित्या इति ? द्वादश मासाः संवत्सर इति होवाच" [जै० ब्रा० २।७७; तु०—मा०श०' ११।६।३।६—८ प्रभृ०] इति ॥२॥

प्रोवाच बृहदारण्ये शाकल्यायैव पृच्छते ।
वसून् अयं याज्ञवल्क्यस्तदथ ब्राह्मणं शृणु ॥८॥

सप्तमोऽध्यायः

वसु आदि के विषय में अपने वक्तव्य को आरम्भ में प्रदर्शित करता हुआ माधव निवर्तध्वं मानु गात (ऋ० १०।१९।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है। ।१।।

याज्ञवल्क्य ने प्रश्नकर्ता महर्षि शाकल्य को शाट्यायन ब्राह्मण में वसु रुद्र तथा आदित्य देवों (के स्वरूप को दर्शाया है ।

इस विषय में शाट्यायन ब्राह्मण का कथन है—

वसु कौन-कौन से हैं ? अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ये वसु हैं । क्योंकि इन में यह सम्पूर्ण वसु (धन-ऐश्वर्य) रखा है, इस लिए ये वसु हैं । रुद्र कौन-कौन से हैं ? पुरुष में दस प्राण, ऐसा कहा । आत्मा ग्यारहवां है । वे जब शरीर से निकलते हुए चले जाते हैं, तो रुलाते हैं । इस लिए रुद्र हैं । आदित्य कौन-कौन से हैं ? बारह मास संवत्सर हैं, ऐसा कहा ।।२।।

बृहदारण्यक में इस याज्ञवल्क्य ने प्रश्नकर्त्ता शाकल्य को ही वसुओं का प्रवचन किया । उस ब्राह्मण को भी सुनिये ।

"कतमे वसव इति ? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चाऽन्तरिक्षं चाऽऽदित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः" (मा०श० ११।६।३।६)
इत्यादिकं वाजसनेयिभ्यः श्रोतव्यमिति ॥३॥

अरुणैर्नाम ऋषिभिर्वसवोऽन्ये प्रदर्शिताः ।
अग्निश्च जातवेदाश्च पठिता नामभिश्च ते ॥४॥
रुद्रानपि पठन्त्यन्यान् अरुणा गणशः स्थितान् ।
ज्ञेयास्ते प्रभ्राजमाना अरुणप्रक्रमक्रमात् । ५॥
ये वा केचन सन्त्येते क एतेषां समन्वयः ।
क्रमेण सवनेषूक्तो विविधैर्ब्राह्मणैः सह ॥६॥
ग्रहैरिन्द्रादयोऽस्माभिरिज्यन्ते गृहदेवताः ।
अन्येषु चेज्यमानेषु कथं वस्वादयो गताः ॥७॥
वसुरुद्रादितिसुता इन्द्रेण सह सङ्गताः ।
देवता तद्विशिष्टेन्द्रः सवनानां प्रदर्शितः ॥८॥
वस्वादयश्च बहुभिरन्यैर्देवैः समन्विताः ।
अग्निवाय्वादयस्तेषु प्रधाना इति निर्णयः ।९॥

वसु कौन-कौन से हैं ? अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ये वसु हैं (बृहदा० उप०३।९) इत्यादि वाजसनेयी शाखा वालों से सुनना चाहिये ॥३॥

अरुण नामक ऋषियों ने अन्य वसुओं को दर्शाया है। अग्नि, जातवेदा इत्यादि नामों से वे पढ़े गये हैं। अरुण ऋषि गणरूप से स्थित अन्य रुद्रों का पाठ करते हैं। उन प्रकाशमान देवों को अरुणों की शाखा के अनुसार जानना चाहिये।

आरुणी शाखा उपलब्ध नहीं है ॥४-५॥

(प्रश्न) ये वसु आदि देवता जो भी हों, विविध ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा यज्ञों में इन का क्रम से क्या सम्बन्ध बताया गया है ? हम ग्रहों के साथ इन्द्र आदि गृहदेवताओं के लिये आहुति देते हैं। आहुति प्राप्त करनेवाले अन्य देवों में वसु आदि किस प्रकार आ जाते हैं ? ॥६-७॥

(उत्तर) वसु, रुद्र तथा आदित्य इन्द्र के साथ सम्बद्ध हैं। इन देवताओं से युक्त इन्द्र यज्ञ का देवता दर्शाया गया है । और वसु आदि देवता अन्य अनेक देवों के साथ सम्बद्ध हैं। उन में अग्नि वायु आदि प्रधान देवता हैं, यह निर्णय है ॥८-९॥

"त्रीणि शता त्री सहस्रा", बह्वो हि प्रदर्शिताः ।
इन्द्रद्वारेण सर्वे च ते यज्ञेषु समन्विताः ॥१०॥
प्रतिलोकं स्थितान् ब्रूते, "ये देवासो दिवी [वि"इ]त्यृषिः ।
तेषु कः प्रथमो वर्गो मध्यमः कः क उत्तमः ॥११॥

त्रीणि शता त्री सहस्राणि (ऋ० ३।९।९) इस ऋक् में बहुत से देवता दर्शाये गये हैं । वे सब देवता इन्द्र के माध्यम से यज्ञों में सङ्गत होते हैं ।

उदाहृत ऋक् में विश्वामित्र ने बहुत अधिक देवों की संख्या दर्शायी है । ऋक् है—

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् ।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥ ऋ० ३।९।९।

अर्थात्—तीन हजार तीन सौ उन्तालीस देवों ने अग्नि की पूजा की, घृतों से सींचा,इस के लिए बर्हि को बिछाया और इस के पश्चात् उस पर होता (अग्नि) को बैठाया ।

ऋ० १०।५२।६ में यह मन्त्र सौचीक अग्नि का आर्ष है । माध्यन्दिन संहिता(३३।७) में यह मन्त्र विश्वामित्र का आर्ष है । देवों की इतनी बडी संख्या की उत्पत्ति किसी से नहीं हो सकी । यहां तक कि, माध्यन्दिनशतपथ ब्राह्मण (१४।६।९।३,४) में कहा गया है—महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति । कतमे ते त्रयस्त्रिंशदिति ? अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति (ये इन की महिमाएं ही हैं, देव तो तेंतीस ही हैं । वे तेंतीस कौनसे हैं ? आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य— वे इकत्तीस, इन्द्र तथा प्रजापति, इस प्रकार तेंतीस हुए) । शतपथ ने अन्यत्र (४।५।७।२) इन्द्र-प्रजापति के स्थान में द्यावापृथिवी माना है और प्रजापति को चौंतीसवां देव बताया है ॥१०॥

ये देवासो दिवि (ऋ० १।१३९।११) इस ऋक् में ऋषि (परुच्छेप दैवोदासि) ने प्रत्येक लोक में स्थित देवों को बताया है । उन में प्रथम वर्ग कौन सा है, मध्यम वर्ग कौन सा है, और उत्तम वर्ग कौन सा है ?

उदाहृत परुच्छेपीय आर्ष है—

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥ ऋ० १।१३९।११॥

अर्थात्—हे देवो, जो द्यौ में ग्यारह हो, पृथिवी पर ग्यारह हो, अन्तरिक्ष में रहनेवाले महिमा से ग्यारह हो, वे देव इस यज्ञ का सेवन करो ॥११॥

एवंविधेषु मन्त्रेषु क्रियाकारकबोधनम् ।
शक्यतेऽनृषिभिः कर्तुं न विविच्य प्रदर्शनम् ॥१२॥
बहूनामिह मन्त्राणां क्रियाकारकदर्शनात् ।
भवत्यर्थोऽपि विस्पष्टः प्रयोक्तुरिव सन्निधौ ॥१३॥
अथ सङ्ख्यासमुद्देशे भूयान् भवति संशयः ।
ब्राह्मणानि प्रमाणानि तदर्थेष्विति निर्णयः ॥१४॥
एवं च कथितेऽप्यर्थे नानादिग्भ्यः समागताः ।
पठन्ति चेद् ब्राह्मणानि तत एव विनिर्णयः ॥१५॥
पठिता देवताध्याये त्रिषु स्थानेषु देवताः ।
विद्यन्ते स्तुतयो यासां ता एता यास्कदर्शिताः ॥१६॥

इस प्रकार के मन्त्रों में अनृषि (साधारण विद्वान्) क्रिया-कारक मात्र का ही बोध कर सकता है, पृथक्-पृथक् करके प्रदर्शन नहीं कर सकता ॥१२॥

वेद में अनेक मन्त्रों के क्रिया-कारकों के दर्शन से अर्थ उसी प्रकार स्पष्ट हो जाता है, जिस प्रकार शब्द प्रयोग करनेवाले व्यक्ति के समीप रहने से स्पष्ट वाक्यार्थ बोध हो जाता है ।

माधव का तात्पर्य यह है कि मन्त्रों के सामान्य वाक्यार्थ का बोध, उसी प्रकार के अन्यत्र प्रयुक्त अनेक मन्त्रगत वाक्यों से हो जाता है, परन्तु विवेचनात्मक बोध केवल ऋषि को ही भासता है ॥१३॥

देवों की संख्या के विषय में यदि फिर भी सन्देह उत्पन्न हो, तो उन के अभिप्रायों के सम्बन्ध में ब्राह्मण-वचन ही प्रमाण (निर्णायक) होते हैं, यह सिद्धान्त है ॥१४॥

इस प्रकार अर्थ के कथित होने पर भी विभिन्न दिशाओं (स्थानों) से आये हुए विद्वान् यदि किन्हीं यदि विशिष्ट ब्राह्मणों का पाठ करें, तो उस से ही विशेष निर्णय होता है ॥१५॥

देवताध्याय में तीनों स्थानों में विद्यमान देवता पढ़े गये हैं । जिन की स्तुतियां वेद में विद्यमान हैं, वे देवता यास्क ने दर्शाये हैं ।

निघण्टु के पञ्चम अध्याय में सभी वैदिक देवता-नामों को पढ़ा गया है । इस के छह खण्ड हैं—पहले तीन खण्डों में पृथिवीस्थानीय, चौथे-पांचवें खण्डों में मध्यस्थानीय और छठे खण्ड में द्युस्थानीय देवों का संग्रह किया गया है । यास्क ने निरुक्त के सातवें-आठवें-नवें अध्याय में पृथिवी-स्थानीय, दसवें-ग्यारहवें अध्याय में मध्यस्थानीय और बारहवें अध्याय में द्युस्थानीय देवों का सोदाहरण विवेचन किया है ॥१६॥

केचिद् वस्वादयस्तेषु ये प्राग्ब्राह्मणदर्शिताः ।
प्रजापतिश्चाश्विनौ च बहिर्भूता इति स्थितिः ॥१७॥
अष्टौ वसवः इत्युक्त्वा यदेतावत्त्वकीर्तनम् ।
तत्तु वस्वादिबाहुल्याद् उपेक्ष्यान्यत् कृतं विदुः ॥
"अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्या एतावन्तो वै देवाः"
(तु०—मा०श० ४।५।७।२) इति ब्राह्मणमिति ॥१८॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

—:०:—

अष्टमोऽध्यायः

"प्र मा युयुज्रे प्रयुजः", व्याचिख्यासति माधवः ।
यदात्मविषये वाच्यं तदादौ संप्रदर्शयन् ॥१॥

उन (=निघण्टु देवताध्याय में पठित देवों) में कुछ वसु आदि देवता है,जो पूर्व ब्राह्मण में प्रदर्शित किये गये हैं । प्रजापति तथा अश्विद्वय भी हैं, जो वसु आदि से बहिर्भूत हैं ।

निघण्टु (अ०५) में वसु, रुद्र, आदित्य शब्दों का तो पाठ है ही, साथ ही वसुसज्ञक अग्नि, पृथिवी,वायु, आदित्य एवं चन्द्रमा का पृथक् पाठ भी है ॥१७॥

'आठ वसु है' इत्यादि कह कर जो 'एतावन्तः' (इतने) शब्द का प्रयोग (ब्राह्मणवचन में) किया गया है, वह वसु आदि की बहुलता (अधिकता) के कारण, अन्य की उपेक्षा करके, किया गया है ।

आठ वसु हैं, ग्यारह रुद्र हैं, बारह आदित्य हैं—इतने ही देव हैं । यह ब्राह्मण वचन है ।

स्पष्ट संख्या का निर्देश होने पर भी ब्राह्मण ने 'एतावन्तः' पद का प्रयोग यह दर्शाने के लिये किया है कि यद्यपि परिगणित देवों के अतिरिक्त भी बहुत से देवता हैं, तथापि 'इतने' ही मुख्य हैं' शेष गौण हैं ॥१८॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

—:०:—

अष्टमोऽध्यायः

आत्मा के विषय में जो कुछ उल्लेखनीय है, उस को आदि में दर्शाता हुआ माधव 'प्र मा युयुज्रे प्रयुजः' (ऋ० १०।३३।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

एक एव महानात्मा बहुधाभूय तिष्ठति ।
यथा सोभरिरेकः सन् बहुधा योगतोऽभवत् ॥२॥
बहुधांऽशावतारेषु यथा वा भगवानभूत् ।
इन्द्रो वाऽभूद् यथा सव्यो धीरो वैकुण्ठ एव च ॥
अत्र ब्राह्मणानि –"प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत । ता विश्वकर्मा भूत्वा व्यमार्दयत् । तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वाऽचरत्" (तु० — तै० ब्रा० १।६।४।१) इति ॥३॥
तदेतद् दीर्घतमसा विस्पष्टमृषिणेरितम् ।
वदतीति "इन्द्रं मित्रम्" इति, "सुपर्णमि"ति ऋक्कथा ॥४॥

एक ही महान् आत्मा बहुत रूपों में होकर स्थित रहता है, जैसे सोभरि एक होते हुए भी योगबल से अनेक रूपोंवाला हो गया था, अथवा जैसे भगवान् (विष्णु) अंशावतारों में अनेक प्रकार का हो गया, अथवा जिस प्रकार एक ही इन्द्र सव्य, धीर एवं वैकुण्ठ हो गया था ।

इस विषय में ब्राह्मणवचन भी हैं—

'प्रजापति ने सविता होकर प्रजाओं को रचा । विश्वकर्मा होकर उन (प्रजाओं) का विमर्दन किया (विविध आकार बनाये) । उस में प्रजापति ने वायु होकर विचरण किया ।"

सोभरि ऋषि की कथा विष्णुपुराण (४।२) में विस्तार से वर्णित है, उस का सार पूर्व (इसी अष्टक के ६।१५ में) दिया जा चुका है । विष्णु के अंशावतारों का वर्णन पुराणों में किया गया है । सव्य के विषय में बृहद्देवता (३।११५) में कहा गया है—

स्वयमिन्द्रसमं पुत्रम् इच्छतोऽङ्गिरसो मुनेः । वज्रचेव सव्यो भूत्वर्षेर्योगित्वात् पुत्रतां गतः ॥

अर्थात् इन्द्र के समान पुत्र के इच्छुक अङ्गिरा ऋषि का स्वयं इन्द्र सव्य के रूप में पुत्र हुआ । सर्वानुक्रमणी (ऋ० १।५१) में कहा गया हैं—अङ्गिरा इन्द्रतुल्यं पुत्रमिच्छन्नस्यध्यायत् सव्य इतीन्द्र एवास्य पुत्रोऽजायत । वैकुण्ठ के विषय में बृहद्देवता (७।४९,५०) का कथन है—

प्राजापत्यासुरी त्वासीत् विकुण्ठा नाम नामतः ।
सेच्छन्तीन्द्रसमं पुत्र तेपेऽथ सुमहत्तपः ॥
सा प्रजापतितः कामाँल्लेभेऽथ विविधान् वरान् ।
तस्यां चेन्द्रः स्वयं जज्ञे जिघांसुर्दैत्यदानवान् ॥

अर्थात्—प्रजापति की आसुरी पुत्री विकुण्ठा ने इन्द्रतुल्य पुत्र की इच्छा से घोर तप किया । उस ने प्रजापति से अनेक वरों को प्राप्त किया । दैत्य-दानवों को मारने का इच्छुक इन्द्र स्वयं उस में उत्पन्न हुआ । इसी प्रकार सर्वानुक्रमणी (ऋ० १०।४७) में कहा गया है—विकुण्ठा नामासुरीन्द्रतुल्यं पुत्रमिच्छन्ती महत्तपस्तेपे, तस्याः स्वयमेवेन्द्रः पुत्रो जज्ञे ॥२-३॥

यह बात दीर्घतमा ऋषि ने भी स्पष्ट कही है । इन्द्रं मित्रं वरुणम् (ऋ० १।१६४।४६)

जगद्व्यापारकरणं तत्तद्रूपपरिग्रहात् ।
"विश्वतश्चक्षुरि [क्षुः" इ]त्याद्याः, तस्मान्नात्मपरा इति ॥५॥
तत्र चोपनिषत्सूक्ताः परस्य ब्रह्मणो गुणाः ।
सर्वथा संभवे नेया ब्रह्मद्वारेति निश्चयः ॥६॥
ब्रह्मैव विश्वकर्मोक्तं विश्वस्य करणादिति ।
ब्रुवन्ति कवयः केचिद् ऐश्वर्यादिन्द्रमेव च ॥७॥

यह ऋक् (अग्नि को) इन्द्र, मित्र, वरुण कहती है ।

दीर्घतमा ऋषि की ऋक् है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान् ।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋ० १।१६४।४६॥

वेङ्कटमाधवकृत भाष्य के अनुसार इस ऋक् का भाव है—अग्निः सर्वा देवताः (ऐ० ब्रा० २।३) के अनुसार इन्द्र आदि अग्नि को कहते हैं, वही दिव्य सुपतन आदित्य है । एक अग्नि को ही बहुत शरीर ग्रहण करने के कारण बहुत प्रकार कहते हैं । अग्नि को ही यम, मातरिश्वा कहते हैं ॥४॥

विश्वकर्मा उन-उन रूपों को ग्रहण करके जगत् के व्यापारों को करता है । इसलिये विश्वतश्चक्षुः (ऋ० १०।८१।३) इत्यादि ऋचाएं आत्मपरक (परब्रह्मविषयक) नहीं हैं ।

उदाहृत ऋक् है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥ ऋ० १०।८१।३॥

अर्थात्—सर्वत्र चक्षु-मुख-बाहु-चरण वाला एक देव (विश्वकर्मा) द्यौ तथा पृथिवी को रचता है और बाहु एवं चरणों से प्रेरित करता है । इस प्रकार के आलङ्कारिक वर्णन पुराणों (कूर्मपूर्वार्ध अ० ७) में उपलब्ध होते हैं । वेङ्कट माधव इन वर्णनों को यथोक्त रूप में लेता है ॥५॥

उपनिषदों में कहे गये परब्रह्म के गुणों को सर्वथा सम्भव होने पर ब्रह्म द्वारा लगाना चाहिये, यह निश्चय है ॥६॥

कुछ कवियों (विद्वानों) का कथन है कि विश्व (जगत्) को करने (रचने) के कारण ब्रह्म को ही विश्वकर्मा कहा जाता है और ऐश्वर्य के कारण ब्रह्म को ही इन्द्र कहा जाता है ॥७॥

"इन्द्रो मायाभिरि [भिः" इ]त्यत्र, न तथेच्छति शौनकः।
नैवं कात्यायनोऽप्याह तस्मान्नात्मपरा इति ॥८॥
"युक्ता ह्यस्ये [स्य" इ]ति, चेन्द्रस्य हरयः परिकीर्तिताः।
न सन्ति ब्रह्मणस्तेऽश्वा नान्वादेशं तदर्हति ॥९॥
निश्चरन्ति यथा लोहपिण्डात्तप्तात् स्फुलिङ्गकाः।
सकाशान्महतस्तद्वद् आत्मानोऽन्ये विनिर्गताः ॥१०॥
स एष बहुधाभावो महतोऽस्माभिरीरितः।
अणवो जीवसंज्ञास्ते नानाकर्मफलैर्युताः ॥११॥

इन्द्रो मायाभिः (ऋ० ६।४७।१८) इस ऋक् में शौनक को ऐसा (इन्द्र पद से ब्रह्म का ग्रहण) इष्ट नहीं है। कात्यायन ने भी ऐसा नहीं कहा है। इस लिये यह ऋक् आत्मपरक (ब्रह्म-विषयक) नहीं है।

शौनक और कात्यायन ने उदाहृत ऋक् के देवता के विषय में कोई विशेष टिप्पणी नहीं की है। ऋक् हैं—

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ ऋ० ६।४७।१८॥

माधवानुसार अर्थ है—इन्द्र विभिन्न रूप दिखाने के लिए प्रत्येक यजमान के प्रति रूप को धारण करता है। इन्द्र अपने कर्मों से बहुरूप होता है। इस के (रथ में) एक हजार घोड़े जुड़े हुए हैं ॥८॥

'युक्ता ह्यस्य' इस चतुर्थ चरण में इन्द्र के घोड़े वर्णित हैं। वे घोड़े ब्रह्म के नहीं हो सकते। इसलिये 'अस्य' पद से ब्रह्म का अन्वादेश (पुनः निर्देश) नहीं हो सकता ॥९॥

जिस प्रकार तप्त लोहपिण्ड से चिनगारियां निकलती हैं, उसी प्रकार महान् आत्मा से अन्य आत्माएं निकली हैं।

मुण्डक उपनिषद् (२।१।१) में कहा गया है—तदेतत् सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥ अर्थात् यह सत्य है कि जैसे प्रदीप्त अग्नि से हजारों समानरूपवाली चिनगारियां निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से विविध जीव उत्पन्न होते हैं, और उसी में लीन हो जाते हैं। अगली कारिकाओं में भी माधव ने उपनिषद्-प्रोक्त भावों का निरूपण किया है ॥१०॥

हम ने इसी को महान् आत्मा का बहुत रूपों में प्रकट होना कहा है। वे जीवनामक अण नाना प्रकार के कर्मफलों से सम्बद्ध हैं ॥११॥

व्याप्य वायुर्यथा प्राणाँस्तिष्ठत्येको बहूनिह ।
तथा महानिमान् जीवान् एकः सन् व्याप्य तिष्ठति ॥१२॥

पयसीव घृतं गूढं अरण्योरिव पावकम् ।
व्याप्तं नापक्वकरणास्तं पश्यन्तीव मानवाः ॥१३॥

ततो विनिर्गता जीवा यदैकी भावयन्त्यमी ।
अग्निनाऽग्निमिवात्मानं जानन्त्यन्येन्द्रियैरपि ॥१४॥

योगेश्वरेण तदिदं याज्ञवल्क्येन भाषितम् ।
योगी मुक्तश्च सर्वासां ज्ञानं त्वाप्नोति वेदनाम् ॥१५॥

ब्रह्मैव नित्यमस्माकं ततः सर्वमभूदिदम् ।
तदेव प्रलयेऽभ्येति समुद्रमिव निम्नगा ॥१६॥

जिस प्रकार एक वायु अनेक प्राणियों के प्राणों को व्याप कर स्थित रहता है, उसी प्रकार महान् आत्मा एक होता हुआ भी इन सब जीवों को व्याप कर स्थित है ॥१२॥

दूध में छिपे हुए घी तथा अरणियों में छिपी हुई अग्नि के समान सर्वत्र व्याप्त आत्मा को अपरिपक्व अन्तःकरणवाले मनुष्य नहीं देख सकते ॥१३॥

उस (आत्मा) से निकले हुए ये जीव जब आत्मा के साथ एक हो जाने की भावना करते हैं, तब अग्नि के साथ एकीभाव को प्राप्त अग्नि के समान अन्य इन्द्रियों से भी आत्मा को जानते हैं ॥१४॥

योगेश्वर याज्ञवल्क्य ने यही बात कही है। योगी तथा मुक्त पुरुष सब देवताओं के ज्ञान एवं वेदना को प्राप्त करता है ॥१५॥

हमारे मत से ब्रह्म ही नित्य है । उसी से यह सब जगत् उत्पन्न होता है और प्रलय में उसी में इस प्रकार विलीन हो जाता है जिस प्रकार नदी समुद्र में विलीन हो जाती है ।

इस विषय में महोपनिषद् (सुबाल उपनिषद्) का वचन है—

महान् (महत्तत्व) अव्यक्त में विलीन हो जाता है। अव्यक्त अक्षर में विलीन हो जाता है। अक्षर तमस् में विलीन हो जाता है, तमस् परम देव में एकीभूत हो जाता है ॥१६॥

अत्र महोपनिषत्—"महानव्यक्ते विलीयते। अव्यक्तमक्षरे विलीयते।
अक्षरं तमसि विलीयते। तमः परे देव एकीभवति"(सुबाल २।२)इति ॥१६॥
यतः सर्वमिदं भूत्वा महानात्मा व्यवस्थितः।
तस्मादग्न्यादिविषयो वेदस्तत्र प्रतिष्ठितः ॥१७॥
अनित्यत्ववादा इह जीवप्रकृतिगोचराः।
आ महाप्रलयात्स्थानात् ते भाक्ता इति निश्चयः ॥१८॥
"पुरुषं प्रकृतिं चैव विद्ध्यनादी उभावपि"।
इति ब्रूते विशेषेण भगवानिह नित्यताम् ॥१९॥
"सदेव सोम्येदमग्र आसीद्" इति च दृश्यते।
ततः प्रकृतिनित्यत्वं कविभिः कैश्चिदीरितम् ॥२०॥
अथैतदिति पृच्छामि किमग्नी रूपमात्मनः।
"यथाग्निरग्नौ प्रक्षिप्तः", इत्युक्तेरुत वा जलम् ॥२१॥
व्याप्य वाऽवस्थितो वायुर्यद्वाऽऽकाशो भवेदिति।
तं वयं न विजानीमः कथं ब्रूते विनिश्चितम् ॥२२॥

यतः महान् आत्मा यह सम्पूर्ण जगत् रूप होकर व्यवस्थित है, अतः अग्नि आदि विषय वाला वेद उस (महान् आत्मा) में प्रतिष्ठित है ॥१७॥

वेद में जीव एवं प्रकृति के विषय में दिखाई देनेवाले अनित्यत्व के कथन उन (जीव-प्रकृति) के प्रलय तक स्थिर रहने के कारण गौण हैं, यह निश्चय है ॥१८॥

'प्रकृति और पुरुष दोनों को ही तू अनादि जान'—इस प्रकार भगवान् (कृष्ण) ने इन दोनों की नित्यता को बताया है।

भगवद्गीता (१३।१९) में व्यास ने कृष्ण से अर्जुन के प्रति यह वचन कहलवाया है ॥१९॥

सदेव सोम्येदमग्र आसीत् (छा० उप० ६।२।१) अर्थात् आदि में सत् ही था—यह वचन भी दिखाई देता है। इसलिये कुछ विद्वानों ने प्रकृति का नित्यत्व कहा है ॥२०॥

अब मैं आप से यह पूछता हूं कि क्या आत्मा का स्वरूप अग्नि है? क्योंकि कहा गया है—यथाग्निरग्नौ प्रक्षिप्तः (जैसे अग्नि में अग्नि डाल दी गई)। अथवा आत्मा जलस्वरूप है? अथवा व्यापक रूप से अवस्थित वायुस्वरूप है? अथवा आकाशस्वरूप है? उत्तर है—हम उस (आत्मा) को नहीं जानते, तो निश्चयपूर्वक कैसे कह सकते हैं? ॥२१-२२॥

नानाभ्युपाया बहवः प्रदिष्टाः, महर्षिभिस्तस्य महात्मनो नु ।
तेष्वाशु यत्नः क्रियतां भवद्भिर्न हेतुवादैर्भविताऽऽत्मलाभः ॥२३॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इति सप्तमोऽष्टकः ॥७॥

—:०:—

उस महान् आत्मा के ज्ञानार्थ महर्षियों ने विभिन्न प्रकार के अनेक उपायों का उपदेश किया है । उन में आप को शीघ्र प्रयत्न करना चाहिये । केवल हेतुवादों—तर्क-वितर्कों से आत्मज्ञान की उपलब्धि नहीं होगी ॥

देवताओं के विषय में मुख्यतः तीन पक्ष हैं—याज्ञिक, नैरुक्त, मीमांसक । याज्ञिक पक्ष का विशद निरूपण वेङ्कट माधव ने पिछले आठ अध्यायों में किया है । उन में न केवल वैदिक देवताओं पर ही प्रकाश डाला गया है, अपितु प्रसङ्गतः गृह्य देवताओं की ओर भी संकेत किया गया है । नैरुक्त पक्ष का निरूपण यास्क ने निरुक्त के दैवत काण्ड में बड़े विस्तार से किया है (शौनकीय बृहद्देवता में भी निरुक्त के समान ही देवता-वर्णन है) । यास्क ने निघण्टु के पांचवें अध्याय में संगृहीत लगभग एक सौ पचास देवतावाची शब्दों की व्याख्या से पूर्व देवताविषयक भूमिका (निरुक्त सप्तम अध्याय) लिखी है । यद्यपि यास्क ने देवता का लक्षण नहीं बताया, तथापि उस के सूक्तभाक्, हविर्भाक्, ऋग्भाक् तथा निपातभाक् (नैघण्टुक) देवताओं के निर्देश से प्रतीत होता है कि 'या तेन उच्यते' (जो ऋषि के वाक्य से प्रतिपाद्य है) और यस्मै हविर्निरूप्यते' (जिस के लिए हवि का निर्वाप किया जाता है)—ये दोनों लक्षण नैरुक्तों को भी मान्य हैं ।

देवता की दृष्टि से मन्त्रों के दो प्रकार माने जा सकते हैं—निर्दिष्टदेवताक, अनिर्दिष्ट देवताक । निर्दिष्टदेवताक मन्त्रों के सम्बन्ध में यास्क का कथन है—यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति (निरु० ७।१) अर्थात् किसी कामना वाला ऋषि जिस देवता के प्रति अपनी कामनापूर्ति की इच्छा करता हुआ स्तुति प्रयुक्त करता है, वही उस मन्त्र का देवता होता है । इस का भाव यह है कि मन्त्र में जिस देवता के नाम-गुण-कर्म आदि का संकीर्त्तन हो और जिस से किसी वस्तु की प्राप्ति की कामना की गई हो, वही उस मन्त्र का देवता है । कभी-कभी मन्त्र में केवल स्तुति की जाती है, कामना नहीं । इस के विपरीत कभी-कभी केवल कामना (याचना) ही की जाती है, स्तुति नहीं (यह यज्ञसम्बन्धी मन्त्रों में प्रायः मिलती है)। अनिर्दिष्ट-देवताक मन्त्रों के विषय में यास्क का कथन है—यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति । अथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्या इति याज्ञिका नाराशंसा इति नैरुक्ताः (निरु० ७।४) अर्थात् यज्ञ या यज्ञाङ्ग का जो देवता हो, उस में प्रयुक्त मन्त्र का भी वही देवता माना जाता है। यज्ञ से अन्यत्र याज्ञिकों के मतानुसार प्रजापति और नैरुक्तों के मतानुसार नाराशंस

देवता स्वीकार किया जाता है। यास्क का मत है कि यथेच्छ अथवा यथाप्रकरण देवता भी माना जा सकता है। अश्व से ओषधिपर्यन्त और आठ द्वन्द्व अदेवता के समान प्रतीत होनेवाले पदार्थ भी किसी न किसी प्रकार देवताओं से सम्बद्ध होते हैं, अत: उन में देवतावत् उपचार होता है।

यास्क का सिद्धान्त है कि वस्तुत: एक ही महान् देव है, सब देवता और उन से सम्बद्ध पदार्थ उसी की विभूतियां हैं (माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति—निरु० ७।४)। उस एक आत्मा के मुख्यत: तीन विभाग हैं—पृथिवी-स्थान अग्नि, अन्तरिक्षस्थान वायु या इन्द्र, द्योस्थान आदित्य। विभिन्न कर्मों के कारण इनके अनेक नाम हैं। नैरुक्तों ने देवताओं के आकार के विषय में भी चिन्तन किया है। देवता पुरुष-विध (शरीरधारी), अपुरुषविध (शरीररहित) तथा उभयविध हो सकते हैं। यास्क ने सभी पक्षों में साधक-बाधक युक्तियां दर्शा कर सिद्धान्त स्थापित किया है—पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युर्यथा यज्ञो यजमानस्य—निरु०७।६) अर्थात् देवता पुरुषविध हैं, ये (अपुरुषविध अग्नि आदि दृश्यमान पदार्थ) उन (पुरुषविध देवताओं) के कर्मात्मा हैं, जैसे यज्ञ यजमान का कर्मात्मा है।

मीमांसकों ने भी देवताओं का चिन्तन किया है। जैमिनीय मीमांसासूत्रों के प्रामाणिक भाष्यकार शबर स्वामी ने देवता के लक्षण के विषय में (पू० मी० १०।४।२३) कई विकल्प उठाये हैं—(१) यदि इतिहासपुराणप्रसिद्ध, स्वर्ग में निवास करने वाले अग्नि आदि विशेष प्राणियों को देवता माना जाय, तो 'मासो देवता, संवत्सरो देवता' इत्यादिवचनों से प्रतीयमान कालवाचक अहन् आदि का देवतात्व सिद्ध नहीं हो सकेगा। (२) यदि मन्त्रों एव ब्राह्मणों में प्रसिद्ध (अग्निर्देवता वातो देवता—मा० सं० १४।२०) अग्नि आदि को देवता स्वीकार किया जाये, तो भी पूर्वोक्त अहन् आदि को देवता नहीं कहा जा सकेगा। (३) इसलिये सूक्तभाक् (जैसे ऋ० १।९४—अग्नि) या हविर्भाक् (जैसे—आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्) अग्नि आदि को देवता स्वीकार करना कहा है। अब प्रश्न है—देवताओं का स्वरूप क्या है? याज्ञिकों के मतानुसार देवता विग्रहादि पञ्चक से युक्त होते हैं, अर्थात् (१) देवता शरीरधारी हैं, (२) हवि स्वीकार करते हैं, (३) हवि का भोग करते हैं, (४) उस से तृप्त होते हैं और (५) हवि देनेवाले के प्रति प्रसन्न हो जाते हैं। शबर-स्वामी ने देवताधिकरण (पू० मी० ९।१।६-१०) में न केवल विग्रहादि पञ्चक का प्रबल प्रत्याख्यान ही किया है, अपितु देवताओं को अपूर्व (धर्म) के प्रति अप्रयोजक भी सिद्ध किया है। मीमांसकों का निष्कर्ष है कि देवता शब्दात्मक हैं, अथवा यह कहा जा सकता है कि देवता शब्दबोध्य मनःकल्पित रूप हैं। प्रातिपदिकानुरोध से कल्पित अर्थ को चेतन या अचेतन माना जा सकता है। याज्ञिक पक्ष के अनुयायी अर्वाचीन मीमांसकों ने प्राचीन मीमांसकों के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। वासुदेव दीक्षित ने अध्वर-मीमांसा की कुतूहल वृत्ति (९।१।६) में शबरकृत देवताविग्रहादिपञ्चक के निराकरण को प्रौढिवाद कहा है। उस का कथन है कि केवल शब्द को देवता कहना बौद्ध प्रलाप है, प्रातिपदिकानुरोध से अर्थ को स्वीकार करना ही पड़ेगा। विग्रहादिपञ्चक रहित अर्थ को देवता कहना प्रच्छन्न बौद्ध प्रलापमात्र है, वेदप्रामाण्य-वादी को यागादि विधि के सामर्थ्य से विग्रह आदि स्वीकार करने ही पड़ेंगे।

स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदविषय-प्रकरण में यज्ञ के प्रसङ्ग में देवताओं के लक्षण, स्वरूप, संख्या आदि का विवेचन किया है। वेद-ब्राह्मण-निरुक्त आदि ग्रन्थों में उपलभ्यमान देवताविषयक सामग्री के आधार पर दयानन्द का निष्कर्ष है, मुख्य देव परमेश्वर ही है, वही उपासना के योग्य है। अग्नि आदि उसी देव के द्वारा प्रकाश्य हैं। अग्नि आदि पदार्थों में भी 'दिवु' धातु के दस अर्थ सङ्गत हैं, अतः वे भी देव हैं। ऋग्यजुः अथर्ववेद एवं शतपथ ब्राह्मण के वचनों को उद्धृत करके देवों की संख्या तेंतीस बताई गई है। तेंतीस देव हैं—आठ वसु (अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र), ग्यारह रुद्र (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय तथा आत्मा), बारह आदित्य (संवत्सर के बारह मास), इन्द्र (विद्युत्) और प्रजापति (यज्ञ)। कर्मकाण्ड के प्रति मन्त्र, ईश्वराज्ञा, यज्ञ, यज्ञाङ्ग, प्रजापति परमेश्वर, नर, काम, विद्वान्, अतिथि, माता, पिता और आचार्य भी देवता हैं। यज्ञ में मन्त्र और ईश्वर ही देवता हैं। यज्ञप्रसङ्ग में 'अग्निर्देवता वातो देवता (य० १४।२०) आदि वेदोक्त अग्नि देवता का अभिप्राय है—अग्निशब्दार्थ प्रतिपादक मन्त्र। देवता सशरीर भी हैं और अशरीर भी। माता-पिता, आचार्य, अतिथि तथा पांच वसु (अग्नि, पृथिवी, आदित्य, चन्द्र, नक्षत्र) विग्रहवान् (शरीरधारी) देव हैं और ब्रह्म, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन सहित छह इन्द्रियां, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ तथा मन्त्र विग्रहरहित देव हैं। स्तनयित्नु तथा विधि यज्ञ सशरीर-अशरीर दोनों हैं।

आधुनिक विद्वानों ने वैदिक देवताओं का अनुशीलन अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से किया है। उन के अनुशीलन का प्रकार है—ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक विवेचन। वैदिक देवताओं के अनुशीलन में भी उन की यही दृष्टि रही है। प्रो० मैक्डानल ने अपने 'वैदिक माइथोलाजी' (वैदिक देवशास्त्र) नामक ग्रन्थ में विस्तार से वैदिक देवताओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। उस के मतानुसार वैदिक देववाद के मूल में वह विश्वास है जो मानव के समक्षवर्त्ती पदार्थों एवं प्राकृतिक दृश्यों को चेतन एवं दैवी मानता रहा है। जो वस्तु मन में भय अथवा भले-बुरे प्रभाव की आशङ्का को उत्पन्न कर सकती थी, वही उपासना एवं प्रार्थना का विषय बन जाती थी। परिणामतः आकाश, पृथिवी, पर्वत, नदी, ओषधि, गौ, पक्षी, यहां तक कि मानव निर्मित युद्धोपकरण रथ आदि तथा कर्मकाण्ड के उपकरण यूप, ग्रावा आदि में भी दिव्य शक्ति मानी जाने लगी। वैदिक देवता प्राकृतिक साधनों एवं दृश्यों के दिव्यीकृत प्रतिरूप हैं। द्यौ, पृथिवी, सूर्य, उषा आदि शब्दों से प्राकृतिक पदार्थों या दृश्यों के साथ-साथ उन में विद्यमान देवताओं का भी बोध होता है। इन से अधिक विकसित कुछ ऐसे पदार्थ हैं, जिन्हों ने अपने प्राकृतिक स्वरूप को छोड़ कर केवल दैवी रूप ही धारण कर लिया है, जैसे—मरुद्गण। वैदिक देव अनेक गुणों एवं शक्तियों में समान हैं, क्यों कि अभी उन का पूर्ण मानवीकरण नहीं हो पाया है ॥२३॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इति सप्तमोऽष्टकः ॥७॥

—:०:—

अष्टमोऽष्टकः

८. मन्त्रार्थानुक्रमणी

प्रथमोऽध्यायः

अष्टमोऽथाष्टकस्तस्मिन्नध्यायादिषु वक्ष्यते ।
यत्किञ्चिदस्ति मन्त्रार्थे वक्तव्यमिह बह्वृचैः ॥१॥
नानाविधैरभिप्रायैर्मन्त्रा दृष्टा महर्षिभिः ।
भूयसां तेषु विज्ञातो भवत्यर्थो यथा तथा ॥२॥
वैश्वदेवेषु सूक्तेषु न विविच्येह देवताः ।
केषुचित् कथिता हेतुस्तत्र ह्यर्थाविनिश्चयः ॥३॥

अब आठवां अष्टक आरम्भ होता है । उस में अध्यायों के आदि में वह बताया जायेगा, जो कुछ मन्त्रों के अर्थ के विषय में ऋग्वेदीय विद्वानों द्वारा बताने योग्य है ॥१॥

महर्षियों ने भिन्न-भिन्न अभिप्रायों से मन्त्रों का दर्शन किया । उन (मन्त्रों) में से अधिकांश मन्त्रों का अर्थ किसी न किसी प्रकार से ज्ञात हो जाता है ।

वेदाङ्ग (शिक्षा-व्याकरण-निरुक्त-कल्प-छन्द-ज्योतिष), ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास पुराण आदि की सहायता से मन्त्र का अभिप्राय प्रायः ज्ञात हो जाता है ॥२॥

विश्वेदेवाः देवतावाले किन्हीं सूक्तों में यहां (वेदभाष्य में) पृथक्-पृथक् देवता का निर्देश नहीं किया गया है । उस का कारण अर्थ के निश्चय का अभाव है ।

देवतानुक्रमणी (३।७) में माधव ने कहा है कि 'विश्व देव' देवता वाले सूक्तों में देवताओं का निर्णय अन्य सूक्तों में उपलब्ध होने वाले देवता के गुणों से किया जा सकता है । परन्तु मन्त्र में यदि अनेक देवताओं के गुण उपलब्ध होते हों, तो निश्चित देवता का बोध सम्भव नहीं होगा । अतः पृथक् देवता-निर्देश नहीं किया जा सकता ॥३॥

तथा संवादसूक्तेन प्रत्येकं कथयत्यृषिः ।
न त्व [तु "अ]नस्वन्ता सत्पतिर्", इति सूक्ते तथाऽब्रवीत् ॥४॥
"समुद्रादूर्मिर्" इत्येतद्, बहुधा सम्प्रदर्शितम् ।
शब्दाश्च विशयास्तत्र तादृशानि बहूनि च ॥५॥
मन्त्रेष्वपि च दृश्यन्त ऋषयो ब्राह्मणेषु च ।
देवताश्च सरूपस्था नार्थो वेदेन कथ्यते ॥६॥

इसी प्रकार संवाद-सूक्त के द्वारा ऋषि प्रत्येक (संवदिता) का कथन करता है, परन्तु अनस्वन्ता सत्पतिः (ऋ० ५।२७।१) इस सूक्त में ऋषि ने ऐसा नहीं कहा ।

ऋ० ५।२७ सूक्त के ऋषि हैं—त्रैवृष्ण्य त्र्यरुण, पौरुकुत्स्य त्रसदस्यु तथा भारत अश्वमेध (किन्हीं के मत से अत्रि—बृहद्० ५।२९) । सूक्त में छह ऋचाएं हैं । प्रथम तीन ऋचाओं में त्र्यरुण तथा त्रसदस्यु दोनों ने अग्नि के प्रसाद से धन प्राप्त करके अपने से प्राप्त दान की स्तुति की है, परन्तु प्रथम-द्वितीय ऋचाओं में केवल त्र्यरुण का नाम उल्लिखित है ॥४॥

समुद्रादूर्मिः (ऋ० ४।५८।१) इस सूक्त को बहुत प्रकार से दर्शाया गया है । उस सूक्त में प्रयुक्त शब्द भी संशय को उत्पन्न करनेवाले हैं । ऐसे सूक्त अनेक हैं ।

ऋ० ४।५८ सूक्त को आचार्यों ने विभिन्न देवताओं के विकल्प वाला माना है । बृहद्देवता (५।१०-११) में कहा गया है—

सूक्तं समुद्रादित्यग्नेर्मध्यमस्य ॥
आदित्यं वा ब्राह्मणोक्तं प्रदिष्टम् आग्नेयं वाप्याज्यसूक्तं हि दृष्टम् ।
अपां स्तुतिं वा यदि घृतस्तुतिं गव्यमेके सौर्यमेतद् वदन्ति ॥

अर्थात्—'समुद्रात्' इत्यादि सूक्त मध्यम अग्नि का है । ब्राह्मण के अनुसार आदित्य या अग्नि देवतावाला है, क्योंकि यह आज्यसूक्त प्रतीत होता है (ऐ० ब्रा० ५।१६।६) । कुछ आचार्य इस को जलों या घृत की स्तुतिवाला कहते हैं, अन्य विद्वान् गौ या सूर्य देवतावाला कहते हैं ।

सर्वानुक्रमणी में भी कहा गया है—समुद्रादेकादशाग्नेयं जगत्यन्तं सौर्यं वा वापं गव्यं वा घृतस्तुतिर्वा (इस सूक्त के देवता अग्नि, सूर्य, जल, गो अथवा घृतस्तुति हैं) । आश्वलायन श्रौतसूत्र (८।६।६) में कहा गया है—समुद्रादूर्मिरित्याज्यम० ॥५॥

मन्त्रों और ब्राह्मणों में ऋषि एवं देवता समान रूपवाले देखे जाते हैं, परन्तु वेद उन का अर्थ नहीं बताता है ।

अग्नि (ऋ० १०।१२४।२,३,४), इन्द्र (१।१६५।१,२,४), मरुद्गण (ऋ० १।१६५।३,५,७) आदि को ऋषि भी माना गया है ॥६॥

न शक्योऽनृषिभिर्वक्तुमृगर्थ इति निश्चयः ।
यद् वेदाच्छक्यते ज्ञातुं तदुवाचात्र शौनकः ॥७॥
शाकल्यः पाणिनिर्यास्क इत्यृगर्थपरास्त्रयः ।
यथाशक्त्यनुधावन्ति न सर्वं कथयन्त्यमी ॥८॥

ऋचाओं के वास्तविक अर्थ को अनृषि नहीं बता सकता, यह निश्चय है। वेद से जो कुछ जाना जा सकता है, उस को शौनक ने कहा है ।

सम्भवत: शौनक ने अपनी अनुक्रमणियों में वेदार्थ पर प्रकाश डाला होगा ? बृहद्देवता (१।३) में शौनक का कथन है—

तद्विदांस्तदभिप्रायानृषीणां मन्त्रदृष्टिषु ।
विज्ञापयति विज्ञानं कर्माणि विविधानि च ॥

अर्थात् मन्त्रों मे निहित ऋषियों के अभिप्रायों को जाननेवाला व्यक्ति विविध विज्ञान और कर्मों को प्रकाशित करता हैं । यास्क ने भी निरुक्त (७।३) में कहा है—एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति (विभिन्न अभिप्रायों से ऋषियों ने मन्त्रों का दर्शन किया) । शौनक ने बृहद्-देवता (१।१२९,१३०) में लिखा है—

अनुक्रान्ता देवता: सूक्तभाजो हविर्भाजश्चोभयथा निपातैः ।
अप्येवं स्यादुभयथान्यथा वा न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम् ॥
योगेन दाक्ष्येण दमेन बुद्धया बाहुश्रुत्येन तपसा नियोगैः ।
उपास्यास्ताः कृत्स्नतो देवता या ऋचो ह यो वेद स वेद देवान् ॥

अर्थात्—सूक्तभाक्, हविर्भाक् तथा निपात देवताओं का निर्देश हो चुका। इस प्रकार, अन्य प्रकार या दोनों प्रकार निर्देश हो सकता है, परन्तु ऋषि से भिन्न व्यक्ति मन्त्र का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। योग, शास्त्रनैपुण्य, इन्द्रियदमन, बुद्धि, अनेकशास्त्रज्ञान, तप तथा विनियोग द्वारा देवताओं की उपासना की जाय। जो ऋचाओं को जानता है, वह देवों को जानता है ॥७॥

शाकल्य, पाणिनि तथा यास्क—ये तीन ऋषि ऋचाओं के अर्थों को बताने में तत्पर हैं और अपनी शक्ति के अनुसार बोध कराने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु वे सम्पूर्ण अर्थ को नहीं कह पाते ।

शाकल्य ने पदपाठ, पाणिनि ने अष्टाध्यायी (व्याकरण) और यास्क ने निरुक्त द्वारा ऋचाओं के अर्थों को स्फुट करने का प्रयास किया है ॥८॥

अस्माभिस्त्विह मन्त्राणामर्थः प्रत्येकमुच्यते ।
येऽज्ञाता ये च सन्दिग्धास्तेषां वृद्धेषु निर्णयः ॥९॥

संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः ।
निरुक्तव्याकरणयोरासीद्येषां परिश्रमः ॥१०॥

अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारः कृतश्रमाः ।
शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि ॥११॥

ताण्डके शाट्यायनके श्रमः शतपथेऽपि च ।
कौषीतके काठके च स्याद् यस्येह स पण्डितः ॥१२॥

ऐतरेयकमस्माकं पैप्पलादमथर्वणाम् ।
तृतीयं तित्तिरिप्रोक्तं जानन् वृद्ध इहोच्यते ॥१३॥
न भाल्लवकम् अस्माभिस्तथा मैत्रायणीयकम् ।
ब्राह्मणं चरकाणां च श्रुतं मन्त्रोपबृंहणम् ॥१४॥

हमने यहां (वेदभाष्य में) प्रत्येक मन्त्र का अर्थ बताया है। जिन मन्त्रों के अर्थ पूर्णतः नहीं जाने जा सके या जिन के अर्थ में सन्देह है, उन के अर्थों का निर्णय वृद्ध आचार्यों के अधीन है ॥९॥

ऋक्संहिता के मात्र चतुर्थ अंश को वे आधुनिक विद्वान् समझ पाते हैं, जिन का निरुक्त और व्याकरण पर परिश्रम होता है ॥१०॥

जो विद्वान् ब्राह्मणग्रन्थों के अभिप्रायों का विवेचन करनेवाले हैं तथा जिन्होंने शास्त्रों में परिश्रम किया है और जो शब्दरीति (व्याकरण-निरुक्त) का विशेष ज्ञान रखते हैं, वे सम्पूर्ण अर्थ को कह सकते हैं ॥११॥

ताण्ड्यब्राह्मण, शाट्यायनब्राह्मण, शतपथब्राह्मण, कौषितकब्राह्मण तथा काठकब्राह्मण पर जिस का श्रम हो, वह वेदार्थ विषय का पण्डित माना जाता है ॥१२॥

हमारे (ऋग्वेदियों के) ऐतरेयब्राह्मण, अथर्ववेदियों के पैप्पलादब्राह्मण (तथा संहिता) और तित्तिरि-प्रोक्त—तैत्तिरीयसंहिता एवं ब्राह्मण का ज्ञाता वेदार्थविषय में वृद्ध कहा जाता है ॥१३॥

हम ने भाल्लवी, मैत्रायणी तथा चरक शाखा के मन्त्रार्थ का उपबृंहण (विस्तृत व्याख्यान) करनेवाले ब्राह्मणों का श्रवण (अध्ययन) नहीं किया ॥१४॥

यज्ञानां कथयन्तीह येऽर्थवादं चतुर्विधम् ।
दृष्टमर्थमिवाऽयत्नात् तानुपासीत पण्डितः ॥१५॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

—:०:—

द्वितीयोऽध्यायः

"ये यज्ञेन दक्षिणया", व्याचिख्यासति माधवः ।
मन्त्रब्राह्मणयोरर्थे वक्तव्यं सम्प्रदर्शयन् ॥१॥

जो (विद्वान्) यज्ञों के चार प्रकार के अर्थवाद का कथन साक्षात् किये हुए पदार्थ के समान अनायास करते हैं, उन की उपासना (सत्सङ्ग) पण्डित करे ।

माधव के अभिमत चार अर्थवाद कौनसे हैं, स्पष्ट नहीं होता । मीमांसकों ने अर्थवाद के मुख्य तीन भेद बताये हैं, गौण भेदों की संख्या अड़तीस तक पहुंचती है । अर्थवाद के मुख्य तीन भेद बताये गये हैं—

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते ।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः॥

अर्थात्—अर्थवाद तीन प्रकार का है—प्रमाणान्तर से विरोध होने पर गुणवाद, प्रमाणान्तर से निश्चित होने पर अनुवाद और इन दोनों के ज्ञान के अभाव में भूतार्थवाद होता है ॥१५॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

—:०:—

द्वितीयोऽध्यायः

मन्त्र तथा ब्राह्मण के अर्थ के विषय में अपने वक्तव्य को दर्शाता हुआ माधव 'ये यज्ञेन दक्षिणया' (ऋ० १०।६२।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

मन्त्रे-मन्त्र ऋषीन् ब्रूते भगवाँस्त्विह शौनकः ।
छन्दांसि देवताश्चैव किं तथार्थं न भाषते ॥२॥
तेष्विहार्थे न तात्पर्यम् इति वक्तुं न युज्यते ।
पदे क्रमे च कुरुते यस्माद् यत्नम् अतन्द्रितः ॥३॥
छन्दोदेवतयोः कृत्वा सामान्याल्लक्षणं पुनः ।
प्रतिमन्त्रं च वदति किमर्थं न तथाऽवदत् ॥४॥
सुज्ञानोऽर्थस्ततो नोक्त इति कश्चिदभाषत ।
दुर्ज्ञानोऽर्थस्ततो नोक्त इति केचिद् व्यवस्थिताः ॥५॥
ननु च ब्राह्मणार्थश्च दुर्ज्ञानः कथ्यते कथम् ।
कथयन्ति हि कर्माणि कल्पसूत्रैः समञ्जसम् ॥६॥
अत्र ब्रूमो ब्राह्मणार्थम् अपि मध्यमबुद्धयः ।
अपरे चानुधावन्ति केवलादपि पाठतः॥ ७॥

भगवान् शौनक मन्त्र-मन्त्र पर ऋषियों, छन्दों तथा देवताओं को बताता है, उसी प्रकार अर्थ को क्यों नहीं बताता ?

षड्गुरुशिष्य के कथन (वेदार्थदीपिका १।१) से प्रतीत होता है कि शौनक ने दस अनुक्रमणियों की रचना की थी। उन में से कुछ इस समय उपलब्ध होती हैं (बृहद्देवता भी अनुक्रमणी ही है) । माधव का संकेत इन्हीं शौनकीय अनुक्रमणियों की ओर है ।।२।।

उन (मन्त्रों) के अर्थ प्रतिपादन में यहां तात्पर्य नहीं है, यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि पदपाठ और क्रमपाठ के प्रतिपादन में वह सावधानी से यत्न करता है ।।३।।

छन्द तथा देवता का सामान्यरूप से लक्षण बताकर पुनः प्रत्येक मन्त्र के छन्द एवं देवता का निर्देश किया है । उसी प्रकार अर्थ को क्यों नहीं बताया ? ।।४।।

किसी ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि अर्थ सुगम है, इसलिये शौनक ने नहीं बताया । कुछ लोगों का उत्तर है कि अर्थ को जानना बहुत कठिन है, इसलिये शौनक ने नहीं बताया ।।५।।

पुनः शङ्का है—ब्राह्मण के अर्थ को जानना भी कठिन है, तब उसको क्यों बताया जाता है ? कल्पसूत्रों के द्वारा यज्ञसम्बन्धी कर्मों को अच्छे प्रकार बताते ही हैं ।।६।।

इस विषय में हम कहते हैं कि ब्राह्मण के अर्थ को भी मध्यम बुद्धिवाले तथा अन्य व्यक्ति केवल पाठ से ही समझ लेते हैं ।।७।।

समाना बहवो वेदाः सन्ति न्यायाश्च लौकिकाः ।
ब्राह्मणार्थो बहुविदा शक्यो ज्ञातुं प्रयत्नतः ॥ ८॥

न्यायशब्दौ ब्राह्मणेषु भवेतां विशयौ यदि ।
वदन्ति बहुधा तत्र कल्पसूत्रकृतोऽपि च ॥९॥

इन्द्राण्येन्द्रस्य संवादो, "वि हि सोतोरसृक्षत" ।
न तस्मिन् गहने सूक्ते विवेकं शौनकोऽब्रवीत् ॥१०॥

न दोषा बहुधा वादे ब्राह्मणे दर्शनात् तथा ।
ब्राह्मणार्थो हि बहुधा कल्पसूत्रैरुदीर्यते ॥११॥

ननु शाखा बहुविधा कल्पसूत्रकृतोऽपि च ।
एकैकामाश्रिताः शाखाम् अन्याश्चान्वाशयात् पुनः ॥१२॥

बहुत से वेद (मन्त्र-ब्राह्मणसहित शाखाएं) समान हैं, और उन में लौकिक न्यायों का प्रयोग हुआ है । इसलिये बहुश्रुत व्यक्ति प्रयत्न से ब्राह्मण के अर्थ को जान सकता है ॥८॥

यदि ब्राह्मणग्रन्थों में लौकिक न्याय अथवा शब्द संशयजनक हों, तो वहां बहुधा कल्पसूत्र-कार उन का स्पष्टीकरण कर देते हैं ॥९॥

वि हि सोतोरसृक्षत (ऋ० १०।८६।१) यह सूक्त इन्द्राणी के साथ इन्द्र का संवाद है । उस कठिन सूक्त में शौनक ने कोई विवेचन नहीं किया ।

बृहद्देवता (७।१४१) में कहा गया है—

वि हि वार्षाकपं सूक्तमसौ हि कपिलो वृषा ।
इन्द्रः प्रजापतिश्चैव विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

अर्थात्—'वि हि' सूक्त का देवता वृषाकपि है, वही कपिल वृषा, इन्द्र, प्रजापति है । इन्द्र सब से ऊपर है । इस की अपेक्षा सर्वानुक्रमणी में अधिक स्पष्टरूप से कहा गया है—वृषाकपिरिन्द्राणीन्द्रश्च समूदिरे (वृषाकपि, इन्द्र तथा इन्द्राणी ने संवाद किया) । षड्गुरुशिष्य ने प्रत्येक के संवाद का पृथक् कथन किया है ॥१०॥

मन्त्रों में बहुत प्रकार का अर्थ बताने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण में वैसा देखा जाता है । कल्पसूत्रों ने ब्राह्मण का अर्थ अनेक प्रकार से बताया है ॥११॥

अनेक शाखाएं हैं, और अनेक कल्पसूत्रकार भी प्रधानतः एक-एक शाखा का आश्रय लेते हैं । परन्तु वे आशय के अनुसार अन्य शाखाओं का भी आश्रय लेते हैं ॥१२॥

न युक्तः परिहारोऽयं जैमिनिः सर्ववेदवित् ।
अर्थन्निराकृतं तेन कार्यं बौधायनोऽब्रवीत् ॥१३॥
एवं बहून्युपादाय ब्राह्मणानीह भाषते ।
वैकल्पिकान् बहूनर्थान् एवं कात्यायनादयः ॥१४॥
मा प्राक्षीस्तिष्ठ न वयं जानीमोऽत्र विनिर्णयम् ।
ब्रूते यास्कस्तु मन्त्रार्थं शाकल्यश्चानुधावति ॥१५॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

—:०:—

तृतीयोऽध्यायः

"देवानां नु वयं जाना", व्याचिख्यासति माधवः ।
अपरैरपि वेदार्थो वक्तव्य इति दर्शयन् ॥१॥

यह समाधान समीचीन नहीं है। जैमिनि सम्पूर्ण वेद का ज्ञाता है। उस के द्वारा निराकरण किये गये अर्थ को बौधायन ने निर्देशयोग्य कहा है ॥१३॥

इस प्रकार अनेक ब्राह्मणों का आश्रय लेकर बौधायन ने (श्रौतसूत्र में) अनेक वैकल्पिक अर्थों को कहा है। इसी प्रकार कात्यायन आदि ने भी (अपने श्रौतसूत्रों में) वैकल्पिक अर्थ दर्शायें हैं ॥१४॥

मत पूछो, ठहरो, हम इस विषय में निर्णय को नहीं जानते। परन्तु यास्क ने मन्त्रार्थं बताया है, और शाकल्य ने भी मन्त्रार्थ का अनुगमन करके पदपाठ का निर्देश किया है ॥१५॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

—:०:—

तृतीयोऽध्यायः

अन्यों को वेद का अर्थ करना चाहिये, इस विषय को दर्शाता हुआ, माधव 'देवानां नु वयं जाना' (ऋ० १०।७२।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

तत्र केचन मन्यन्ते समस्तश्रुत्यदर्शनात् ।
गूढत्वान्मतिमान्द्याच्च नार्थो वाच्योऽपरैरिति ॥२॥
विस्तृतः शाट्यायनके ताण्डकार्थस्य निर्णयः ।
तथा शतपथेनान्या यजुश्शाखाः प्रपञ्चिताः॥३॥
अध्यवस्यन्ति मन्त्रार्थान् एवं मन्त्रान्तरैरपि ।
शाखास्वन्यासु पठितैर्विस्पष्टार्थैर्मनीषिणः ॥४॥
आश्विनार्भवसूक्तानाम् आश्विनैरार्भवैस्तथा ।
स्थितैर्देशान्तरे कुर्मं इतिहासविनिर्णयम् ॥५॥
गूढाः पदार्थवाक्यार्थाः, "सृण्येवे [व"इ]त्यादिके तथा ।
तस्मान्नाल्पश्रुतैर्मन्दैः कार्यो वेदार्थनिर्णयः ॥६॥

कुछ लोग मानते हैं कि सम्पूर्ण श्रुति (वेद की शाखाएं एवं ब्राह्मण) के दिखाई (उपलब्ध) न देने से, गूढ़ होने से और लोगों के अल्पबुद्धि होने से अन्य विद्वानों को मन्त्रों का अर्थ (भाष्य, व्याख्या) नहीं करना चाहिये ॥२॥

ताण्डक शाखा के अर्थ का निर्णय शाट्यायनब्राह्मण में विस्तार से किया गया है । इसी प्रकार शतपथब्राह्मण ने यजुर्वेद की अन्य (काण्व-माध्यन्दिन आदि) शाखाओं का विस्तृत विवरण किया है ॥३॥

इसी प्रकार विद्वान् लोग मन्त्रों के अर्थों का निश्चय अन्य शाखाओं में पढ़े हुए स्पष्ट अर्थवाले अन्य मन्त्रों से भी करते हैं ।

मन्त्रार्थ-बोध का यह उपाय उत्तम एवं सुरक्षित है, और आधुनिक विद्वानों द्वारा मान्य है ॥४॥

अश्वी तथा ऋभु देवतावाले सूक्तों के इतिहास का विशेष निर्णय हम अन्य स्थलों में स्थित अश्वी तथा ऋभु देवतावाले सूक्तों से करते हैं ॥५॥

वेद के पदों एवं वाक्यों के अर्थ गूढ़ हैं, जैसे—सृण्येव (ऋ०१०।१०६।६) इत्यादि मन्त्र में । इसलिये अल्पश्रुत (अल्पशास्त्रज्ञाता), मन्दबुद्धि व्यक्तियों को वेदार्थ का निर्णय नहीं करना चाहिये ।

उदाहृत मन्त्र की व्याख्या यास्क ने परिशिष्ट (निरु० १३।५) में की है । मन्त्र है—

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका ।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु ॥ ऋ० १०।१०६।६॥

तथा च याज्ञिका विप्राः कल्पैरेवार्थनिर्णयम् ।
कुर्वन्ति न त्वपेक्षन्ते मन्त्रं वा ब्राह्मणानि वा ॥७॥
अत्र ब्रूमः कल्पकाराः सर्वा जानन्ति न श्रुतीः ।
तदापस्तम्बवचनाद् अस्माभिरवसीयते ॥
अत्रापस्तम्बः–"ब्राह्मणोक्ता विधयस्तेषामुत्सन्नाः पाठाः प्रयोगादनुमीयन्ते" इति ॥८॥
उत्सन्नेष्वपि पाठेषु स्मार्ताः धर्माः प्रयोगतः ।
इदानीमनुमीयन्ते ननु श्रौतास्तथाविधाः ॥९॥
अदृष्टसर्वशाखाश्च कुर्वन्त्यर्थविनिर्णयम् ।
कल्पसूत्रकृतः सर्वे स्वदृष्टाभिरिति स्थितिः ॥१०॥
कश्यपार्षाणि सूक्तानि सहस्रं शौनकोऽब्रवीत् ।
त्रैष्टुभान्येकभूयांसि, "जातवेदस (से)" इत्यतः ॥११॥

अर्थात्—अङ्कुश-योग्य दो हाथियों के समान भर्त्ता, हन्ता, दो आयुधजीवियों के समान शीघ्र हन्ता और समुद्र में उत्पन्न होनेवाले दो रत्नों के समानव्यय से हर्षित वे दोनों अश्वी मेरे जरा मरणशील शरीर को अजर-अमर बना दें ॥६॥

इस प्रकार याज्ञिक विद्वान् कल्पसूत्रों से ही अर्थ का निर्णय करते हैं। वे मन्त्र अथवा ब्राह्मणों की अपेक्षा नहीं रखते ॥७॥

इस विषय में हम कहते हैं कि कल्पकार सब श्रुतियों (वैदिक शाखाओं एवं ब्राह्मणों) को नहीं जानते हैं, हम आपस्तम्ब के वचन से यह निश्चय करते हैं।

इस सम्बन्ध में आपस्तम्ब का कथन है—

'ब्राह्मण ग्रन्थों में कही गई जो विधियां हैं। उन के लुप्त पाठ प्रयोग से अनुमान किये जाते हैं' ॥८॥

पाठों के लुप्त हो जाने पर भी सम्प्रति प्रयोग से स्मार्त्त (स्मृतियों में निर्दिष्ट) धर्मों का अनुमान कर लिया जाता है। श्रौत (शाखाओं तथा ब्राह्मणों में निर्दिष्ट) धर्म भी निश्चय ही उसी प्रकार के हैं ॥९॥

स्थिति यह है कि सब शाखाओं को न देख सकनेवाले सभी कल्पसूत्रकार स्वयं देखी हुई शाखाओं के द्वारा अर्थ का विशेष निर्णय करते हैं ॥१०॥

शौनक ने कहा है कि जातवेदसे (ऋ० १।९९।१) इस सूक्त से आगे कश्यप-दृष्ट, त्रिष्टुप्

आत्मना चाप्यदृष्टानि कथं तत्राश्वलायनः।
निश्चित्योवाच वेदार्थं कथं वा शौनकादयः ॥१२॥

छन्द में निबद्ध, एक ऋक् वृद्धि क्रमवाले एक सहस्र सूक्त थे। उन को आश्वलायन ने स्वयं नहीं देखा। तब उसने निश्चयपूर्वक वेदार्थ कैसे (बृहद्देवता आदि में) प्रवचन किया?

ऋ० १।९९ सूक्त में केवल एक ऋक् है। आश्वलायन (७।१।१४) ने उस का विनियोग दिखाया है। इस सूक्त के विषय में शौनक ने बृहद्देवता (३।१३०) में कहा है—

जातवेदस्यं सूक्तसहस्रमेकमैन्द्रात् पूर्वं कश्यपार्षं वदन्ति।
जातवेदसे सूक्तमाद्यं तु तेषामेकभूयस्त्वं मन्यते शाकपूणिः॥

अर्थात्—ऐन्द्र सूक्त (ऋ०१।१००) से पूर्व जातवेदस् देवतावाले एक हजार सूक्तों को कश्यप का आर्ष बताते हैं। उन सूक्तों का प्रथम सूक्त है—जातवेदसे (ऋ० १।९९)। शाकपूणि का मत है कि इन में एक-एक ऋक् की वृद्धि होती है।

राजेन्द्रलाल सम्पादित बृहद्देवता में ऊपरनिर्दिष्ट श्लोक के पश्चात् निम्नलिखित पाठ अधिक मिलता है—

द्व्युचाद्या सहस्रर्चान्तं सूक्त नानाविधं भवेत्।
नवनवतिः पञ्चलक्षाः ऋचः स्युः सचतुःशतम्॥
नानादेवतमेकार्षं छन्दोभिश्चित्रमुत्पथम्॥

अर्थात्—दो ऋचाओं से एक हजार ऋचाओं तक नाना प्रकार के सूक्त हैं। पांच लाख चारसो निन्यानवें ऋचाएं हैं। विभिन्न देवतावाले, एक ऋषि द्वारा दृष्ट, छन्दों से विचित्र तथा उत्पथ (उत्सन्न) हैं।

कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी (ऋ०१।९९) में कहा है—जातवेदस एका जातवेदस्यमेतदादीन्येकभूयांसि सूक्तसहस्रमेतत् कश्यपार्षम् ('जातवेदसे' सूक्त में एक ऋक् है, जातवेदस् देवता है। इस को आदि में लेकर, एक अधिक बढ़ाते हुए, एक हजार सूक्त हैं। यह कश्यप का आर्ष है)।

स्कन्दस्वामी ने इस सूक्त के भाष्य में लिखा है—

अतः परं कश्यपार्षम् उत्सृष्टाध्ययनम् एकाधिकं सूक्तसहस्रम्। तस्यैतदेकर्चम् आद्यं सूक्तम्। एवं हि भगवान् शौनक आह—'पूर्वा-पूर्वा सहस्रस्य सूक्तानामेकभूयसाम्। जातवेदस इत्याद्यं कश्यपार्षस्य शुश्रुम' इति। यस्यैकाधिकानां सहस्रस्य कश्यपार्षस्य सर्वसूक्तेषु पूर्वा पूर्वेषां ऋक् जातवेदस इत्याद्यम् एकर्चम् इत्येतद् वयमपि श्रुतवन्त एव नाधीतवन्त इत्यर्थः।

अर्थात्—इस (सूक्त ९८) से परे कश्यप आर्ष है, जिस का अध्ययन उच्छिन्न हो चुका है,

यत्र गूढार्थता तत्र तेषामप्यविनिर्णयः ।
ब्रह्मविद्यां वदन्तीति श्रुतिस्तत्र निदर्शनम् ॥१३॥

वदन्ति बहुधा तत्र स्याच्छब्दो विशयो यदि
न्यायाँश्च परिगृह्णन्ति विरुद्धानितरेतरान् ॥१४॥

एक अधिक हजार सूक्त हैं। उस का यह एक ऋक्वाला आदि सूक्त है। इसी प्रकार भगवान् शौनक ने कहा है—'पूर्वा...शुश्रुमः'। कश्यप के जिस एक हजार सूक्तों के आर्ष के एक-एक बढ़नेवाले सब सूक्तों में पहली-पहली यह ऋक् 'जातवेदसे' है। यह आदि सूक्त एक ऋक्वाला है। हम ने भी सुना है, अध्ययन नहीं किया है, यह अभिप्राय है।

स्कन्दस्वामी द्वारा उद्धृत 'पूर्व-पूर्वा' श्लोक शौनकीय बृहद्देवता में नहीं मिलता। प्रकृत सूक्त के सर्वानुक्रमणी सूत्रों की व्याख्या करता हुआ षड्गुरुशिष्य कहता है—

> खिलसूक्तानि चैतानि त्वाद्यैकर्चमधीमहे । शौनकेन स्वयं चोक्तमृष्यनुक्रमणे त्विदम् ॥
> पूर्वात् पूर्वासहस्रस्य सूक्तानामेकभूयसाम् । जातवेदस इत्याद्यं कश्यपार्षस्य शुश्रुमः ॥ इति ।
> स यो वृषीयान्ता वेदमध्यास्त्वखिलसूक्तगाः । ऋचस्तु पञ्चलक्षाः स्युः सैकोनशतपञ्चकम् ॥

अर्थात्—ये (एक हजार सूक्त) खिलसूक्त हैं। उन के आदि में एक ऋक्वाला सूक्त है। शौनक ने स्वयं ऋष्यनुक्रमण में यह यहा है—"एक एक ऋक् बढ़नेवाले एक हजार सूक्तों के पूर्व से पूर्व 'जातवेदसे' ऋक् कश्यप के आर्ष का प्रथम सूक्त है, ऐसा सुनते हैं।" वेद के मध्य में अखिल सूक्तों में स्थित 'स यो वृषा' (ऋ० १।१००) तक पांच लाख चार सौ निन्यानवें ऋचाएं हैं।

षड्गुरुशिष्य द्वारा उद्धृत श्लोक में 'पूर्वात् पूर्वा' पाठ है, जब कि स्कन्दस्वामी द्वारा उद्धृत श्लोक में 'पूर्वा पूर्वा' पाठ है। शौनकीय आर्षानुक्रमणी उपलब्ध नहीं है, इसलिये पाठ-निश्चय सम्भव नहीं है। षड्गुरुशिष्य के लेख से यह निष्कर्ष निकलता है—कश्यपदृष्ट एक हजार सूक्त थे, जिन में क्रम से एक-एक ऋक् बढ़ती जाती थी। प्रथम सूक्त 'जातवेदसे' एक ऋक्वाला था, और यही अखिल वेद का अङ्ग था, शेष सब सूक्त खिल माने जाते थे, जो लुप्त हो गये ॥११-१२॥

वेद में जहां गूढ अर्थ विद्यमान होता है, वहां उन (शौनक आदि आचार्यों) का भी विशेष निर्णय नहीं होता। उस में दृष्टान्त है—'ब्रह्मविद्यां वदन्ति' (ब्रह्मविद्या को बताते हैं) यह श्रुति।

'ब्रह्मविद्यां वदन्ति' इस श्रुति का मूल उपलब्ध नहीं हो सका ॥१३॥

यदि कोई शब्द संशयजनक हो, तो वहां आचार्य अनेक प्रकार से व्याख्या करते हैं, और परस्पर विरुद्ध न्यायों का आश्रय लेते हैं ॥१४॥

अवदानं स्विष्टकृतो नाज्याज्जैमिनिरिच्छति ।
बोधायनस्त्वाज्यादपि सकृद् ग्रहणमिच्छति ॥१५॥
अङ्गोपाङ्गविदा तस्माद् यथाशक्त्यर्थनिर्णयः ।
कार्यो वेदस्य रक्षार्थम् इति वृद्धेभ्य आगमः ॥१६॥
प्रयोगवृत्तिभिः शक्यः कार्यार्थस्य विनिर्णयः ।
नैतावता विनिर्णेयः कल्पार्थो भवतोऽपि च ॥१७॥
परिषद् यस्य वचने न दोषमधिगच्छति ।
तमबुद्धिं कथं ब्रूमः प्रब्रवीति स एव नः ॥१८॥
निर्णयः कल्पसूत्राणां श्रुतिस्मृत्योस्तथैव च ।
इतिहासपुराणानां परिषद्येव तिष्ठति ॥१९॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

—:०:—

उदाहरणार्थं, जैमिनि को आज्य (घृत) से स्विष्टकृत् का अवदान इष्ट नहीं है, परन्तु बोधायन आज्य से भी एक बार ग्रहण मानता है ॥१५॥

इस लिये वेद के अङ्गों एवं उपाङ्गों के ज्ञाता को वेद की रक्षा के लिये अपनी शक्ति के अनुसार अर्थ का निर्णय करना चाहिये, यही वृद्धों का उपदेश है ।

शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्द-ज्योतिष को वेद के अङ्ग और पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्र को वेद के उपाङ्ग माना जाता है ॥१६॥

प्रयोग (कर्मकाण्ड) करनेवालों के द्वारा कार्यार्थ का विशेष निर्णय किया जा सकता है । इतने से कल्प में प्रोक्त पदार्थ का निर्णय आप के करने योग्य नहीं है ॥१७॥

परिषद् (सम्प्रदाय के विशिष्ट विद्वानों का समुदाय) जिस के वचन में कोई दोष नहीं समझती, उस को अज्ञानी कैसे कहें ? वह ही हम को प्रवचन करना है ॥१८॥

कल्पसूत्रों, श्रुति, स्मृति तथा इतिहास-पुराणों का निर्णय परिषद् के ऊपर ही आधृत है ॥१९॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

—:०:—

चतुर्थोऽध्यायः

"वि हि सोतोरसृक्षत", व्याचिख्यासति माधवः ।
ऋग्भाष्यकृद्भिर्वक्तव्यमादितः सम्प्रदर्शयन् ॥१॥
अधीतसाङ्गवेदोऽपि पदार्थमिह मानवः ।
बाहुश्रुत्याद्विजानाति व्यसनादभियोगतः ।२॥
जघनार्धे कुरुक्षेत्रे शर्यणावद्ध वै सरः ।
अस्तीति शाट्यायनकं, "तद्विदच्छर्यणावति" ॥३॥
"महः क्षोणस्याश्विने [ना"इ]ति, क्षोणो वीणेति दर्शितम् ।
"चत्वारि शृङ्गा" व्याख्याता, ब्राह्मणेऽथर्वणामिति ॥४॥

चतुर्थोऽध्यायः

ऋग्वेद के भाष्यकारों द्वारा कहने योग्य बातों को आदि में दर्शाता हुआ माधव 'वि हि-सोतोरसृक्षत' (ऋ० १०।८६।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

अङ्गों सहित वेद का अध्ययन कर लेनेवाला मनुष्य भी वैदिक-पदार्थ को अनेक शास्त्रों के श्रवण, व्यसन (अभ्यास, विशेष लगन) तथा अभियोग (मनोयोगपूर्वक शास्त्रग्रहण) से ही जान पाता है ॥२॥

तद् विवच्छर्यणावति (ऋ० १।८४।१४) मन्त्र में शर्यणावत् शब्द प्रयुक्त हुआ है । शाट्यायन ब्राह्मण में कहा गया है कि कुरुक्षेत्र के दक्षिणार्ध भाग में शर्यणावत् नामक सरोवर है ।

शाट्यायन ब्राह्मण उपलब्ध नहीं है । जैमिनीय ब्राह्मण (३।६४,६५) से तुलना की जा सकती है । उदाहृत ऋक् (ऋ०१।८४।१४) के भाष्य में वेङ्कट माधव ने शाट्यायन को उद्धृत करते हुए दध्यङ् (दधीची) के इतिहास का वर्णन किया है । स्कन्द आदि ने भी यही इतिहास दिखाया है ।३॥

महः क्षोणस्याश्विना (ऋ० १।११७।८) इस ऋक् में क्षोण का अर्थ वीणा दर्शाया गया है । चत्वारि शृङ्गा (ऋ० ४।५८।३) यह ऋक् अथर्वों के ब्राह्मण (गोपथ ब्राह्मण) में व्याख्यात है ।

प्रथम उदाहृत ऋक् है—

युवं श्यावाय रुशतीमदत्तं महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय ।
प्रवाच्यं तद् वृषणा कृतं वां यन्नार्षदाय श्रवो अध्यधत्तम् ॥ ऋ० १।११७।८॥

अव्युत्पन्नाः प्राक्पदार्थाः कल्प्यन्ते यत्नतोऽपि च।
इह प्राज्ञैर्व्यसनिभिः पदवाक्यानुसारिभिः ॥५॥

वेङ्कट माधव ने इस ऋक् के भाष्य में शाटचायन को उद्धृत किया है। उस के अनुसार ऋक् का भाव है—'हे अश्वियो, तुम ने श्याव (प्रस्कण्व या अन्य कृष्णवर्ण) को दीप्त त्वचा दी। अन्धकार में पड़े हुए नार्षद कण्व को जो तुम ने महान् वाद्य (वीणा) के शब्द को ऊपर से सुनाया, वह तुम्हारा प्रशंसनीय कार्य था'। स्कन्दस्वामी ने अपने भाष्य में क्षोण शब्द में चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी मान कर उसे कण्व का विशेषण बनाया है—'शब्दयित्रे आह्वात्रे स्तोत्रे वा···कण्वाय ऋषये'। सायण ने क्षोण का अर्थ '(अन्धा होने के कारण) एक ही स्थान पर रहने वाला' किया है और उसे कण्व का विशेषण माना है। सायण ने अपर पक्ष भी दिखाया है, जो वेङ्कट माधव के अनुसार है। यास्क ने क्षोण पद का निर्वचन (निरु० ६।६) किया है—क्षोणस्य क्षयणस्य। दुर्ग ने इस की व्याख्या करते हुए क्षोण का अर्थ निवासस्थान (गृह) किया है ॥४॥

कारिका में उदाहृत दूसरी ऋक् है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश ॥ ऋ० ४।५८।३॥

शब्दार्थ है—'इस के चार सींग, तीन पैर, दो सिर और सात हाथ हैं। तीन प्रकार से बन्धा हुआ बैल शब्द करता है। महान् देव मनुष्यों में घुस गया।' गोपथ ब्राह्मण (१।२।१६) में इस मन्त्र की व्याख्या की गई है—

चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः, त्रयो अस्य पादा इति सवनान्येव, द्वे शीर्षे इति ब्रह्मौदनप्रवर्ग्यावेव, सप्त हस्तासो अस्येति छन्दांस्येव, त्रिधा बद्ध इति मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणम्, वृषभो रोरवीतीति एष हि वै वृषभ एष तद् रोरवीति यद् यज्ञेषु शस्त्राणि शंसति ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिर्ब्रह्मभिरिति, महो देवो मर्त्यान् आ विवेशेत्येष ह वै महान् देवो यद् यज्ञ एषु मर्त्यान् आविवेश।'

अर्थात्—चार सींग हैं— चार वेद, तीन पैर हैं—प्रातः-मध्य-सायं सवन, दो सिर हैं—ब्रह्मौदन (ऋत्विजों की दक्षिणा भात) एवं प्रवर्ग्य (दूध घी की विशेष आहुति), सात हाथ हैं—गायत्री उष्णिक् अनुष्टुप् बृहती पङ्क्ति त्रिष्टुप् जगती छन्द, तीन प्रकार के बन्धन हैं—मन्त्र कल्प ब्राह्मण, वृषभ का शब्द करना है—ऋग् यजुः साम अथर्व वेद से शस्त्रों (स्तुतियों) का उच्चारण, महान् देव है— यज्ञ, जो मनुष्य में प्रविष्ट हुआ ॥४॥

वेद के अनुशीलन में संलग्न, व्याकरण (पद) तथा मीमांसा (वाक्य) की प्रक्रिया का अनुसरण करनेवाले विद्वान् पूर्व अस्पष्ट पदों के अर्थों की प्रयत्न से भी कल्पना करते हैं ॥५॥

आश्विनार्भवसूक्तानाम् आश्विनार्भवदर्शनात् ।
निर्णयोऽर्थस्य भवति सोऽभियोगः प्रकीर्तितः ॥६॥

ज्ञातेष्वपि पदार्थेषु वाक्यार्थपरिकल्पनम् ।
अशक्यमृक्षु बह्वीषु नरैरकृतबुद्धिभिः ॥७॥

तस्मात्पदार्थवाक्यार्थान् प्रयत्नेन प्रदर्शयेत् ।
नान्यत् किञ्चिदपि ब्रूयाद् निरुक्तमपि तादृशम् ॥८॥

भाष्याणि वैदिकान्याहुरार्यावर्तनिवासिनः ।
क्रियमाणान्यपीदानीं निरुक्तानीति माधवः ॥९॥

स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति ते क्रमात् ।
चक्रुस्सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम् ॥१०॥

भाषमाणास्तमेवार्थम् अथ सम्प्रति मानवाः ।
मायाविनो लिखन्त्यन्ये व्याख्यानानि गृहेगृहे ॥११॥

अश्वी तथा ऋभु देवतावाले सूक्तों के अर्थ का निर्णय अन्य स्थलों में आये हुए अश्वी तथा ऋभु देवतावाले सूक्तों के दर्शन (सूक्ष्म निरीक्षण) से हो जाता है। इस को 'अभियोग' कहा जाता है ॥६॥

बहुत सी ऋचाओं में पदों के अर्थों का ज्ञान होने पर भी साधारण बुद्धिवाले व्यक्ति वाक्यार्थ की परिकल्पना नहीं कर सकते ॥७॥

इसलिये (वेदभाष्यकार) पदार्थों एवं वाक्यार्थों को प्रयत्नपूर्वक दर्शावे । अन्य कुछ भी न बतावे । उसी प्रकार निर्वचन भी न करे ॥८॥

आर्यावर्त्त में निवास करनेवाले अनेक वैदिक भाष्यों को बताते हैं । इस समय भी वैदिक भाष्य किये जा रहे हैं । माधव के मत में तो वे मात्र निर्वचन हैं ॥९॥

स्कन्द स्वामी, नारायण और उद्गीथ इन तीनों ने साथ मिलकर पदार्थ तथा वाक्यार्थ को दर्शानेवाले एक ऋग्भाष्य को क्रम से रचा ॥१०॥

इस समय उसी (स्कन्दादि प्रतिपादित) अर्थ को बोलते हुए दूसरे मायावी लोग घर-घर में वेद की व्याख्याएं लिख रहे हैं ॥११॥

वर्गाणामथ सूक्तानाम् ऋक्सङ्ख्यां तत्र कश्चन ।
प्रदर्शयति मायार्थं विनियोगमथापरः ॥१२॥
पृच्छन्ति ताविमौ प्राज्ञाः शौनकेन प्रदर्शिता ।
अक्षराणां पदानां च सङ्ख्या सा किन्न लिख्यते ॥१३॥
एतावदक्षरं सूक्तम् एतावत्पदकं तथा ।
इत्येवमुच्यमाने हि तच्च जानन्ति लौकिकाः ॥१४॥
ग्रन्थेऽस्ति पदसङ्ख्येति यत्नो न भवतोस्ततः ।
पदसङ्ख्या च भवतोर्वाच्या ग्रन्थं निरीक्ष्य तम् ॥१५॥
लोकतः काव्यतोऽङ्गैश्च पदार्थानन्वयानपि ।
न विज्ञातान् वदेत् प्राज्ञो मन्त्राणामिति निश्चयः ॥१६॥
न त्वात्मीयं परिज्ञानम् अङ्गोपाङ्गादिगोचरम् ।
अनपेक्षितमप्यर्थे दर्शयेद् यत्नमास्थितः ॥१७॥

इन में से कोई वर्गों, सूक्तों तथा ऋचाओं की संख्या को दर्शाता है और कोई माया के लिये विनियोग को प्रदर्शित करता है ॥१२॥

बुद्धिमान् लोग इन दोनों (प्रकार के) भाष्यकारों से पूछते हैं—शौनक ने अक्षरों और पदों की संख्या भी दर्शाई है, उसे क्यों नहीं लिखते ?

शौनक ने अपनी अनुक्रमणियों में अक्षर आदि की संख्या का निर्देश किया होगा। ये ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं ॥१३॥

सूक्त इतने अक्षरोंवाला तथा इतने पदोंवाला है, ऐसा बताने पर ही साधारण लोग उस (अक्षरों-पदों के परिमाण) को जानते हैं ॥१४॥

ग्रन्थ में पदसंख्या है ही, इस लिये उस में आप का कोई पुरुषार्थ नहीं, क्योंकि उस ग्रन्थ को देख कर ही आप पदों की संख्या बता सकते हैं ॥१५॥

लोक से, काव्य से और अङ्गों (व्याकरण आदि) से विशेष रूप से ज्ञात मन्त्रों के पदार्थों तथा अन्वयों को भी बुद्धिमान् भाष्यकार न बतावे, यह निश्चय है।

जिन मन्त्रों के अर्थ लोक में प्रसिद्ध हैं, या काव्यों एवं वेदाङ्गों में प्रतिपादित हैं, उन के अर्थों का प्रदर्शन भाष्यकार के लिये आवश्यक नहीं ॥१६॥

भाष्यकार प्रयत्नपूर्वक मन्त्रार्थ में अनपेक्षित अपने अङ्गोपाङ्गादि विषयक परिज्ञान को

बहूनामपि सूक्तानां बह्वीनामप्यृचां तथा ।
प्रदर्शिता मयाऽन्येऽर्था न तु मायेह विद्यते ॥१८॥
येऽर्था भाष्येषु कथिता ये चास्माभिः प्रदर्शिताः ।
गवाश्ववद्विभिन्नास्ते न त्वाम्रसहकारवत् ॥१९॥
उपर्यर्धो विभिन्नोऽत्र शिष्टः प्रायेण तत्समः ।
युक्तायुक्तविनिर्णेयं कृतबुद्धिषु तिष्ठति ॥२०॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

—:०:—

पञ्चमोऽध्यायः

"हये जाये मनसा[सा" अ]थ, व्याचिख्यासति माधवः ।
अनर्थकत्वसन्देहं मन्त्रेष्वादावपानुदन् ॥१॥

प्रदर्शित न करे । अर्थात्—भाष्यकार को अर्थ की दृष्टि से अनुपयोगी पाण्डित्य प्रदर्शन से बचना चाहिये ॥१७॥

मैंने बहुतसे सूक्तों तथा बहुतसी ऋचाओं के अन्य अर्थ दर्शाये हैं, परन्तु इन में माया (मिथ्या आडम्बर) नहीं है ॥१८॥

जो अर्थ पूर्व आचार्यों के भाष्यों में कहे गये हैं और जो हमने दर्शाये हैं, वे गौ एवं घोड़े के समान सर्वथा भिन्न हैं, आम्र (आम) एवं सहकार (आम) के समान नाममात्र से ही भिन्न नहीं ॥१९॥

यहां (हमारे वेदभाष्य में) ऊपर आधा मन्त्रार्थ अन्यों से भिन्न है, शेष भाग प्रायः उन के समान है। इस के औचित्य तथा अनौचित्य का निर्णय विशिष्ट विद्वज्जनों पर आश्रित है ॥२०॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

—:०:—

पञ्चमोऽध्यायः

मन्त्रों में अनर्थकता के सन्देह का निराकरण आदि में करता हुआ माधव 'हये जाये मनसा' (ऋ० १०।९५।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

बहूनामिह मन्त्राणामर्थं नोपलभामहे ।
ततो नार्थेऽस्ति तात्पर्यम् इति कौत्सस्त्वभाषत ॥२॥

यथर्षभस्य मेघस्य दुन्दुभेश्च रथस्य च ।
साम्नां चानर्थकाः शब्दाः तद्वदृग्यजुषस्य च ॥३॥

यच्च कर्म क्रियमाणम् ऋग्यजुर्वा वदेदिह ।
तदेव ब्राह्मणान्याहुस्तस्मान्मन्त्रा निरर्थकाः ॥४॥

"यानि घर्मे कपालानि", कपालानां विमोचनम् ।
प्रथनं चो[च "उ]रु प्रथस्व", "प्र त्वा चो[च"उ] क्तं विमोचनम् ॥५॥

"आप उन्दन्तु जीवसे", केशानामपि चोन्दनम् ।
मन्त्रैरेव प्रतीतानि ब्राह्मणैर्विहितान्यपि ॥६॥

वेद में बहुत से मन्त्रों के अर्थ को हम नहीं जानते । इस लिये मन्त्रों का अर्थ में तात्पर्य नहीं है, ऐसा कौत्स ने कहा है ।

यास्क ने निरुक्त (१।१५-१६) में कौत्स के पूर्वपक्ष को उपस्थित करके समाधान प्रस्तुत किया है (इस अध्याय के अन्त में देखें) । जैमिनि ने मन्त्राधिकरण (पू० मी० १।२।३१-४५) में मन्त्रों के विवक्षिताविवक्षितार्थत्व का विवेचन किया है ॥२॥

जैसे बैल मेघ दुन्दुभि तथा रथ के शब्द एवं ध्वनियां और सामगानों के 'हाउ' 'होइ' आदि शब्द अनर्थक होते हैं, उसी प्रकार ऋचाएं तथा यजुर्मन्त्र भी अनर्थक हैं ॥३॥

जिस किये जानेवाले कर्म को वेद में ऋक् या यजुः कहता है, उसी को ब्राह्मणग्रन्थ भी कहते हैं । इसलिये मन्त्र निरर्थक हैं । जैसे—॥४॥

यानि घर्मे कपालानि (तै० सं० १।१।७) से कपालों का विमोचन, उरु प्रथस्व (तै० सं० १।१।५) से प्रथन, प्र त्वा (ऋ० १०।८५।२४) से योक्त्र-विमोचन कहा गया है । आप उन्दन्तु जीवसे (तै० सं० १।२।१) से केशों का गीला करना कहा गया है । सब कर्म ब्राह्मण-वाक्यों से विहित होने पर भी मन्त्रों से ही प्रतीत हो जाते हैं ।

दर्शपौर्णमास याग में कर्म समाप्त होने पर 'यानि घर्मे' मन्त्र से कपालों को गिनकर निकाल लिया जाता है । 'उरु प्रथस्व' मन्त्र से पुरोडाश को फैलाया जाता है । 'प्र त्वा' मन्त्र से पत्नी के योक्त्र (बन्धन,मूंज की रस्सी) को खोल कर अलग कर दिया जाता है (आ० श्रौ० १।११।३) । अग्निष्टोम याग में यजमान की दीक्षा से पूर्व क्षौरकर्म के लिये 'आप उन्दन्तु' मन्त्र से

तथा विप्रतिषिद्धार्थाः, "ऋजाश्वः शतमेकं च" ।
"शतं मेषान् वृक्य [क्ये"] इति, भिन्ना संख्यानयोर्ऋचोः ॥७॥
एवं "एक एव रुद्रोऽ[द्रः", "अ]संख्याता सहस्राणी [णि" इ]ति ।
"अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे", "शतं सेनास्" तथाऽजयत् ॥८॥

सिर के बालों को भिगोया जाता है । मन्त्रस्थ पदों से ही इन कर्मों की प्रतीति होने पर ब्राह्मण-वचनों से विधान करना इन के अनर्थकत्व को सिद्ध करता है ॥५-६॥

इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध अर्थ भी प्रतिपादित हैं । जैसे—ऋ॒ज्राश्वः॑ श॒तमेकं च (ऋ०-१।११७।१८); श॒तं मे॒षान् वृक्ये॑ (ऋ० १।११७।१७) इन दोनों ऋचाओं में मेषों की संख्या भिन्न-भिन्न है ।

यहां उदाहृत ऋचाओं में पहली ऋक् में एक सौ एक संख्या बताई गई है, दूसरी ऋक् में एकसौ संख्या का निर्देश है । ऋचाएं हैं—

श॒तं मे॒षान् वृ॒क्ये॑ मामहा॒नं तमः॒ प्रणी॑त॒मशि॑वेन पि॒त्रा ।
आक्षी ऋ॒ज्राश्वे॑ अश्विनावधत्तं॒ ज्योति॑र॒न्धाय॑ चक्रथुर्वि॒चक्षे॑ ॥ ऋ० १।११७।१७॥

अर्थात्—हे अश्वियो, वृकी को एकसौ मेष देने पर क्रुद्ध पिता के द्वारा अन्धे किये गये ऋज्राश्व को तुम ने आंखें दीं और देखने के लिये ज्योति दी ।

शु॒नम॒न्धाय॒ भर॑मह्वय॒त् सा वृ॒कीर॑श्विना वृषणा॒ नरेति॑ ।
जा॒रः क॒नीन॑ इव चक्षदा॒न ऋ॒ज्राश्वः॑ श॒तमेकं॑ च मे॒षान् ॥ ऋ० १।११७।१८॥

अर्थात्— अन्धे के लिये पूर्ण सुख की इच्छुक उस वृकी ने आह्वान किया—हे वर्षणशील नेता अश्वियां । कामुक जार के समान ऋज्राश्व ने एक सौ एक मेष टुकड़े करके वृकी को दिये थे ॥७॥

इसी प्रकार एक॒ एव रु॒द्रः (तै० सं० १।८।६।१), असंख्याता स॒हस्रा॑णि (मा० सं० १६।५४) ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं । अ॒श॒त्रुरि॑न्द्र जज्ञिषे (ऋ० १०।१३३।२); श॒तं सेना॑ अजयत् (ऋ० १०।१०३।१) इन दोनों में परस्पर विरोध है ।

एक स्थल पर रुद्र को एक बताया गया है, इस के विपरीत दूसरे स्थल पर असंख्य हजारों रुद्र बताये गये हैं । इसी प्रकार एक स्थल पर इन्द्र को शत्रुरहित कहा गया है, परन्तु अन्य स्थल पर सौ सेनाओं का विजेता घोषित किया गया हैं । उदाहृत मन्त्र हैं—

एक॑ ए॒व रु॒द्रो न द्वि॒तीया॑य तस्थे । अर्थात्—एक ही रुद्र है, द्वितीय स्थित नहीं ।
अ॒सं॒ख्या॒ता स॒हस्रा॑णि॒ ये रु॒द्रा अधि॒ भूम्या॑म् ।
तेषा॑ꣳ सहस्रयोज॒नेऽव॒ धन्वा॑नि तन्मसि ॥ मा० सं० १६।५४॥

"मायेत् सा ते यानी[नि"इ]ति च, विस्पष्टमृषिरुक्तवान् ।
सर्वेषामेव युद्धानां मुक्तकण्ठमसत्यताम् ॥६॥
देवलोके वहत्यग्निर्हवींषीति प्रतीयते ।
"यत्र वेत्थ वनस्पते", "भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति" ॥१०॥
"अश्वो न देववाहनः", "देवत्रा हव्यमोहिषे" ।
"महे यत् पित्र ईं रसम्", वहवः सन्ति तादृशाः ॥११॥

अर्थात् भूमि पर असंख्य रुद्र हैं, उन के हजार योजन पर स्थित होने पर ही हम धनुष तानें ।

त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम् ।

अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यं तं त्वा परि ष्वजामहे नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ऋ० १०।१३३।२॥

अर्थात्—हे इन्द्र, तू ने अधोमुख जलों को बनाया, अहि को मारा, तू शत्रुरहित है, विश्व को पुष्ट करता है, हम तुझ वरणीय का आलिङ्गन करते हैं। शत्रुओं के धनुषों की डोरी टूटें ।

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः ॥ ऋ० १०।१०३।१॥

अर्थात्—शीघ्र आयुध को तीक्ष्ण करता हुआ, वृषभ के समान भयङ्कर, हन्ता, सेनाओं को क्षुब्ध करनेवाला, आह्वान करनेवाला, प्रमादरहित, एकवीर इन्द्र सैंकड़ों सेनाओं को जीत लेता है ॥८॥

मायेत् सा ते यानि (ऋ० १०।५४।२) इस मन्त्र में ऋषि ने सभी युद्धों की असत्यता को मुक्त कण्ठ से स्पष्ट कहा है ।

बृहदुक्थ वामदेव्य ने उदाहृत ऋक् में कहा है—

यद्वचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु ।
मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से ॥ ऋ० १०।५४।२॥

अर्थात्—हे इन्द्र, तू शरीर से वर्धमान, जनों में स्वोपलब्धियों का प्रवचन करता हुआ सेनाओं में विचरण करता है । जिस को युद्ध कहते हैं, वह तेरी माया ही है । आज तू शत्रु को नहीं प्राप्त करता, तो क्या पूर्वकाल में करता था ? वह भी उत्पन्न नहीं ॥६॥

अग्नि हवियों को वहन करके देवलोक में पहुँचाता है, यह भाव ऋचाओं में प्रतीत होता है । जैसे—यत्र वेत्थ वनस्पते (ऋ० ५।५।१०); भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति (ऋ० १।१६४।५१);

आहूयन्ते च यज्ञेषु यच्यमाणास्तथाऽऽदितः ।
"अग्निमग्न आवहे[ह]" इ]ति, सन्त्यृचश्च तथाविधाः ।।१२।।
"आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र", "य इन्द्राग्नी चित्रतमः" ।
"अपाः सोममस्तमिन्द्र", "परा याहि मघवन्ना च" ।।१३।।

अश्वो न देववाहनः (ऋ० ३।२७।१४); देवत्रा हव्यमोहिषे (ऋ०१।१२८।६); महे यत् पित्र ईं रसम् (ऋ० १।७१।५), ऐसी ऋचाएं बहुत हैं ।

उदाहृत ऋचाओं में अग्नि को देवों के पास हवि ले जानेवाला बताया गया है । ऋचाएं हैं—

यत्र वेत्थ वनस्पते देवानां गुह्या नामानि ।
तत्र हव्यानि गामय ।। ऋ० ५।५।१०।।

अर्थात्—हे अग्नि, जहां स्थित देवों के गुप्त नामों को जानता है, वहां हवियों को पहुंचा ।

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः ।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ।। ऋ० १।१६४।५१।।

अर्थात्—एक ही जल दिन-रात में ऊपर-नीचे जाता है । मेघ भूमि को तृप्त करते हैं, और अग्नियां (हवियों के द्वारा) द्यौ को तृप्त करती हैं ।

वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः ।
तं हविष्मन्त ईळते ।। ऋ० ३।२७।१४।।

अर्थात्—अश्व के समान हवियों को ढोनेवाला अग्नि प्रदीप्त हो गया है, हविवाले मनुष्य उस की स्तुति करते हैं ।

विश्वस्मा इद् इषुध्यते देवत्रा हव्यमोहिषे ।
विश्वस्मा इत् सुकृते वारमृण्वत्यग्निर्द्वारा व्यृण्वति ।। ऋ० १।१२८।६।।

अर्थात्—अग्नि सब के लिये इच्छा करता है, देवों में हव्य पहुंचाता है । अग्नि सब यजमानों को वरणीय धन वितरित करता है, धनद्वारों को खोलता है ।

महे यत् पित्र ईं रसं दिवे करव त्सरत् पृशन्यश्चिकित्वान् ।। ऋ०१।७१।५।।

अर्थात्—महान् पालक देवों के लिये जब अग्नि इस हविरूप रस को करता (ले जाता है), तब दस्युजन उस को जानता हुआ (छीनने के लिए) कुटिल गति करता है ।।१०-११।।

यज्ञों में जिन देवों को हवि देनी होती है, उन को आदि में बुलाते हैं । जैसे—अग्निमग्न आ वह (तै० सं० २।५।९।४) । इसी प्रकार की ऋचाएं भी हैं । जैसे—आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र

छिन्दन्नेशापि च ब्रूत ओषधिं स्वधितिं तथा।
"ओषधे त्रायस्वैनम्, स्वधिते मैनं हिंसीरि[सीः" इ]ति ॥१४॥

(ऋ० २।१८४)य इन्द्राग्नी चित्रतमः (ऋ० १।१०८।१), अपाः सोममस्तमिन्द्र (ऋ० ३।५३।६), परा याहि मघवन्ना च (ऋ० ३।५३।५)।

यहां उदाहृत मन्त्रों के अनुसार देवों को हवि ग्रहण के लिए बुलाया जाता है, पूर्वप्रदर्शित ऋचाओं के अनुसार अग्नि हवि को देवों के पास ले जाता है। इस प्रकार पारस्परिक विरोध स्पष्ट है। देवों के बुलाने का प्रतिपादन करनेवाले मन्त्र हैं—

अग्निमग्न आ वह। तै०सं०२।५।६।४॥ अर्थात्—हे अग्नि, अग्नि को ला।

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः।

आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः ॥ ऋ० २।१।८४॥

अर्थात्—हे इन्द्र, तुम्हारे लिये सोम तैयार है, आह्वान किया जा रहा है। अपने घोड़ों से आओ, क्रोध मत करो।

य इन्द्राग्नी चित्रतमो रथो वामभि विश्वानि भुवनानि चष्टे।

तेना यातं सरथं तस्थिवांसाथा सोमस्य पिबतं सुतस्य ॥ ऋ० १।१०८।१॥

अर्थात्—हे इन्द्राग्नी, तुम्हारा जो पूज्यतम रथ सब लोकों को देखता है, उस से एक रथ पर बैठकर आओ और तैयार सोम को पीओ।

अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणी जाया सुरणं गृहे ते।

यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत् ॥ ऋ० ३।५३।६॥

अर्थात्—हे इन्द्र, तुम ने सोम पी लिया, घर जाओ, तुम्हारे घर पर रमणी पत्नी है। जहां (यज्ञ में) महान् रथ खड़ा होता है और अन्न-पान युक्त अश्वों को रथ से मुक्त कर दिया जाता है (वहां से जाओ)।

परा याहि मघवन्ना च याहीन्द्र भ्रातरुभयत्रा ते अर्थम्।

यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो रासभस्य ॥ ऋ० ३।५३।५॥

अर्थात्—हे इन्द्र, सोमपान करके जा और कल फिर आ। हे भ्राता, दोनों जगह (यज्ञ में तथा घर पर) तेरा प्रयोजन है। जहां महान् रथ खड़ा होता है तथा वेगवाले घोड़े रथ से मुक्त होते है (उस यज्ञ में आ) ॥१२-१३॥

काटता हुआ ओषधि (कुश) तथा स्वधिति कुठार को लक्ष्य करके कहता है—ओषधे त्रायस्वैनम्, स्वधिते मैनं हिंसीः (तै०सं० १।२।१।१; १।३।५।१)।

विवक्षितेऽसमाप्तेऽर्थे छन्दश्चेत् संस्थितं भवेत् ।
ब्रूतेऽवशिष्टं न पुनः, "अश्वं न त्वा वारवन्तम्" ॥१५॥
अत्यष्टिष्वपि चोक्तानि पदान्यर्थेऽनवेक्षिते ।
पुनः पुनः प्रयुज्यन्ते तस्मान्मन्त्रा निरर्थकाः ॥१६॥

अग्निष्टोम याग में दीक्षा से पूर्व क्षौरकर्म में दो कुशाग्रों से केशों को पकड़ कर कहा जाता है—ओषधे त्रायस्वैनम् (हे ओषधि, इसको बचा)। तदनन्तर छुरा (उस्तरा) हाथ में लेकर कहा जाता है—स्वधिते मैनं हिंसीः (हे वज्र=उस्तरे इस की हिंसा मत कर। यूप-छेदन (तै० सं० १।३।५।१) में भी कुश तथा कुठार को लक्ष्य कर इन मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है और यज्ञस्तम्भ के लिये लकड़ी को वृक्ष से काटा जाता है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि इन मन्त्रों का कोई अर्थ ही नहीं है ॥१४॥

विवक्षित अर्थ के समाप्त न होने पर भी यदि छन्द समाप्त हो जाय, तो शेष अंश को फिर नहीं कहा जाता। जैसे—अश्वं न त्वा वारवन्तम् (ऋ० १।२७।१)।

वेद में ऐसे मन्त्र उपलब्ध होते हैं, जिन के अर्थ अपूर्ण हैं। उदाहृत ऋक् है—

अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्यां अग्निं नमोभिः ।
सम्राजन्तमध्वराणाम् ॥ ऋ० १।२७।१॥

अर्थात्—वालोंवाले घोड़े के समान तुझ यज्ञों के स्वामी अग्नि की नमस्कारों से स्तुति करना (चाहते हैं या आरम्भ करते हैं)। यहां मन्त्र में पूर्ण क्रिया (इच्छामः, उपक्रमामहे) का अभाव है ॥१५॥

अत्यष्टि छन्दों में अर्थ के उपस्थित न होने पर भी (निष्प्रयोजन) पूर्व कहे गये पद पुनः पुनः प्रयुक्त किये गये हैं। इसलिये मन्त्र निरर्थक हैं।

परुच्छेप दैवोदासि के आर्षों (ऋ० १।१२७–१३९) में प्रायः निरर्थक आवृत्ति दिखाई देती है। अत्यष्टि जैसे लम्बे छन्द आवृत्ति के द्वारा बनाये गये हैं। उदाहरण है—

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् ।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा ।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाऽऽजुह्वानस्य सर्पिषः ॥ ऋ० १।१२७।१॥

अर्थात्—होता, दानशील, वासयिता, बल के पुत्र, ब्राह्मण के तुल्य प्रज्ञावान् अग्नि की स्तुति करता हूं, जो देव ऊपर देवों तक पहुंचने वाली ज्वाला से उत्तम यज्ञ वाला है, आहुति दिये गये, सरलशील घृत के अंशन की कामना ज्वाला से करता है ॥१६॥

अत्र ब्रूमोऽर्थवन्तः स्युः पदसङ्घा भवन्ति ते ।
तदुक्तमृषिणेत्याह लिङ्गाच्च विनियुञ्ज्महे ॥१७॥
उपादाय तथा मन्त्रान् व्याचष्टे ब्राह्मणं क्वचित् ।
ऋग्यजुर्वाभिवदति समृद्धं तदुवाच च ॥१८॥
नैष स्थाणोरपराधो यत्तमन्धो न पश्यति ।
वृद्धसेवाभियोगाभ्यामर्थो ज्ञेयः प्रयत्नतः ॥१९॥
दुर्ज्ञानानि ब्राह्मणानि सन्ति कानिचिदित्यतः ।
नानर्थकानि सर्वाणि तद्वन्मन्त्राश्च सार्थकाः ॥२०॥

इन शङ्काओं के समाधान के रूप में हम कहते हैं—मन्त्र सार्थक हैं, क्योंकि वे पदसंघात हैं । 'तदुक्तमृषिणा' (ऋषि ने ऐसा कहा) इस प्रकार ब्राह्मण आदि में कहा है और लिङ्ग के अनुसार हम विनियोग करते हैं ।

लोक में जिस प्रकार शब्दसंघात (वाक्य) सार्थक हैं, उसी प्रकार वैदिक मन्त्र भी सार्थक हैं । लौकिक-वैदिक वाक्यों में समानता होने के कारण अर्थों में भी समानता होनी चाहिये । इसी लिए शबर ने कहा है—य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एवैषामर्थाः (पू० मी० १।३।३ शावर भा०) । मन्त्रों के अर्थों को ही देखकर ब्राह्मणादि ग्रन्थों में 'तदुक्तमृषिणा' सदृश वचन मिलते हैं (तु०—तदेतदृचाभ्युदितम् मा नस्तेन०—शाङ्खायनारण्यक ७।१४)। इसी प्रकार विनियोग का मुख्य आधार मन्त्रार्थ ही है ।।१७।।

मन्त्रों को लेकर ब्राह्मण कहीं-कहीं व्याख्या करता है । जिस कर्म को ऋक् या यजुः कहता है, उसको ब्राह्मण ने समृद्ध बताया है ।

गोपथ ब्राह्मण (२।२।६) में कहा गया है—एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणम् ऋग्यजुर्वाभिवदति (रूपसमृद्धि ही यज्ञ की समृद्धि है और रूपसमृद्धि यह है कि किये जाने वाले कर्म को ऋक् या यजुः कहता हो) । चौथी कारिका में उठाई गई शङ्का इस से समाहित की गई है ।।१८।।

यह स्थाणु (ठूंठ) का अपराध नहीं कि उसे अन्धा नहीं देख पाता (अर्थात् यह वेदमन्त्रों का अपराध नहीं कि कोई व्यक्तिविशेष उन्हें समझ नहीं पाता) । ज्ञान-वृद्ध जनों की सेवा और अभियोग (तुलनात्मक अध्ययन) से प्रयत्नपूर्वक मन्त्रों का अर्थ जानना चाहिये ।

इसी अष्टक के चतुर्थ अध्याय की छठी कारिका में 'अभियोग' को लक्षित किया गया है ।।१९।।

कुछ ब्राह्मणवचन दुर्बोध हैं, इसलिए सब अनर्थक हैं—यह नहीं माना जा सकता, अपितु

प्रशंसार्थमुपादानं वैशद्यार्थं तथैव च ।
"उरु प्रथस्वे[स्व" इ]त्यादीनां, मन्त्राणां ब्राह्मणैः कृतम् ॥२१॥

लोकेऽप्युपेक्षा भवति महत्यल्पस्य तद्यथा ।
चतुर्दश सहस्राणि चतुर्दश च राक्षसाः ॥२२॥

इति ब्रुवाणो वदति सहस्राणि चतुर्दश ।
ऋच्येकस्यामुपेक्ष्यैव मेषस्यैकस्य युज्यते ॥२३॥

रुद्रस्यैकस्य तस्थुषः सहस्राणि सहस्रशः ।
रुद्राः शतपथेनोक्ता विरोधो नास्ति तत्र च ॥२४॥

अशत्रुत्वं तथेन्द्रस्य सर्वशत्रुनिबर्हणात् ।
स्तुतिः "मायेत सा त[ते" इ]ति, न त्वसत्यत्वकीर्त्तनम् ॥२५॥

वे सब सार्थक हैं) । इसी प्रकार मन्त्र भी सार्थक हैं ॥२०॥

ब्राह्मणग्रन्थों में 'उरु प्रथस्व' इत्यादि मन्त्रों का ग्रहण प्रशंसा के लिए तथा स्पष्टीकरण के लिए किया गया है ।

यह पांचवीं कारिका में उक्त शङ्का का समाधान है । ऐसे स्थलों पर प्रायः अर्थवाद पढ़े गये हैं, जिनसे प्रशंसा प्रतीत होती है ॥२१॥

लोक में भी महान् के सामने अल्प की उपेक्षा हो जाती है । जैसे चौदह हजार चौदह राक्षस बताकर कोई कहता है कि चौदह हजार राक्षस हैं । एक ऋक् (ऋ० १।११७।१७) में एक मेंष की उपेक्षा ही युक्त है ।

यह सातवीं कारिका में उठाई गई शङ्का का समाधान है ॥२२,२३॥

एक स्थित रुद्र के हजारों रुद्र हो गये, ऐसा शतपथ ने कहा है और वहां कोई विरोध नहीं है ।

यह आठवीं कारिका में उठाई गई शङ्का का समाधान है ॥२४॥

इसी प्रकार सम्पूर्ण शत्रुओं को नष्ट कर देने के कारण इन्द्र का शत्रुरहित होना भी उपपन्न हो जाता है । 'मायेत् सा ते' इस ऋक् में स्तुति अभिप्रेत है, न कि असत्यता का कथन ।

यहां आठवीं-नवीं कारिकाओं में उठाई गई शङ्काओं का समाधान किया गया है ॥२५॥

अग्निर्हवींषि वहति यजमानेषु केषुचित् ।
तपःश्रद्धाविहीनेषु येषु नायान्ति देवताः ॥२६॥

श्रद्धातपस्समृद्धेषु यजमानेषु देवताः ।
आहूयानीय यजति गुणवद्याजकेषु च ॥२७॥

सर्वत्राऽऽवाहनं कार्यम् अपरैः श्रेयसामिह ।
आगच्छन्तु न वा देवास्तथा लोके च दृश्यते ॥२८॥

अहिंसाऽऽम्नायवचनाद् यूपच्छेदे प्रतीयते ।
अहिंसावचनं चैतद् अध्वर्योर्निह्नवात्मकम् ।२९॥

छन्दसोऽनुविधानाय लौकिकाश्च प्रयुञ्जते ।
नापेक्षितं क्वचिच्छब्दं अधिकं च प्रयुञ्जते ॥३०॥

तप तथा श्रद्धा से रहित किन्हीं व्यक्तियों के यज्ञ करने पर अग्नि हवियों को देवों के पास पहुंचाता है, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों के यज्ञ में देवता नहीं आते ॥२६॥

यजमानों के श्रद्धा तथा तप से सम्पन्न होने पर और ऋत्विजों के गुणवान् होने पर देवों का आह्वान करके उन्हें यज्ञ में लाकर आहुति दी जाती है ॥२७॥

अन्य जनों को भी यज्ञों में श्रेष्ठ देवों का आवाहन करना चाहिये, चाहे देव आयें या न आयें। ऐसा ही लोक में देखा जाता है ॥२८॥

आम्नाय (वेद) के वचन से यूप (यज्ञ में पशुबन्धनार्थ स्तम्भ) के छेदन में अहिंसा प्रतीत होती है। 'मैनं हिंसीः' यह अहिंसावचन अध्वर्यु का प्रायश्चित्त के रूप में कथन है।

यहां चौदहवीं कारिका में उठाई गई शङ्का का समाधान प्रस्तुत किया गया है। माधव के कथन का अभिप्राय यह है कि आम्नाय (वेद, शास्त्र) के वचनों से ही हिंसा-अहिंसा का निर्णय होता है। यूपच्छेदन कर्म में आम्नाय के अनुसार हिंसा नहीं है। अध्वर्यु इन वचनों का उच्चारण करके एक प्रकार से यजमान की ओर से क्षमा-प्रार्थना करता है ॥२९॥

लौकिक जन भी छन्द के अनुविधान (समीचीन रचना) के लिये कहीं-कहीं अपेक्षित (आवश्यक) शब्द का प्रयोग नहीं करते और कभी-कभी अधिक शब्दों का प्रयोग भी करते हैं।

यहां सोलहवीं कारिका में उठाई गई शङ्का का समाधान प्रस्तुत किया गया है ॥३०॥

तस्मान् मन्त्रास्सामवर्जम् अर्थवन्त इति स्थितिः ।
गीतिर्नार्थवती लोके तथा साम निरर्थकम् ॥३१॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

—:०:—

इसलिये सामगान को छोड़कर सब मन्त्र सार्थक हैं, यही सिद्धान्त है। लोक में भी गीति (आलाप आदि) सार्थक नहीं होती, इसी प्रकार साम (हाउ, होइ आदि) निरर्थक हैं ॥३१॥

मन्त्रों की अर्थवत्ता को लक्ष्य कर कौत्स का पूर्वपक्ष तथा उस का यास्ककृत निराकरण यहां प्रस्तुत किया जाता है। निरुक्त (१।१५,१६) में कहा गया है—

आक्षेप

१. यदि मन्त्रार्थसम्प्रत्ययाय, अनर्थकं भवतीति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः, तदेतेनोपेक्षितव्यम्। नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति।

यदि निरुक्त का प्रयोजन मन्त्रों के अर्थों का ज्ञान कराना है, तो कौत्स के मतानुसार निरुक्त का उपदेश निरर्थक है, क्योंकि मन्त्र निरर्थक हैं। इस विषय में अग्रिम विवेचन को ध्यानपूर्वक देखना चाहिये। मन्त्रों में नियत शब्द नियत आनुपूर्वी के अनुसार प्रयुक्त होते हैं।

अग्न आयाहि वीतये (ऋ० ६।१६।१०) इस ऋगंश को न तो पर्यायशब्दों के अनुसार 'विभावसो आगच्छ पानाय' इस प्रकार बोला जा सकता है, न ही 'आयाहि अग्ने वीतये' इस प्रकार भिन्न आनुपूर्वी के अनुसार।

२. अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते। उरु प्रथस्वेति प्रथयति, प्रोहाणीति प्रोहति।

मन्त्र ब्राह्मण के द्वारा रूपसम्पन्न किये जाते हैं। जैसे, 'उरु प्रथस्व' बोल कर प्रथन करे, 'प्रोहाणि' बोल कर प्रोहण (आगे खिसकाना) करे—ये ब्राह्मणवचन हैं।

उरुप्रथा उरु प्रथस्व (मा० सं० १।२२) इस मन्त्र से पुरोडाश को फैलाने का विधान ब्राह्मण (शत० ब्रा० १।१।६।८) में विहित है। इसी प्रकार द्रोणकलश के प्रोहण का विधान किसी ब्राह्मण (लाट्यायन ?) में विहित होगा, जो इस समय उपलब्ध नहीं।

३. अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति। ओषधे त्रायस्वैनम्, स्वधिते मैनं हिंसीः (तै०सं० १।३।५) इत्याह हिंसन्।

मन्त्रों में विद्यमान अर्थ उपपन्न नहीं होता। जैसे, हिंसा करते हुए कहता है—'ओषधे''' हिंसीः (हे ओषधि, इस को बचा, हे कुठार, इस को मत काट)।

४.अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति । 'एक' एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' । असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् (मा० सं० १६।५४) । अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे (ऋ० १०।१३३।२) । शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः (ऋ० १०।१०३।१) इति ।

मन्त्र परस्पर विरुद्ध अर्थोंवाले होते हैं । जैसे, 'एक…इन्द्रः' इत्यादि (रुद्र एक है, असंख्य रुद्र हैं । इन्द्र शत्रुरहित है, इन्द्र ने सौ सेनाओं को जीत लिया) ।

५. अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यति—'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' (शत० ब्रा० १।३।२।२) इति ।

मन्त्र इसलिये भी अनर्थक हैं, क्योंकि जानते हुए होता को अध्वर्यु प्रेरित करता हैं— हे होता, समिध्यमान अग्नि के लिये अनुवाक्या बोलो ।

होता तो स्वयं विद्वान् है, स्वयं जानता है कि किस मन्त्र को किस कर्म में बोलना चाहिये । प्रैष से ज्ञापित होता है कि मन्त्र के अनर्थक होने के कारण बिना प्रेरणा के उसे पता नहीं चलता ।

६. अथाप्याह—'अदितिः सर्वम्' इति । अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् (ऋ० १।८९।१०) इति । तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ।

मन्त्रों में कहा गया है— अदिति सब कुछ हैं । अदिति द्यौ है, अदिति अन्तरिक्ष है इत्यादि । इस की व्याख्या आगे (निरु० ४।२३) की जायेगी ।

एक ही पदार्थ को सब कुछ बताना मन्त्र की अनर्थकता का परिचायक है ।

७. अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति—अम्यक्-यादृश्मिन्-जारयायि-काणुकेति ।

मन्त्रों में अनेक पदों के अर्थ स्पष्ट नहीं हैं । जैसे—अम्यक् (ऋ० १।६९।३), यादृश्मिन् (ऋ० ५।४४।८), जारयायि (ऋ० ६।१२।४), काणुका (ऋ० ८।७७।४) इत्यादि ।

समाधान

१. अर्थवन्तः शब्दसामान्यात् । एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणम् ऋग्यजुर्वाभिवदति (गोपथ ब्रा० २।२६) इति च ब्राह्मणम् । क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः (ऋ० १०।८५।४२) इति ।

मन्त्र सार्थक हैं, क्योंकि लोक एवं मन्त्र में शब्द समान ही हैं (तब यह कैसे कहा जा सकता है कि लोक में अग्नि आदि सार्थक हैं और वेदमन्त्र में अनर्थक) । यज्ञ की सम्पन्नता यही है कि रूप सम्पन्न हो जाय, किये जानेवाले कर्म को ऋक् या यजुः कहे, यह ब्राह्मणग्रन्थ में कहा गया है । जैसे—'क्रीडन्तौ' इत्यादि ।

उदाहृत ऋक् का विनियोग विवाह में विहित है, क्योंकि मन्त्र भी उसी कर्म को कहता है। ऋक् तथा उस का अर्थ है—

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ ऋ० १०।८५।४२॥

अर्थ—तुम दोनों पति-पत्नी क्रीड़ा करते हुए और पुत्र-पौत्रों (नातियों) के साथ आनन्द मनाते हुए यहीं अपने घर में रहो, पृथक् मत होओ, पूर्ण आयु को भोगो।

२. यथो एतन्नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्तीति लौकिकेष्वप्येतद् यथेन्द्राग्नी पितापुत्राविति।

यह आक्षेप कि मन्त्र में शब्द एवं आनुपूर्वी नियत हैं, युक्त नहीं है, क्योंकि लौकिक वाक्यों में भी ऐसा होता है। जैसे—इन्द्राग्नी, पितापुत्रौ।

३. यथो एतद् ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्त इति, उदितानुवादः स भवति।

यह आक्षेप कि मन्त्र ब्राह्मण के द्वारा रूपसम्पन्न किये जाते हैं, भी युक्त नहीं, क्योंकि ब्राह्मण तो मन्त्र में उक्त बात का ही पुनः कथन करते हैं।

४. यथो एतद् अनुपपन्नार्था भवन्तीति; आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत।

यह आक्षेप कि मन्त्रों के अर्थ उपपन्न नहीं होते, ठीक नहीं है, क्योंकि आम्नाय (वेद) के 'स्वधिते मैनं हिंसीः' वचनानुसार यूपछेदन आदि कर्म में अहिंसा ही प्रतीत होती है।

५. यथो एतद् विप्रतिषिद्धार्था भवन्तीति, लौकिकेष्वप्येतद् यथासपत्नोऽयं ब्राह्मणोऽनमित्रो राजेति।

यह आक्षेप कि मन्त्रों में परस्पर विरुद्ध अर्थ उपलब्ध होते हैं, युक्त नहीं है, क्योंकि लौकिक वाक्यों में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं। जैसे—असपत्नोऽयं ब्राह्मणः (यह ब्राह्मण अजातशत्रु है), अनमित्रो राजा (शत्रुरहित राजा) इत्यादि।

६. यथो एतज्जानन्तं सम्प्रेष्यतीति, जानन्तमभिवादयते, जानते मधुपर्कं प्राहेति।

यह आक्षेप कि जानते हुए को प्रेरणा देता है, ठीक नहीं, क्योंकि लोक में भी जानते हुए को अभिवादन किया जाता है और जानते हुए के लिए मधुपर्क कह कर प्रस्तुत किया जाता है।

गुरु आदि को अभिवादन के समय अभिवादयिता अपने गोत्र या नाम का उच्चारण भी करता है, जिस को गुरु पहले से ही जानता है। जैसे—अभिवादये गार्ग्योऽहं भोः, अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः। विवाह आदि के समय मधुपर्क प्रस्तुत करते हुए तीन बार कहा जाता है (आश्व० गृ० १।२४।७)—मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम्। ग्रहण करनेवाले को ज्ञात होता है कि मधुपर्क भेंट किया जा रहा है, तो भी तीन बार उच्चारण करने की विधि है।

षष्ठोऽध्यायः

"उभा उ नूनं तद्" इति, व्याचिख्यासति माधवः।
ब्राह्मणोक्तेषु चार्थेषु वक्तव्यं सम्प्रदर्शयन् ॥१॥
मन्त्राणां विनियुक्तानां ब्राह्मणानीह कानिचित्।
तात्पर्येण वदन्त्यर्थास्ते तदर्थास्तथैव नः ॥२॥

---

७. यथो एतददितिः सर्वमिति, लौकिकेष्वप्येतद् यथा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयमिति ।

यह आक्षेप कि अदिति हीं सब कुछ है, ठीक नहीं है, क्योंकि लौकिक व्यवहारों में भी ऐसा होता है। जैसे—'सब रस जल में प्राप्त हो गये' इत्यादि वाक्य (गौण वृत्ति से ऐसे प्रयोग होते हैं)।

८. यथो एतद् अविस्पष्टार्था भवन्तीति, नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति। यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।

यह आक्षेप भी कि मन्त्रों के पदों के अर्थ स्पष्ट नहीं हैं, ठीक नहीं है, क्योंकि यह स्थाणु (ठूंठ) का अपराध नहीं कि अन्धा उस को देख नहीं सकता। यह तो पुरुष का अपराध है (कि वह उन शब्दों के अर्थों को जानने के लिये अपेक्षित प्रयास नहीं करता)। जिस प्रकार लौकिक वृत्तियों में विद्या के कारण पुरुष विशिष्ट स्थान पाता है, इसी प्रकार वेदार्थ को जाननेवालों में तो बहुश्रुत विद्वान् ही प्रशस्त माना जाता है॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

—:०:—

षष्ठोऽध्यायः

ब्राह्मणों में कहे गये अर्थों के विषय में अपने वक्तव्य को दर्शाता हुआ माधव 'उभा उ नूनं तद्' (ऋ०१०।१०६।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

कुछ ब्राह्मणग्रन्थ यज्ञ में विनियुक्त मन्त्रों के अर्थों को तात्पर्य रूप से बताते हैं। इन मन्त्रों के वे अर्थ उसी प्रकार हमें भी अभिमत हैं ॥२॥

"अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तः", "दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निः" ।
"त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतः", "विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने" ।३॥
"अग्न आयूंषि पवसे", "शतं वो अम्ब धामानि" ।
"उपप्रयन्तो अध्वरम्", "तं त्वा समिद्भिरङ्गिरः" ॥४।
ऋचामासां ब्राह्मणेषु विस्पष्टोऽर्थः प्रकीर्तितः ।
ऋग्भाष्येष्विव सर्वत्र लिखितं ब्राह्मणं मया ॥५॥
क्रियाकारकसम्बन्धम् अनादृत्याथ कानिचित् ।
स्तुवन्ति प्रकृतान मन्त्रान् श्रुतिसामान्यमात्रतः ॥६॥
ब्राह्मणान्यनुधावन्ति तानि कर्मपरा नराः ।
ऋगर्थमनुधावन्ति क्रियाकारकतत्पराः ॥।
अत्र ब्राह्मणम्—'विश्वे देवस्य नेतुः' इत्याह सावित्र्येतेन, 'मर्तो वृणीत

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तः (ऋ० ३।८।१); दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निः (ऋ० १०।४५।१); त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतः (ऋ० ७।३३।७); विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने (ऋ० २।९।३); अग्न आयूंषि (ऋ० ९।६६।१९); शतं वो अम्ब धामानि (ऋ० १०।९७।२); उपप्रयन्तो अध्वरम् (ऋ० १।७४।१); तं त्वा समिद्भिरङ्गिरः (ऋ० ६।१६।११) इन ऋचाओं का विशिष्ट अर्थ ब्राह्मणों में वर्णित है। ऋचाओं के भाष्यों में मैंने सर्वत्र ब्राह्मण का उल्लेख किया है।

माधव ने यहां उदाहृत प्रथम चार ऋचाओं के अपने भाष्य में क्रमशः ऐ० ब्रा० २।२; श० ब्रा० ६।७।४।३; जै० ब्रा० २।१४१, १४२; शत० ब्रा० ९।२।३।३९ इन ब्राह्मणों से उद्धरण दिये हैं। शेष चार उदाहृत ऋचाओं के भाष्यों में उद्धरण नहीं हैं ('उपप्रयन्त०' के भाष्य में 'वाजसनेयके' ऐसा उल्लेख है)। चतुर्थ कारिका में निर्दिष्ट मन्त्रों का व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण में क्रमशः २।२।३।२२; ७।२।४।२७; २।३।४।१०; १।४।१।२४ में मिलता है ॥३-५॥

कुछ ब्राह्मण क्रिया-कारक के सम्बन्ध का आश्रय न करके श्रुति-सामान्य मात्र के अनुसार प्रकरणस्थ मन्त्रों का विवरण करते हैं। कर्मकाण्ड में तत्पर लोग ब्राह्मणों के अनुसार ही उन मन्त्रों के आशय को लेते हैं। परन्तु क्रिया-कारक के सम्बन्ध को जानने के लिए प्रयत्नशील विद्वान् (ब्राह्मण से निरपेक्ष) ऋक् के अर्थ को समझते हैं।

[अत्र·····························श्रोत्रव्यमिति]

इस विषय में ब्राह्मण है—

'विश्वे देवस्य नेतुः' इस अंश को बोलता है, इस अंश से सविता देवतावाली ऋक् है,

सख्यम्' इत्याह पितृदेवत्यैतेन, 'विश्वे राय इषुध्यसि' इत्याह वैश्वदेव्येतेन, 'द्युम्नं वृणीत पुष्यसे' इत्याह पौष्ण्येतेन सा वा एषर्क् सर्वदेवत्या, यदेतयर्चा दीक्षयति सर्वाभिरेवैनं देवताभिर्दीक्षयति (तै० सं० ६।१।२।५,६) इति। तथाश्वमेधे (मा० श० १३।२।६।१) श्रूयते—'युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषश्चरन्तम्' इति। 'असौ वा आदित्यो ब्रध्नः' इत्यादिकम् अध्वर्युभ्यः श्रोतव्यमिति ॥७॥

ऋचः सर्वाः पावमान्यः श्रुतिसामान्यमात्रतः।
संकृताः शाट्यायनके बह्वृचश्चाध्वर्युभिः स्तुताः ॥८॥
तथान्यार्था ऋचः काश्चित् प्रस्तुते नमयन्ति च।
"इन्द्रो दधीचो अस्थभिः", इति तत्र निदर्शनम् ॥

अत्र ब्राह्मणम्—"प्रजापतिर्वाऽथर्वाऽग्निरेव दध्यङ्ङाथर्वणस्तस्येष्टका अस्थान्येतं ह वाव तदृषिरभ्यनूवाच 'इन्द्रो दधीचो अस्थभिः' इति, यदिष्टका-

---

'मर्तो वृणीत सख्यम्' इस अंश को बोलता है, इस अंश से पितृदेवतावाली ऋक् है, 'विश्वे राय इषुध्यसि' इस अंश को बोलता है, इस अंश से विश्वदेवदेवतावाली ऋक् है, 'द्युम्नं वृणीत पुष्यसे' इस अंश को बोलता है, इस अंश से सविताटेवतावाली ऋक् है। इस प्रकार यह ऋक् सब देवताओंवाली है। जो इस के द्वारा दीक्षित करता है, सभी देवताओं से इस (यजमान) को दीक्षित करता है। इसी प्रकार अश्वमेध-प्रकरण में श्रुति (ब्राह्मणवचन) है—'युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषश्चरन्तम्' इति—वह आदित्य ही ब्रध्न है। ऐसे वचन अध्वर्युओं(यजुर्वेदियों) से सुने जा सकते हैं ॥६-७॥

शाट्यायन ब्राह्मण में सम्पूर्ण पावमानी (नवममण्डलीय सोमदेवतावाली) ऋचाएं श्रुति सामान्य मात्र से दर्शाई गई हैं और अध्वर्युओं (यजुर्वेदियों) ने भी बहुत सी ऋचाएं प्रस्तुत की हैं ॥८॥

इसी प्रकार अन्य अर्थवाली किन्हीं ऋचाओं को प्रकरणानुसार झुका लेते हैं। इस का उदाहरण है—इन्द्रो दधीचो अस्थभिः' (ऋ० १।८४।१३)।

[अत्र...वेद, इति]

इस विषय में ब्राह्मण है—

प्रजापति ही अथर्वा है, अग्नि ही दध्यङ् आथर्वण है, ईंटें ही उसकी हड्डियां हैं। इसी को ऋषि ने कहा है—'इन्द्रो दधीचो अस्थभिः' इत्यादि। जो ईंटों से अग्नि का चयन करता है,

भिरग्निं चिनोति सात्मानमेवाग्निं चिनुते । सात्माऽमुष्मिन् लोके भवति य एवं वेद" (तै० सं० ५।६।६।३) इति ॥६॥

प्रजापतिरथर्वासीद् अग्निर्दध्यङ्ङजायत ।
इष्टकाश्च निधानेन तस्यास्थान्यभवन्निति ॥१०॥

अन्यार्थोऽप्यविरुद्धश्चेत् इष्टेऽर्थे विनियुज्यते ।
"सर्वे नन्दन्ति यशसा",स्यादृक् तत्र निदर्शनम् ॥११॥

बृहस्पतिस्तु सामान्याद् अस्तौद्विद्वांसमेतया ।
ब्राह्मणे विनियुक्तैषा सोमे विदुषि राजनि ॥

वह आत्मारूप अग्नि का चयन करता है। जो ऐसा जानता है, वह आत्मा परलोक में पहुंच जाता है ॥६॥

प्रजापति रूपी अथर्वा था। उस से अग्नि रूपी दध्यङ् ने जन्म लिया। निधान (चयन के कारण) से ईंटों के रूप में उसकी अस्थियां थीं।

यहां माधव ने पूर्वोक्त ब्राह्मणवचन का अभिप्राय स्पष्ट किया है। आशय यह है— अथर्वा का पुत्र दध्यङ् जब तक जीवित रहा, अपने दर्शनमात्र से असुरों को परास्त करता रहा था। उसके स्वर्ग चले जाने पर असुरों ने देवों को बहुत परेशान किया। देवों के नेता इन्द्र ने दध्यङ् की खोज आरम्भ की। अन्ततः पता चला कि स्वयं दध्यङ् तो स्वर्ग चला गया, परन्तु उसके उस अश्वशीर्ष की हड्डियां शर्यणावत् में पड़ी हुई हैं, जिससे उसने मधुविद्या का उपदेश किया था। उन्हीं हड्डियों को लाकर, वज्र बनाकर देवों ने असुरों को मार भगाया। 'इन्द्रो दधीचो अस्थभिः' (ऋ० १।८४।१३) ऋक् में असुरों को मारने का वर्णन है। इसी कथा के अनुसार ब्राह्मण ने रूपक उभारा है—यज्ञ के प्रसङ्ग में यज्ञकर्त्ता (प्रजापति) ही अथर्वा है। उसने अग्नि का उत्पादन किया है, अग्नि ही दध्यङ् है। ईंटों से अग्नि (अग्निस्थान) का चयन किया जाता है, ये ईंटें मानो अग्निरूपी दध्यङ् की अस्थियां हैं। अब इन से यज्ञ सम्पन्न होगा, जिससे असुर (दुष्ट शक्तियां) छिन्न-भिन्न हो जायेंगे।

'निदानेन' के स्थान में 'निधानेन' पाठ अधिक युक्त प्रतीत होता है ॥१०॥

अन्य अर्थ भी यदि विरुद्ध न हो, तो इष्ट अर्थ में विनियुक्त हो जाता है। सर्वे नन्दन्ति यशसा (ऋ० १०।७१।१०) यह ऋक् इसका उदाहरण है ॥११॥

इस ऋक् के द्वारा बृहस्पति आङ्गिरस ऋषि ने सामान्यरूप से विद्वान् की स्तुति की है। ब्राह्मण में यह ऋक् विद्वान् सोम राजा की स्तुति में विनियुक्त की गई है।

"सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन" इत्यन्वाह। "यशो वै सोमो राजा" (ऐ० ब्रा० १,१३) इत्यादि ब्राह्मणम् ॥१२॥

त्रैशोकेन तृचेनास्तौद् ऐन्द्रेण प्रतिसत्रिणः।
ऋषिरन्य इध्मवाहः, "आ घा ये अग्निमिन्धते" ॥

अत्र शाट्यायनकम्—"ऋषयो वै स्वर्गं लोकं यन्त इध्मवाहं समिद्धारं परेतमरण्य एकमजहुः। सोऽकामयतानूत्पतेयं स्वर्गं लोकं प्रतिसत्रिभिः सङ्गच्छेयेति। स ऐक्षत हन्त प्रतिसत्रिण एव स्तवानि" (जै० ब्रा० ३।२७६) इत्यादि ॥१३॥

अनुरूपं प्रकर्षेण सत्योऽर्थं इति निर्णयः।
दर्शनादेव जानीमो रत्नवद् ब्राह्मणान्यपि ॥१४॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

'सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन' (ऋ० १०।७१।१०) इस ऋक् को बोलता है। सोम राजा ही यश है। इत्यादि ब्राह्मणवचन है।

बृहस्पति ऋषि दृष्ट उदाहृत ऋक् है—

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्बिषस्पृत पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥ ऋ० १०।७१।१०॥

अर्थात्—सब सभासद् वेदज्ञानयुक्त, विद्वत्सभा के अभिभविता सभासद् से आनन्दित होते हैं, क्योंकि वह त्रुटिशोधक, अन्नवितरक इनको उपदेश देने में समर्थ होता है ॥१२॥

आ घा ये अग्निमिन्धते (ऋ० ८।४५।१) इत्यादि त्रिशोक-दृष्ट इन्द्र देवतावाले तृच (तीन ऋचाओं) के द्वारा अन्य ऋषि इध्मवाह ने प्रतिस्पर्धा करनेवाले सोमयाजियों की स्तुति की।

इस विषय में शाट्यायनब्राह्मण का कथन है—

"स्वर्गलोक को जाते हुए ऋषि अग्नि-प्रज्वलित करनेवाले, दूर गये हुए इध्मवाह को जंगल में अकेला छोड़ गये। उस ने कामना की कि मैं भी पीछे-पीछे जाऊं, स्वर्गलोक में प्रतिद्वन्द्वी सोमयाजियों के साथ जा मिलूं। उस ने विचार किया—अच्छा, प्रतिस्पर्द्धी सोमयाजियों की ही स्तुति करूं" इत्यादि ॥१३॥

प्रकृष्टता से अनुरूप ही सत्य अर्थ होता है, यह निर्णय है। हम ब्राह्मणग्रन्थों को भी रत्न के समान दर्शन (सूक्ष्म निरीक्षण) से ही जानते हैं ॥१४॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

—:o:—

सप्तमोऽध्यायः

"तदिदास भुवनेषु", व्याचिख्यासति माधवः ।
ऋगर्थमवगन्तव्यम् आदितः सम्प्रदर्शयन् ॥१॥

सूत्रकारैरनुक्तत्वात् केचिद् मन्त्रार्थवादयोः ।
न ज्ञातव्योऽर्थ इत्याहुर्ज्ञातव्यश्चेद्वदन्ति ते ॥२॥

अत्र ब्रूमो लोकसिद्धः पदार्थोऽन्वय एव च ।
प्रमितस्य तथाऽर्थस्य क्रमः सूत्रैः प्रदर्श्यते ॥३॥

अर्थवादेष्वपि ननु विरोधोऽस्ति परस्परम् ।
समाधेयो बुद्धिमद्भिः सूत्रकृद्भिरुपेक्षितः ॥४॥

वदन्ति तत्र कवयः कर्तव्यांशपरा इमे ।
कल्पसूत्रकृतः सर्वे न तु ज्ञातव्यतत्पराः ॥५॥

सप्तमोऽध्यायः

जानने योग्य ऋगर्थ को आदि में दर्शाता हुआ माधव 'तदिदास भुवनेषु' (ऋ० १०।१२।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

कुछ लोग कहते हैं कि कल्पसूत्रकारों के द्वारा कथित न होने के कारण मन्त्रों तथा अर्थवादों का अर्थ जानने योग्य नहीं है। यदि अर्थ जानने योग्य होता, तो वे (श्रौत गृह धर्म सूत्रकार) अवश्य बताते ॥२॥

इस विषय में हम कहते हैं कि मन्त्रों का पदार्थ एवं अन्वय लोक में प्रसिद्ध ही है। सुविदित अर्थ का ही क्रम सूत्रकारों ने दर्शाया है ॥३॥

(शङ्का) अर्थवादों में परस्पर विरोध है, जिसकी सूत्रकारों ने उपेक्षा की है। विद्वानों को उसका समाधान करना चाहिये ॥४॥

(समाधान) इस विषय में विद्वानों का कथन है कि ये सब सूत्रकार कर्तव्य (कर्मकाण्ड) अंश के प्रतिपादन में तत्पर हैं, जानने योग्य अर्थ के प्रतिपादन में तत्पर नहीं ॥५॥

ऋषिच्छन्दोदैवतानि ज्ञातव्यान्येव वैदिकैः ।
कल्पसूत्रैरनुक्तानि तथा मन्त्रार्थवादयोः ॥६॥
वेदार्थमवगन्तव्यम् ऋषिराह बृहस्पतिः ।
अविशेषेण सूक्तेन, सूक्तं तच्च "बृहस्पते" ॥७॥
अथापि मन्त्रः "स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्" ।
"यदधीतमविज्ञातं", विशेषो नात्र कीर्तितः ॥८॥

जिस प्रकार कल्पसूत्रकारों के द्वारा निर्दिष्ट न होने पर भी वैदिकों को मन्त्रों के ऋषि, छन्द एवं देवता जानने ही चाहियें, इसी प्रकार मन्त्रों एवं अर्थवादों के अर्थ भी जानने ही चाहियें ॥६॥

बृहस्पति ऋषि सामान्य सूक्त से कहता है कि वेद का अर्थ अवश्य जानना चाहिये और वह सूक्त है—बृहस्पते (ऋ० १०।७१।१) इत्यादि ।

शौनक ने बृहद्देवता (७।१०९) में प्रस्तुत सूक्त के विषय में कहा है—

यज्ज्योतिरमृतं ब्रह्म यद् योगात्समुपाश्नुते ।
तज्ज्ञानमभितुष्टाव सूक्तेनाथ बृहस्पतिः ॥

अर्थात्—जो ज्ञान अमर ज्योति है और जिस के योग से ब्रह्म प्राप्त होता है, उस ज्ञान की स्तुति बृहस्पति ने इस सूक्त में की है। इसी प्रकार कात्यायन ने कहा है—बृहस्पतिर्ज्ञानं तुष्टाव (बृहस्पति ने ज्ञान की स्तुति की है) । इस सूक्त की प्रथम ऋक् है—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥ ऋ०१०।७१।१॥

अर्थात्—वेदार्थज्ञ बालकों को देखकर विस्मित ऋषि बृहस्पति कहता है—पदार्थों के नाम को धारण करनेवाले बालकों ने प्रारम्भ में वाणी का जो प्रथम रूप प्रयुक्त किया, तथा इन का जो श्रेष्ठ निर्मल ज्ञान था, वह ज्ञान प्रेम से इन की बुद्धि में स्थित है, जो अभ्यास से प्रकाशित होता है ॥७॥

अन्य मन्त्र भी हैं—स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत् (निरु० १।१८) ; यदधीतमविज्ञातम् (महा० पस्पशाह्निक, निरु० १।१८) यहां विशेष नहीं बताया गया ।

उदाहृत दोनों वचन यास्कीय निरुक्त में उपलब्ध होते हैं। स्वरचिह्नों से युक्त होने के कारण प्रतीत होता है, ये किसी लुप्त वेदशाखा के मन्त्र हैं। महाभाष्य में 'यदधीतम्' पाठयुक्त द्वितीय मन्त्र मिलता है, निरुक्त में 'यद् गृहीतम्' पाठ है। दोनों मन्त्र हैं—

मन्त्रार्थवादैरपि च स्मार्ता धर्माः प्रकल्पिताः ।
तस्मान् मन्त्रार्थवादार्थो ज्ञातव्योऽत्र प्रयत्नतः ॥

अत्र ब्राह्मणम्—"मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यति इति । तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूळ्हम् । तस्माद् यदेव किंचानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति" (निरु० १३।१२) इति ॥९॥

अपि च ब्राह्मणानीह मन्त्रानृग्भाष्यकारवत् ।
उपादाय वदन्त्यर्थान् ज्ञानमेव प्रयोजनम् ॥१०॥

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद् अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥ निरु० १।१८॥

अर्थात्—वह भार उठानेवाला ठूंठ ही है, जो वेद पढ़ कर उस का अर्थ नहीं जानता । जो अर्थ का ज्ञाता है, वह पूर्ण कल्याण का भोग करता है, और ज्ञान से पाप को दूर करके सुख को प्राप्त करता है ।

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥

अर्थात्—जो विना अर्थ जाने पाठमात्र से ग्रहण कर लिया जाता है, वह विना अग्नि सूखे ईंधन के समान कभी प्रज्वलित (प्रकाशित) नहीं होता ॥८॥

मन्त्रों तथा अर्थवादों से भी स्मार्त धर्मों (स्मृतिविहित कर्मकाण्डों) की कल्पना की गई है । इसलिये वेद के मन्त्रों एवं अर्थवादों का अर्थ प्रयत्नपूर्वक जानना चाहिये ।

इस विषय में ब्राह्मणवचन है—

ऋषियों के उत्क्रमण (स्वर्ग-गमन) करने पर मनुष्यों ने देवों से कहा—अब हमारा ऋषि कौन होगा ? उन को यह तर्क ऋषि दे दिया । उन्होंने मन्त्रों के अर्थों का तर्कपूर्वक चिन्तन किया । इसलिये जो कुछ भी विद्वान् तर्कपूर्ण चिन्तन करता है, वह 'आर्ष' होता है ।

स्वल्प पाठभेद से यही सन्दर्भ यास्कीय निरुक्त के परिशिष्ट (निरु० १३।१२) में उपलब्ध होता है ॥९॥

एक और बात भी है, ब्राह्मणग्रन्थ मन्त्रों (के अंशों) को ऋग्वेद के भाष्यकारों के समान ग्रहण करके अर्थों को बताते हैं ; उस का प्रयोजन अर्थों का ज्ञान कराना ही है ॥१०॥

तथा चेह निरुक्तानि मन्त्रान् व्याचक्षते स्फुटम् ।
स्वायंभुवो मनुश्चाह निघण्टूनामवेक्षणम् ॥११॥
"बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमाँश्चैव वैदिकान्" ॥१२॥
ऋषिच्छन्दोदैवतज्ञो मन्त्रब्राह्मणवित्तथा ।
सकल्पाधीतैकवेदः कर्म कर्तुमिहार्हति ॥१३॥
वेदावन्यौ च विज्ञेयौ याज्ञिकेभ्यः समासतः ।
आजिहीर्षति यत्कर्म तस्य यौ प्रतिपादकौ ॥१४॥
मन्त्रार्थवादसौक्ष्म्यज्ञः सर्ववेदज्ञ एव च ।
तत्तज्ज्ञानानुगुण्येन फलाधिक्येन युज्यते ॥१५॥
स्वयं च पुरुषार्थोऽयं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
अङ्गोपाङ्गैः प्रयत्नेन यद्यर्थमवगच्छति ॥१६॥

इसी प्रकार निरुक्त मन्त्रों की स्पष्ट व्याख्या करते हैं । स्वायंभुव मनु ने भी निघण्टुओं के अनुशीलन का निर्देश किया है ॥११॥ जैसे—

शीघ्र वुद्धि को बढ़ानेवाले, धन उपलब्ध करानेवाले तथा हितकारी शास्त्रों और वैदिक निगमों का भी नित्य अवेक्षण (अनुशीलन) करे ।

इस मनुस्मृति (४।१९) के श्लोक में प्रयुक्त 'वैदिक निगम' शब्द 'वैदिक निघण्टुओं' के वाचक हैं, ऐसा माधव का मत है । कुल्लूक भट्ट ने 'निगमान्' का तात्पर्य लिखा है—निगमाख्यांश्च ग्रन्थान् (निगम नामक ग्रन्थ) । यास्क (निरु० १।१) कृत 'निघण्टु' शब्द के निर्वचन—निघण्टवः कस्मात् निगमा इमे भवन्ति (निघण्टवः कैसे ? ये निगम होते हैं) से प्रतीत होता है कि 'निघण्टु' के लिये 'निगम' शब्द का प्रयोग हो सकता है ॥१२॥

ऋषि-छन्द-देवताओं का ज्ञाता, मन्त्र तथा ब्राह्मण का विद्वान् और कल्पसहित एक वेद का अध्येता यज्ञों में कर्म करने में समर्थ होता है ॥१३॥

जिस (यज्ञसम्बन्धी) कर्म को सम्पन्न करने का इच्छुक है, उसके प्रतिपादक जो अन्य दो वेद हैं, उन को भी संक्षेप से याज्ञिकों से जान लेना चाहिये ॥१४॥

मन्त्रों तथा अर्थवादों की सूक्ष्मता का ज्ञाता, और सब वेदों का विद्वान् ही उस-उस ज्ञान के अनुसार अधिक फल से युक्त होता है ॥१५॥

अङ्ग-उपाङ्ग के द्वारा यदि कोई मनुष्य प्रयत्न करके वेदमन्त्रों के अर्थ को जान लेता है, तो यह स्वयं भी पुरुषार्थ (मनुष्य का परम लक्ष्य) है और ब्राह्मण का तो विशेषरूप से पुरुषार्थ है ।

मनुः—"ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित् तपोनिष्ठास्तथाऽपरे ।
तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथाऽपरे ॥१७॥
ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः ।
हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि ॥१८॥
सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥१९॥
यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् ।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥२०॥
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२१॥
अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः ।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥२२॥

इस विषय में मनु के वचन (मनुस्मृति ३।१३४,१३५; १२।१००–१०४) उद्धृत किये जाते हैं—॥१६॥

कुछ ब्राह्मण आत्मज्ञान में तत्पर होते हैं, अन्य तप में संलग्न रहते हैं, दूसरे तप तथा अध्ययन में निरत होते हैं, और कुछ यागादि में लगे रहते हैं ॥१७॥

आत्मज्ञान में तत्पर ब्राह्मणों को प्रयत्नपूर्वक पितरों के योग्य अन्न देना चाहिये । सभी चारों प्रकार के ब्राह्मणों को न्याय के अनुसार देवों के योग्य अन्न देना चाहिये ॥१८॥

वेदों तथा शास्त्रों का विद्वान् सेनापति, राज्यपाल, दण्डाधिकारी और सम्पूर्ण राष्ट्र के अध्यक्ष पद के योग्य होता है ॥१९॥

जैसे प्रबल अग्नि गीले वृक्षों को भी जला डालती है, उसी प्रकार वेदज्ञ पुरुष अपने कर्मों से उत्पन्न हुए दोषों (पापों) को जला देता है ॥२०॥

वेदशास्त्र के अर्थ को तत्वत: (यथार्थ रूप से) जानने वाला, जिस किसी भी आश्रम (ब्रह्मचर्य आदि) में निवास करता हुआ, इसी लोक में स्थित रहता हुआ ब्रह्मत्व (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ॥२१॥

वेद के स्वल्प अंश को जाननेवालों की अपेक्षा सम्पूर्ण वेद का पाठ करनेवाले उत्कृष्ट होते हैं । वेदपारायण मात्र करनेवालों की अपेक्षा वेद को कण्ठस्थ करनेवाले उत्कृष्ट होते हैं ।

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् ।
तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते" ॥२३॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

—:०:—

अष्टमोऽध्यायः

"त्यं चिदत्रिम्" अथाध्यायम्, व्याचिख्यासति माधवः ।
वेदार्थस्य परार्थेभ्यो वैशेष्यं सम्प्रदर्शयन् ॥१॥
बहुयोजनविस्तीर्णा बहुयोजनमायताः ।
समुद्रमध्ये तिष्ठन्ते द्वीपा बाह्याभ्यधिष्ठिताः ॥२॥
धर्मबुद्ध्याऽनुतिष्ठन्ति ते स्वधर्मान् प्रयत्नतः ।
तदागमानां प्रामाण्यम् आचारात् किं न कल्प्यते ॥३॥

कण्ठस्थ करनेवालों की अपेक्षा वेदार्थ को जानने वाले उत्कृष्ट होते हैं और वेदार्थज्ञाता व्यक्तियों की अपेक्षा वेदार्थज्ञान के अनुसार कर्मानुष्ठान करनेवाले उत्कृष्ट होते हैं ॥२२॥

तप एवं विद्या ब्राह्मण के परम कल्याणकारक हैं। तप से पाप को नष्ट करता है और विद्या से अमृत (ब्रह्मानन्द) को प्राप्त करता है ॥२३॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

—:०:—

अष्टमोऽध्यायः

अन्य शास्त्रों के पदार्थों से वेदार्थ की विशेषता को दर्शाता हुआ माधव 'त्यं चिदत्रिम्' (ऋ० १०।१४३।१) अध्याय की व्याख्या करना चाहता है ॥१॥

समुद्रों के मध्य बहुत योजन लम्बे तथा बहुत योजन चौड़े द्वीप स्थित हैं, जो बाह्य (वेद से भिन्न) मतावलम्बी जनों से अधिष्ठित हैं ॥२॥

वे धर्मबुद्धि से प्रयत्नपूर्वक अपने धर्मों का अनुष्ठान करते हैं। तब उत्तम आचार के कारण उन के आगमों (धर्मशास्त्रों) का प्रामाण्य क्यों न स्वीकार किया जाय? ॥३॥

आप्तप्रणीततामेते यदि वाऽपौरुषेयताम् ।
वैदिकाः कल्पयन्त्येवं किं न बाह्येषु कल्प्यते ॥४॥
उच्यते वर्णविभ्रष्टाः प्रविशन्त्यधुनाऽपि च ।
बौद्धेषु तेन चास्मासु तेनार्वाक्कालिका इमे ॥५॥
तदुक्तम्—"या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥६॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च"(मनु० १२।९५,९६)इति॥७॥
किञ्च—आगोपालं विप्रथितः प्रादुर्भावो महात्मनः ।
विप्रलोपाय धर्मस्य वक्तायं भगवान् हरिः ॥८॥
इतिहासपुराणानां कर्तारो लोकसम्मताः ।
अहैतुकास्तत्त्वपराः सर्वे वेदं समाश्रिताः ।९॥

यदि ये वैदिक विद्वान् वेद को अपौरुषेय होने के कारण और अन्य शास्त्रों को आप्त-प्रणीत होने के कारण प्रमाण मानते हैं, तो बाह्य शास्त्रों को भी इसी प्रकार प्रमाण क्यों नहीं मानते ? ॥४॥

उक्त शङ्काओं का समाधान किया जाता है। वे अपने वर्णों से पतित हो गये हैं, और अब भी बौद्धों में प्रवेश कर रहे हैं। वे हमारे (सम्प्रदायों के) अन्तर्गत नहीं हैं। इसलिए ये अर्वाक्कालिक (बाद के काल में बने हुए) हैं।

यही बात मनुस्मृति (१२।९५,९६) के अगले श्लोकों में कही गई है ॥५॥

जो स्मृतियां वेद से बाह्य हैं (अर्थात् वेदमूलक नहीं हैं) और जो दृष्टियां (दर्शन) असत् तर्क पर आश्रित हैं, वे सब मरणोपरान्त (परलोक में) कोई फल देनेवाली नहीं हैं, क्योंकि वे अन्धकार (अज्ञान) से युक्त मानी गई हैं ॥६॥

इस (वेद) से भिन्न (मूलक) जो कोई भी शास्त्र हैं, वे उत्पन्न होते हैं और शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। वे अर्वाक्कालिक (नवीन) होने के कारण निष्फल एवं असत्य हैं ॥७॥

और भी बात है। ग्वालों तक महान् आत्मा के प्रादुर्भाव (अवतार-ग्रहण) की बात प्रसिद्ध है। यह भगवान् हरि (कृष्ण) लुप्त हो रहे धर्म को बचाने के लिए स्वयं धर्म के उपदेष्टा बने ॥८॥

लोगों के द्वारा सम्मानित, इतिहास एवं पुराणों के प्रणेता, निस्स्वार्थ, तत्त्वदर्शी सभी ने वेद का आश्रय लिया ॥९॥

मन्वादयश्चाऽऽप्ततमा बहवो वेदमाश्रिताः ।
पाञ्चरात्रे पाशुपते वेदा अङ्गीकृतास्तथा ॥१०॥
सर्वेषु जनपदेषु शब्दा येऽत्र समाहिताः ।
कुर्वन्तो लक्षणं तेषां वेदाङ्गत्वेन चक्रिरे ॥११॥
आतिष्ठन्ति ज्योतिषोक्तं बाह्याः सर्वे प्रयत्नतः ।
वेदशेषतया तच्च सम्प्रणीतं महर्षिभिः ॥१२॥
राजानः सम्प्रणेतारो मार्गं वैदिकमास्थिताः ।
चातुर्वर्ण्यपराः सर्वे न त्वन्यं मार्गमाश्रिताः ॥१३॥
किञ्चार्याः सङ्गता बौद्धैर्न राजन्ते गतप्रभाः ।
तस्मान्न वेदसदृशम् अन्यत् किञ्चन विद्यते ॥१४॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो वेदो गान्धर्व एव च ।
उपवेदान वदन्त्येतान् ऋषयः सुश्रुतादयः ॥१५॥

मनु आदि बहुत से परम आप्त पुरुषों ने वेद का आश्रय लिया। इसी प्रकार पाञ्चरात्र (वैष्णव आगमों) एवं पाशुपत (शैव आगमों) में वेदों को स्वीकार किया गया है ॥१०॥

सब जनपदों में यहां जो शब्द प्रयुक्त होते हैं, उन का लक्षण (अनुशासन) करते हुए आचार्य उन को वेदाङ्ग के रूप में स्वीकार करते हैं ॥११॥

वेद से बाहर सम्प्रदाय वाले सब लोग ज्योतिष के द्वारा कही हुई बातों पर प्रयत्नपूर्वक आस्था रखते हैं। महर्षियों ने उस (ज्योतिषशास्त्र) को भी वेदाङ्ग के रूप में रचा है ॥१२॥

चार वर्णों की व्यवस्था को माननेवाले सभी प्रमुख राजा वैदिक मार्ग में आस्था रखते थे। उन्हों ने किसी अन्य मार्ग का आश्रय नहीं लिया ॥१३॥

एक और बात भी है। बौद्धों के साथ सङ्गति करनेवाले आर्य निस्तेज होकर शोभा नहीं पाते। इस लिये वेद के समान अन्य कोई शास्त्र नहीं है ॥१४॥

आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद—इन सब को सुश्रुत आदि उपवेद बताते हैं।

सुश्रुत का कथन है—इह खल्वायुर्वेदमष्टाङ्गमुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयंभूः (सुश्रुत सूत्रस्थान १।६) अर्थात् स्वयंभू ने प्रजाओं को उत्पन्न करने से पूर्व आठ अङ्ग, एक लाख श्लोक एवं एक हजार अध्यायवाले अथर्ववेद के उपाङ्ग आयुर्वेद को बनाया। उपवेदों के सम्बन्ध में चरणव्यूह (चतुर्थ खण्ड) में कहा गया है—तत्र वेदानामपवेदाश्चत्वारो भवन्ति। ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदो यजुर्वेदस्य धनुर्वेद उपवेदः सामवेदस्य

यत्तु द्वीपेषु बौद्धानां बहुत्वं सम्प्रदर्शितम् ।
तत्र ब्रूमोऽधर्मपरा बहवो द्वीपवासिनः ॥१६॥
भूयांसः स्त्रीपरास्तत्र स्तेयहिंसापरास्तथा ।
बहुत्वाद् देवनपराः सुरापानादितत्पराः ॥१७॥
तस्मात्तत्रत्य आचारः केनचित् सम्प्रवर्तितः ।
इदानीमपि तत्रत्यैः स आचारोऽनुवर्त्यते ॥१८॥
किञ्चाग्निवायुसूर्येषु प्रत्यक्षेष्वेव वैदिकाः ।
निर्वाहं कर्म जगतः स्तुतिं कर्म च कुर्वते ॥१९॥
अपि चाङ्गैरुपाङ्गैश्च वेदा युक्ताः स्वरैरपि ।
पश्यन्तस्तानिमान् प्राज्ञा नान्यं मार्गमुपासते ॥२०॥

इत्यष्टमाष्टकेऽष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इति श्री वेङ्कटमाधवीयऋग्वेद भाष्यान्तर्गता
'ऋग्वेदानुक्रमणी' समाप्ता ॥

गान्धर्ववेदोऽथर्ववेदस्यार्थशास्त्रं चेत्याह भगवान् व्यासः स्कन्दो वा (वेदों के उपवेद चार हैं । ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्ववेद और अथर्ववेद का अर्थशास्त्र उपवेद है, यह भगवान् व्यास या स्कन्द ने कहा है ॥१५॥

जो द्वीपों में बौद्धों का बहुत्व दर्शाया, उस के विषय में हम कहते हैं कि अधिकांश द्वीपवासी अधर्म में लिप्त हैं ॥१६॥

वहां अधिकतर लोग स्त्रियों में आसक्त हैं तथा चोरी एवं हिंसा में संलग्न हैं । बड़ी संख्या में होने के कारण जुए और सुरापान आदि दुर्व्यसनों में ग्रस्त हैं ॥१७॥

इस लिये वहां का आचार किसी ने प्रारम्भ कर दिया था । इस समय भी वहां के निवासी उस आचार का पालन करते हैं ॥१८॥

एक और बात भी है । वेद के अनुयायी प्रत्यक्ष अग्नि-वायु-सूर्य देवों में कर्म काण्ड का निर्वाह, स्तुति तथा क्रिया करते हैं ॥१९॥

वेद अङ्गों, उपाङ्गों एवं स्वरों से युक्त हैं । इन को देखते हुए बुद्धिमान् लोग अन्य मार्ग का अवलम्बन नहीं करते ॥२०॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इत्यष्टमोऽष्टकः ॥८॥

—:०:—

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	मुद्रित पाठ	शुद्ध पाठ
१	१२	पदादौ	पादादौ
"	१५	अर्थ को छोड़े	अर्थ को न छोड़े
"	१८	विभक्ति:	विभक्ती:
२	३	स्फटं	स्फुटं
१०	१८	तुल्याथ०	तुल्यार्थ०
११	२७	विशेष्य	विशेष्य
"	२८	क्विक्रतुः	कविक्रतुः
१५	१८	गौणरूप	गौणरूप से
"	२१	सब के व्याप्त	व्याप्त सब
२१	१७-१८	इदमो......होता है।	इदमोऽन्वादेशे० (अ० २।४।३२) से अन्वादेश में अश् आदेश अनुदात्त तथा अनुदात्तौ० (अ० ३।१।४) से विभक्ति भी अनुदात्त होती है। प्रथम प्रयुक्त 'अस्य' पद में ऊदिदं० (अ० ६।१।१६५) से विभक्ति उदात्त होती है।
२२	३	दिवश्चिद य	दिवश्चिदस्य
२५	२६	लुङ् लङ् लृट:	लुङ् लङ् लिट:
३१	५	स इद	स इद्
३४	२	धृळ्हां	दृळ्हां
३६	८	शौन: शेषं	शौन: शेपं
४१	२२	विद्युमेंमे	विद्युमें"
४३	१४	लिङ	लोट्
४४	१०	सयुच्चये	समुच्चये
४५	१३	होतषदने	होतृषदने
४७	२१	वस्त्रा	वस्रा
४८	३	अघि	अधि
४६	१६	क्षिया	किया

पृष्ठ	पङ्क्ति	मुद्रित पाठ	शुद्ध पाठ
५०	२७	स्वरितत्रितः	स्वरितजितः
६०	८,२५	योना	येना
६७	८	नैनेष्वस्ति	नैतेष्वस्ति
७७	१६	प्रतिष्ठति	तिष्ठति
८२	७	उषसर्ग०	उपसर्ग०
८६	५	जातप्रत्र०	जातप्रज्ञ०
६१	२३	एकार्थ्याद०	ऐकार्थ्याद०
६२	१६	द्युम्मेभिः, द्युम्मी	द्युम्नेभिः, द्युम्नी
,,	२१	सदाधान	समाधान
६४	२२	मधिकरणनां	मधिकरणानां
१०५	२६	क हार	का परिहार
१११	११	अन्नवति	अन्नवती
११५	२	मरुद्भिरग्न	मरुद्भिरग्न
,,	७	वृद्धा तस्मिन्	वृद्धास्तस्मिन्
११८	१७	भरत	भारत
१२०	८	ऋषि—ज्ञा	ऋषि—ज्ञ
१२४	११	बनाना	बताना
,,	२०	दर्शपूर्णमास इष्टियों	दर्श (अमावस्या) इष्टि
१३३	१	जावेदसे	जातवेदसे
१३४	२०	अमिन	अमित
१३८	२६	अभरेको	अभूरेको
१४६	७	कोऽय	कोऽयं
,,	१६,२०	सामिघेनि	सामिधेनी
१५१	३	मण्लानामृचः	मण्डलानामृचः
१६८	५	तत्रन्यै०	तत्रान्यै०
१७२	५	वस्तप्री०	वत्सप्री०
,,	८	पाठभेश्च	पाठभेदश्च
,,	१०	…भूयस्तप्त्वा	—भूयस्तपस्तप्त्वा
१७४	४	इत्यार्षम	इत्यार्षम्
१७६	२५	ऋ० ८।४३,४३	ऋ० ८।४३,४४
१८०	६	…गनुष्टुप	…गनुष्टुप्
१८४	१८	तमद्याश्वन्	तमद्याश्वम्

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	मुद्रित पाठ	शुद्ध पाठ
२०१	८	पादक्लृतिः	पादक्लृप्तिः
२११	६	पाठ	पाद
२१७	२	विराट	विराट्
२२१	१६	छहा	कहा
,,	२२	ऐसा पर	ऐसा होने पर
२२४	७	त्रिण्टुभः	त्रिष्टुभः
२२८	२०	(ऋ० ५।१।	(अ० ५।१।
,,	२६	सप्ताशर	सप्ताक्षर
२२९	११	(७+७+८+८+३०)	(७+७+८+८=३०)
,,	१२	सख्यम	सख्यम्
२३५	१७	...चिन्ने...म हुना	...चिन्मे · मे हुना
२३६	२	षट्पादायाश्च	पट्पदायाश्च
२३७	३	ऋचस्यां	ऋच्चयस्यां
२४१	१०	सप्तक	सप्तम
२४४	२४	(४)	(२)
२५०	७	अर्हंतग्ने	अर्हन्तग्ने
२५४	१	शासद्वह्निर्	शासद्वह्निर्
२५६	२०	निरूप्यते	निरुप्यते
२५९	१४	काणण	कारण
,,	१७	प्रथमागाभी	प्रथमागामी
२६०	२३	प्रदिशित	प्रर्दाशत
२६१	१६	कार्यकलाओं	कार्यकलापों
२६५	९,१३	क० श०	का० श०
२६७	२०	भगवथ्गीता	भगवद्गीता
,,	२५	...नेन देवा	...नेन ते देवा
२७०	१	वे	वै
,,	२६	महिमानाम्	महिमानम्
,,	२७	कूक्षये	कुक्षये
२७२	६	शाटचायनकम	शाटचायनकम्
२७५	२१	किन्हीं यदि विशिष्ठ	किन्हीं विशिष्ठ
२७७	२६	जिघांसुर्देत्य०	जिघांसुर्दैत्य०

पृष्ठ	पङ्क्ति	मुद्रित पाठ	शुद्ध पाठ
२७७	२८	इच्छूक	इच्छुक
२७८	२७	ब्रह्म	ब्रह्म
२७९	२७	उपनिषिद्	उपनिषद्
,,	२८	श्रण	श्रणु
२८२	१७	हृविर्निरूप्यते	हविर्निरूप्यते
२८४	२२,२९	देवी	देवीय
२८९	९	'स्पष्ट नहीं होता।' से आगे बढ़ायें — गौतम-सम्मत चार अर्थवाद हैं—स्तुतिर्निन्दा परकृतिपुराकल्प इत्यर्थवादः (न्या० २।१।६४)। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में भी इन्हीं को अर्थवाद कहा है—ब्राह्मणशेषोऽर्थवादो निन्दा प्रशंसा परकृतिः पुराकल्पश्च (आप० श्रौ० २४।१।३३)।	
२९१	२	ब्राह्मणार्थो	ब्राह्मणार्थो
२९५	४	उसने···	उसने अथवा शौनक आदि ने ··
२९६	७	एस	एक
२९७	२१	करना	करता
३०४	१४	कुद्ध	क्रुद्ध
३०६	४	मद्यवन्	मघवन्
३०७	४	,,	,,
३०९	१४	एवैषार्थाः	एवैषामर्थाः
३१०	३	महत्वल्स्य	महत्वल्पस्य
३१८	१७	मधुवद्या	मधुविद्या
३१९	७	स्तबानि	स्तवानि
३२०	१६	गृह	गुह्य
३२२	११	ठूठ	ठूंठ
३२४	३	ज्ञानिष्ठेषु	ज्ञाननिष्ठेषु
		काव्यानि	कव्यानि
३२५	१८	ब्याख्या	व्याख्या
३२७	२८	वेदानामपवेदा०	वेदानामुपवेदा०

—:o:—

रामलाल कपूर ट्रस्ट के प्रकाशन

वेद-कर्मकाण्ड

१. ऋग्वेदभाष्य—(संस्कृत हिन्दी व ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित) प्रतिभाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूचियां । प्रथम भाग ३०-००, द्वितीयभाग २५-००, तृतीयभाग ३०-०० ।

२. यजुर्वेदभाष्य-विवरण—ऋषि दयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासुकृत विवरण । (प्रथम भाग अप्राप्य है) द्वितीय भाग मूल्य २०-००

३. अथर्ववेदभाष्य—श्री पं० 'विश्वनाथ वेदोपाध्यायकृत । बीसवां काण्ड—अजिल्द १२-००, सजिल्द १५-०० । १८-१९वां काण्ड—१६-०० ।

४. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—ऋषि दयानन्द कृत, विविध टिप्पणियों सहित (समाप्त)

५. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका परिशिष्ट—भूमिका पर किये गये आक्षेपों के उत्तर मूल्य १-५०

६. माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ—विविधपाठों सहित शुद्ध संस्करण । २०-००

७. वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा—युधिष्ठिर मीमांसक लिखित वेदविषयक १७ विशिष्ट निबन्धों का अपूर्व संग्रह । विशिष्ट संस्करण मूल्य ३०-०० ।

८. ऋग्वेदानुक्रमणी—वेङ्कटमाधवकृत । इस ग्रन्थ में स्वर ऋषि देवता छन्द मन्त्रावृत्ति आदि महत्त्वपूर्ण ८ विषयों पर गम्भीर विचार किया है । व्याख्याकार—श्री पं० विजयपाल जी । मूल्य २०-००; राज सं० ३०-०० ।

९. वैदिक-पीयूष-धारा—श्री देवेन्द्र कपूर । मूल्य १०-००

१०. यजुर्वेद-स्वाध्याय तथा पशुयज्ञसमीक्षा –पं०विश्वनाथ वेदोपाध्याय । १५-००

११. ऋग्वेद की ऋक्संख्या—युधिष्ठिर मीमांसक १-००

१२. वेदसंज्ञा-मीमांसा— " " ०-७५

१३. वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय; वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा—(संस्कृत-हिन्दी) ४-००

१४. देवापि और शन्तनु के आख्यान का वास्तविक स्वरूप— लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु । मूल्य ०-७५

१५. वेद और निरुक्त—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु । मूल्य ०-७५

१६. निरुक्तकार और वेद में इतिहास— " मूल्य ०-७५

१७. त्वाष्ट्री सरण्यू की वैदिक कथा का वास्तविक स्वरूप— लेखक— श्री पं० धर्मदेव जी निरुक्ताचार्य । मूल्य ०-७५

१८. वेद में आर्य-दास-युद्ध-सम्बन्धी पाश्चात्य मत का खण्डन लेखक—श्री वैद्य रामगोपाल जी शास्त्री । मूल्य ०-७५

१९. संस्कारविधि —सं० युधिष्ठिर मीमांसक, शताब्दी-संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। मूल्य लागतमात्र — १०.००, राज-संस्करण १२-००। सस्ता संस्करण मू० ४-००, सजिल्द ५-००।

२०. संस्कार-विधि-मण्डनम्—संस्कारविधि की व्याख्या। लेखक—वैद्य रामगोपाल जी शास्त्री। मूल्य ३-००

२१. वैदिक नित्यकर्म-विधि —सन्ध्यादि पांचों महायज्ञों तथा बृहद् हवन के मन्त्रों के पदार्थ तथा भावार्थ व्याख्या सहित। युधिष्ठिर मीमांसक। यन्त्रस्थ

२२. वैदिक नित्यकर्म-विधि— (मूलमात्र) सन्ध्या तथा स्वस्तिवाचनादि बृहद् हवन के मन्त्रों सहित। ०-५०

२३. पञ्चमहायज्ञविधि— ऋषि दयानन्द सरस्वती (संस्कृत-हिन्दी) १-००

२४. पञ्चमहायज्ञ-प्रदीप—श्री पं० मदनमोहन विद्यासागर ३-००

२५. हवनमन्त्र—स्वस्तिवाचनादि सहित मूल्य ०-३०

२६. सन्ध्योपासनविधि—भाषार्थ सहित। मूल्य ०-२५

२७. सन्ध्योपासन-विधि—भाषार्थ तथा दैनिक यज्ञ सहित। मूल्य ०-४०

शिक्षा-निरुक्त-व्याकरण

२८. वर्णोच्चारण शिक्षा—ऋषि दयानन्द कृत हिन्दी व्याख्या। ०-५०

२९. शिक्षासूत्राणि—आपिशलि-पाणिनि-चन्द्रगोमी प्रोक्त। १-५०

३०. शिक्षाशास्त्रम् — (संस्कृत) जगदीशाचार्य। ५-००

३१. अरबी-शिक्षाशास्त्रम्— ,, ५-००

३२. निरुक्त-समुच्चयः—आचार्य वररुचिकृत। सम्पा० यु० मी०। ६-००

३३ अष्टाध्यायी (मूल) शुद्ध संस्करण। मूल्य २-००

३४. धातुपाठ—धात्वादिसूचीसहित, सुन्दर शुद्ध संस्करण। मूल्य २-००

३५. संस्कृत-धातुकोष—यु० मी०। नया संस्करण यन्त्रस्थ

३६. वामनीयं लिङ्गानुशासनम्—स्वोपज्ञ-वृत्ति सहितम्। मूल्य ६-००

३७. अष्टाध्यायी-परिशिष्ट—पाणिनीय सूत्रपाठ के विविध पाठभेद तथा सूत्र-सूची सहित। २-५०

३८. अष्टाध्यायी-भाष्य—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासुकृत। प्रथम भाग २४-००, द्वितीय भाग १६-००, तृतीय भाग २०-००। पूरा सैट ६०-००।

३९. संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि—लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। प्रथम भाग ७-००, द्वितीय भाग ८-००

४०. महाभाष्य—हिन्दी व्याख्या। लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग छप रहा है। द्वितीय भाग २५-००, तृतीय भाग २५-००।

४१. उणादिकोष—ऋ० द० स० कृत व्याख्या, तथा पं० यु० मी० कृत टिप्पणियों, एवं ११ सूचियों सहित। अजिल्द ७-००, सजिल्द १०-००।

४२. दैवम्—पुरुषकारवार्तिकोपेतम्—लीलाशुकमुनि कृत । सं० यु० मीं० ८-००

४३. लिट् और लुङ् लकार की रूप-बोधक सरलविधि २-००

४४. भागवृत्तिसंकलनम्—अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्ति । संकलयिता यु० मी० ३-००

४५. काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्—संस्कृत रूपान्तर । युधिष्ठिर मीमांसक ८-००

४६. काशकृत्स्न-व्याकरणम्—संपादक—यु० मी० ३-००

४७. शब्दरूपावली—विना रटे सरलता से शब्दरूपों का ज्ञान करानेवाली अद्भुत पुस्तक । लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक मूल्य २-००

अध्यात्म

४८. ध्यानयोग-प्रकाश—स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिष्य स्वामी लक्ष्मणानन्द कृत । मूल्य ८-००, सजिल्द ९-००

४९. अनासक्तियोग—पं० जगन्नाथ पथिक १२-००

५०. आर्याभिविनय (हिन्दी)—स्वामी दयानन्द । दोरङ्गी अप्राप्य

५१. Aryabhivinaya—English Translation and notes (स्वामी भूमानन्द) दोरङ्गी छपाई, अजिल्द ३-००, सजिल्द ४-००

५२. वैदिक ईश्वरोपासना । मूल्य ०-८०

५३. विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम् (सत्यभाष्य-सहितम्) पं०सत्यदेव वासिष्ठ कृत आध्यात्मिक वैदिक भाष्य (४ भाग) । मूल्य ५०-००

५४. श्रीमद् भगवद्-गीता-भाष्यम्—श्री पं० तुलसीराम स्वामी कृत । गीता की सरल सुबोध व्याख्या । ५-००

५५. हंसगीता—(महाभारत का एक आध्यात्मिक प्रसंग) ०-५०

५६. अगम्य पन्थ के यात्री को आत्मदर्शन—चंचल बहिन । २-००

इतिहास-नीतिशास्त्र

५७ वाल्मीकिरामायण -श्री पं० अखिलानन्द जी कृत हिन्दी अनुवाद सहित । अरण्य-किष्किन्धाकाण्ड ६-५०; युद्धकाण्ड १०-५०

५८. विदुरनीति—पदार्थ और विस्तृत व्याख्या सहित । मूल्य ५-५०

५९. सत्याग्रह-नीति-काव्य—आ० स० सत्याग्रह १९३९ में हैदराबाद जेल में पं० सत्यदेव वासिष्ठ द्वारा विरचित । मूल्य ५-००

६०. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक कृत नया संस्करण (सन् १९७३) तीन भाग । पूरा सैट ६०-००

६१. संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि—लेखक—डा० कपिलदेव शास्त्री एम० ए० । सजिल्द १०-००

६२. विरजानन्द-चरित —ले०—भीमसेन शास्त्री एम०ए०। नया परिवर्धित शुद्ध संस्करण । ३-००

६३. ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित—सम्पादक पं० भगवद्दत्त १-००

६४. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत-साहित्य को देन—लेखक—डा० भवानीलाल भारतीय एम० ए०। मूल्य १०-००

६५. आर्यसमाज के वेदसेवक विद्वान्—डा० भवानीलाल भारतीय (समाप्त)

दर्शन-आयुर्वेद

६६. मीमांसा-शाबर-भाष्य—आर्षमतविमर्शिनी हिन्दी-व्याख्या सहित। व्याख्याकार—युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग मूल्य ३०-००, राजसंस्करण ४०-०० अप्राप्य; द्वितीय भाग २४-००, राजसंस्करण ३२-००। तृतीय भाग यन्त्रस्थ

६७. परमाणु-दर्शन—(संस्कृत) जगदीशाचार्य अजिल्द ५-००

६८. नाडीतत्त्वदर्शनम्—श्री पं०सत्यदेव जी वासिष्ठ। मूल्य १०-००

६९. षट्कर्मशास्त्रम्—(संस्कृत) जगदीशाचार्य अजिल्द ५-००

प्रकीर्ण

७०. सत्यार्थप्रकाश (आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण)—राज-संस्करण, १३ परिशिष्ट ३५०० टिप्पणियां, तथा सन् १८७५ संस्करण के विशिष्ट उद्धरणों सहित। मूल्य ३०-००, सस्ता संस्करण २४-००, लघु आकार में ११ परिशिष्टों सहित १२-००।

७१. दयानन्दीय लघुग्रन्थ-संग्रह—ऋषि दयानन्द कृत १४ ग्रन्थ, सटिप्पण, अनेक परिशिष्टों के सहित। लागतमात्र २०-००।

७२. व्यवहारभानु—ऋषि दयानन्द कृत। मूल्य १-००

७३. आर्योद्देश्यरत्नमाला—ऋषि दयानन्द कृत ०-२५

७४. भागवत-खण्डनम्—ऋषि दयानन्द कृत। मूल्य ०-५०

७५. पूना-प्रवचन—ऋषि दयानन्द के १५ व्याख्यान (समाप्त)

७६. शास्त्रार्थ-संग्रह—ऋषि दयानन्द के लिखित शास्त्रार्थों का संग्रह (अप्राप्य)

७७. अष्टोत्तरशतनाममालिका—सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास की सुन्दर प्रामाणिक विस्तृत व्याख्या। पं० विद्यासागर शास्त्री मूल्य ५-००

७८. प्यारा ऋषि—श्री आनन्द स्वामी। ऋषि के जीवन की प्रमुख घटनाएं १-००

७९. आर्य-मन्तव्य-प्रकाश—म०म०पं० आर्यमुनि। प्रथम भाग। मूल्य ४-००, द्वितीय भाग ५-००।

८०. अमीर-सुधा—भक्त अमीचन्द कृत। मूल्य ०-७५

प्राप्ति-स्थान

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, जिला-सोनीपत (हरयाणा)

पिन० १३१०२१